यह भी झूठ है

(उपन्यास)

यह भी झूट है

दिनेश नंदिनी डालमिया

राधाकृष्ण

ISBN 81-7119-165-7

यह भी झूठ है (उपन्यास)

संस्करण : 1933
मूल्य : 200.00 रुपए

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

आवरण : बी. सरकार
पारदर्शी : जगदीश डे

लेज़र कम्पोज़िंग
कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032

मुद्रक
हिन्दुस्तान ऑफसेट प्रिन्टर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

YEH BHI JHOOTH HAI (Novel) by Dinesh Nandini Dalmiya

क्रम

भुवन मोहिनी

बेटी घर आ गई है।

बीस वर्ष के बाद मेरा भरा हुआ मन यादो की बखिया उधेड़ने मे व्यस्त हो गया है। एक सूत्र हाथ मे आता है तो दूसरा छूट जाता है। मैं परेशान-हलकान मुह सिए रह जाती हू। यह कैसा तूफानी अध्याय मेरी जिदगी से जुड गया है जिसकी कभी ख्वाब मे भी कल्पना नही की थी। अब, इतना कुछ खोने-पाने के बाद भी मुझे सामुद्रिक शाति सीखनी पडेगी, कब सोचा था। मेरे सामने प्रश्न है कि मैं क्या करू ? खाया हुआ विश्वास पुन प्राप्त करू ओर नदी के किनारो की तरह खुली, खाली, विल्पहीन स्थिति मे बैठकर नियति के अधेरो से झडने वाले इसी मिजाज के पारितोषिको की प्रतीक्षा करू या अपना घर उसी तरह छोड कर चली जाऊ जैसे शख का कीडा अपनी खोल छोड कर चला जाता है।

किस तरह आजकल रिश्ते टूट रहे हैं। वैवाहिक बधन भी एक झटके मे खत्म हो रहा है और अपयश का भरा पूरा घडा औरत पर फोड दिया जाता है।

मेरे हाथ मे आज एक शख आ गया है। किसी जमाने मे यह शख मेरे भाई मद्रास के समुद्र के किनारे से उठा लाए थे किसी के उजडे हुए घर की तरह।

मुझे भी अजीबोगरीब शौक थे, तरह-तरह के कीडे-मकोड़ो के उजडे आवास इकट्ठे करने के। मुझे लगता, मेरे ही घर का छोटा रूप है यह—मेरे ही घर की तरह अदर से टीक-ठाक बना हुआ—शयन कक्ष, सामने खुलने वाले बरामदे, बच्चो के खेलने की जगह अतर्दृष्टि पैनी करके देखा जाय तो सब कुछ जैसे का तेसा मेरे घर की तरह एक घर और

कीडा हो या घोघा, सब कुछ छोड कर वीतरागी साधु की तरह बाहर निकल जाता है। शायद यह भी मेरी तरह जीवन का सघर्ष झेल चुका होता है। प्रौढावस्था तक पहुचते-पहुचते जीवन की व्यर्थता उसकी समझ मे भी आने लगती है, और इस स्थिति मे पहुच कर वैरागी बनने के सिवाय प्राणिमात्र के सामने विकल्प क्या बचता है ?

यह शख जो मेरे हाथ मे है, इसका बाशिदा भी जीवन की व्यर्थता समझ कर मेरी ही तरह वैरागी बन कर निकल चुका होगा।

मेरा मन भी प्रारम्भ से किसी अधजले कपडे की तरह कच्चा और अस्वस्थ रहता चला आया है। गृहस्थी थी, बच्चे भी थे, मैंने अपना दायित्व निभाया जैसे-तैसे,

उन्हें पाल पोसकर बड़ा किया, पढ़ाया-लिखाया, संस्कारों के हिमालय उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया, सनातन जीवन-मूल्यों में बंधकर उन्हें निभाने के उपदेश दिए। अब मुझे क्या पता था कि जकड़न इतनी बढ़ जाएगी कि वे बौने हो जाएंगे...उनका स्वाभाविक विकास हिमाच्छादित पहाड़ों तले दब कर रह जाएगा।

आज उम्र की लम्बी यात्रा पार कर जब अपने बीते हुए वर्षों के शिखर पर चढ़ अतीत को मौत की घाटियों में पूर्णतः समाहित हुआ देखती हूं तो ठहर जाने का मन करता है। काल और परिस्थितियों के प्रवाहों ने किस तरह धोकर मुझे एक महाद्वीप के आकार में बदल दिया है।

प्रौढ़ावस्था तक मैंने अपनी अवस्थिति...अपने रिश्ते कायम किए, उन्हें सहेज-संवार कर रखने के लिए कितनी उठा-पटक की साक्षी बनी; लेकिन सहेजा, संवारा, संचय किया...वैभव जो था, यूं ही छोड़ा तो नहीं जाता...लेकिन अब ?

सब कुछ सांप के केंचुल की तरह छोड़ देना चाहती हूं। मुझे अकेलापन चाहिए...अनंत एकांत। सारे सम्पर्क सूत्रों से कटकर मैं अपने भीतर रहने वाली आत्मा से जुड़ना चाहती हूं। मेरी शांत और स्थिर दृष्टि मुझे ही जलाकर राख कर रही है पर ऊपर से मैंने अपने ऊपर शांति की चादर ओढ़ रखी है, स्वर को धैर्य से साध कर रखती हूं। वह जो मेरे सामने खड़ी है, कौन है ? मुझे लगता है जैसे मै दर्पण के सामने खड़ी हूं।

बड़े बेमौके बेटी घर आई है, जब मैं अपना बिस्तर गोल करने का मन बना चुकी हूं। किसी अनजाने अपराध का बोध हो रहा है कि इस बेटी ने क्यों जकड़ लिया मुझे ? शायद अवांछित कोई पाप कर बैठी हूं। अगर यह सच है तो क्षमा किससे मांगूं ? किस छाया के पैर पकड़ूं ? जलती हुई एक मशाल की तरह नियति जीवन के किसी अदृश्य कोने में छिपी मुझसे खिलवाड़ कर रही है, हो सकता है यह कुदरत का कोई मजाक भी हो...

बेटी की कलाई पकड़कर मैंने उसे पास खींचा, हृदय से लगाने के लिए या शायद उसकी भर्त्सना करने के लिए, लेकिन भर्त्सना के लिए हृदय से किसी को कौन लगाता है ? मैंने उसे खींचा नहीं शायद खींचने की बात सोची। सोचने और करने में तो फर्क होता है न... मेरे मन को ही पाप का विषधर डस जाता है। मैं खुल कर अपनी संतान को भला-बुरा भी नहीं कह सकती। मेरी हिम्मत कहीं गुम हो जाती है। उसकी स्मृति मुझे लम्हे भर के लिए बेहोश कर जाती है।

मेरा दिल बहुत छोटा है। मैंने अपने दोषों को कब स्वीकार किया, पर इनकार भी तो नहीं किया है। कितने कलंकों को ढोती आई है मेरी जिंदगी। और अब, उम्र के इस मोड़ पर एक इतना बड़ा कलंक...

पति से छूट, कथित पत्नीत्व के भार से बेटी का सिर झुका हुआ है। उसकी आंखें पैरों के नीचे की घाटी भी देख पा रही हैं या नहीं, मैं नहीं कह सकती। उसके

दीर्घ निःश्वास हवा के प्रतिकूल झोंकों की तरह उसे हिला रहे हैं...वह कांप रही है...

मैं समझ नहीं पा रही हूं उससे कैसे पेश आऊं...उसे झूठे आश्वासन देकर गले लगा लूं या झिड़क कर कह दूं–'वापस जाओ, कुलीन घर की लड़कियां ऐसा नहीं करतीं...' एक लम्बा-चौड़ा भापण दे दूं कि द्रौपदी को उसके पति जुए में हार गए, वह साधारण स्त्री नहीं, साक्षात् अग्निपुत्री थी लेकिन पतियों को छोड़ने का विचार भी उसके मन में नहीं आया। उसके मनोपवन में पलाश जलते रहे लेकिन उसके बर्दाश्त की सीमा देख...ज्ञान और प्रज्ञा के लावे में पके हुए, नारी जाति के सनातन प्रश्न धर्म को कसौटी पर रखने का दम भरने वाले, अपने-अपने क्षेत्रों में धुरंधर कहलाए जाने वाले गुरुजन भी जब सिर झुका कर मौन रह गए तब द्रौपदी ने सारे अभियोग, कलंक, लांछन अपने आंचल में समेट लिए। उसके बोल नहीं फूटे और वह पतियों के साथ वन चली गई...

वही परम्परा तो आज की औरत भी भुगत रही है, अपमान, लज्जा और पुरुष की कामुकता–जिसका जहर द्रौपदी ने पिया था, आज भी औरत पी रही है...

अपमानित, त्रस्त द्रौपदी को देखकर कुरुवंश की किस महारानी की आंखें अश्रुपूरित नही हुई, किसी महापुरुष ने लज्जा-सकोच से गर्दन नही झुकाई लेकिन तब की प्रचलित राजकीय-सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ एक भी शब्द उच्चारित करने का साहस कौन जुटा पाया ? पापपूर्ण कृत्य अपनी पथराई नज़रों से देखते रहे...अंधेरे में स्थिर हो गई दरिया की तरह उनकी सांसें रुक गईं...कंधों पर पड़े हुए रेशमी दुपट्टे, रत्न जटित, चमचमाते हुए मुकुट धारण किए, झिलमिलाते अंगरखो की दमक समेटे, जरीदार धोतियों के किनारे दमकाते, पट्टेदार कोरी केशराशि वाले...कोई तो नहीं बोला...

सुवर्ण थालो में रखी गिलौरियां अपनी खुशबू विखेरती हुई एक होंठ से दूसरे होंठ की यात्रा करती रही। कण्ठे, बाजूबद, चौड़ी कलाइयों पर बंधे छन्द-बन्द.... कही से तो कोई खनक नहीं हुई... कौरव बंधुओं की हंसी के ठहाके कानों से टकराए लेकिन जवान तालु से अलग नहीं हुई... द्रौपदी के प्रश्नों की थरथराहट से राजमहल कांप उठा लेकिन वहां बैठे सभी सभासद गूंगे रहे... हवा में लहराते-गमकते द्रौपदी के घने-लम्बे केश... सभी की दृष्टि उन्हीं में उलझ कर तो शेष हो गए थे... और कितनी वड़ी कीमत अदा की इतिहास ने...वक्त के पांव अपनों के लहू में कितनी गहराई तक डूबे...

सभा, शहर, देश मंत्रशापित, खामोश थे, कहीं से तो कोई पत्ता नहीं खड़का...आते-जाते समय वे आपस में टकराए... मन ही मन शायद उन्होंने क्षमा याचना भी की उस अभिशप्त प्राणि से लकिन सत्ता का तिलिस्म तो किसी के सामने नहीं टूट पाया...युद्ध में व्यूह रचना हुई, लहू के महासमुद्र धरती पर अवतरित हुए,

लेकिन पुरुष ने अपनी वृत्ति कहां छोड़ी... वह तो पाषाण ही बना रहा। उसने अपनी किलेबंदी कब तोड़ी... वह था अतीत और आज का वर्तमान... पूरे देश में गांधी की आवाज गूंजी... नारी-शोषण को जघन्य मान कर उसे ऊपर उठाने की बात सोची गई, एक तूफान-सा आया, जागृति की आंधी वर्तमान को बेसाख्ता झकझोरने लगी।

हुकूमतें बदल गईं लेकिन नारी की आंतरिक स्थितियों में क्या फर्क आया। उसकी समस्याएं तो मुंह बाए ज्यों की त्यों खड़ी रह गईं। औरत की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह ऐसे बुझ गई जैसे स्नेह बिना चिराग..

इतनी सदियों से औरत क्यों सहती आ रही है मर्दों के गरूर का बोझ ? द्रौपदी ने ही उस गरूर को क्यों नहीं तोड़ा ? अपनी थरथराती आवाज में करुणा की भीख मांगती वह क्यों खड़ी रही... सारी सभा में उस समय सन्नाटा रहा होगा, एक छोटा-मोटा विस्फोट भी भयावह बन सकता था...

राजनीति का एतबार घट गया था, धर्म की वास्तविकता खर्राटे लेने चली गई थी, आसनों पर बैठे राजनीति के खिलाड़ी भुनभुनाते हुए, पहलू बदल रहे थे...जब द्रौपदी के रूप में स्त्री शक्ति हर तरफ से निराश होकर प्रभु को पुकारने लगी थी...

बेहयाई के ऐसे कई आलम मैंने भी इस युग में देखे हैं। जलियांवाला बाग का हादसा तो इतिहास में एक जलजला था, आया और चला गया। ऐसे जलजले तो अब हर घर में आने लगे है... आस-पड़ोस को जमीन खून में नहाती है, पति की चिता पर जीवित युवा पत्नियां झोंक दी जाती हैं... राजा राममोहन राय और अन्य सुधारवादी नेता किसलिए अपनी जिंदगियां खपा गए...फिर तो वही सब होने लगा है जिनके लिए इतने-इतने बड़े आंदोलन खड़े हुए...दहेज न लेने की सौगंध खाई जाती है और कामुकता की शिकार लाशें दहेज की बलिवेदी पर तड़प-तड़प कर ठण्डी होती हैं...

मेरी बेटी पर कुछ इलजाम लगाए गए होंगे... मुझ पर भी तो क़यामत बरपा की गई थी... अब भी कमी किधर से आई है... लेकिन तब मुझमें घर छोड़ने की ताकत नहीं थी, अब भी छोड़ पाती हूं या नहीं, यह भी तो देखना है...मैंने जाने का मन अपनी तरफ से तो बना ही लिया था। पहले नहीं निकल सकी क्योंकि मुझ पर निगरानियां बहुत थीं...

कोई न कोई बना ही रहता था आगे-पीछे, मुझ पर नजर रखने के लिए...मेरे विचारों पर धावा बोल कर मुझे दबोच लेने के लिए मेरी बातें सुनी जाती थीं.. और तो और बेमालूम मेरी तलाशियां ले ली जाती थीं... यह सब करने वाले वे लोग थे और लज्जा से नतमस्तक मैं खड़ी रहती थी गोया सारे अपराध मैंने ही किए हों, सबसे बड़ी सजा मुझे ही मिलनी चाहिए...

उन दिनों आलम ही कुछ ऐसा था। सारे झगड़े की जड़ समझ कर अगर मुझे

कोई उखाड़ फेंकता तो शायद मैं उखड़ भी गई होती...

बहरहाल, इस समय मैं अपनी पीड़ा उजागर नहीं करूंगी, न अपनी बात लेकर बैठूंगी...आज का संदर्भ है मेरी बेटी...

मेरी बेटी बीस साल की सजा भुगत के अब 'अपने घर' नहीं जाना चाहती...अपना घर...जिसके लिए अपने आपको न्योछावर करने का पाठ मुझको मेरी मां ने पढ़ाया, और वही मैंने अपनी बेटी को हस्तांतरित कर दिया... मैंने तो जैसे-तैसे निभा लिया...मेरी बेटी भी उसी तरह निभाए यह जरूरी तो नहीं।

कितनी ही स्त्रियों के लिए घर जेलखानों में बदल दिए गए हैं जहां हांफती-कांपती कुलवधुएं दम तोड़ रही हैं... उनमें भी साहस की कमी है मेरी तरह...जैसी मैं तब थी, धैर्य से काम लेना चाहती थी। देखते-देखते एकदम से जिंदगी इतनी आगे निकल गई थी कि 'चांस' लेने की संभावनाओं पर शक होने लगा था...

सड़कछाप जिंदगी के लिए मैं बनी नहीं थी... सस्ते तरीकों से जीना मुझको मेरी मां ने सिखाया नहीं था क्योंकि शायद वह संभ्रांत थीं... लोग यही कहते थे उनके जिक्र पर...दुःख में जन्मी, दुःख में आई और दुःखों को ही अपनी गुफा-सी कोख़ में समेट सांसों की संज्ञा से जुड़ गईं...

मुक्त हृदय से मौत का स्वागत और स्वीकार भी एक आध्यात्मिक जीवन की पृष्ठभूमि नहीं है क्या ?

मां के अनुभवों का अनुवाद कर मैं अपने वृद्ध मूल सोचों से, धारणाओं के एकांत निःश्वासों से, अनवरत चिंतन से, मनन और श्रवण में छूटे...अपने दुःखों से ही बात करना चाहती हूं, लेकिन अब...इससे पहले मैं भी तो सुख की खोज में इस गतिशील संसाराण्य में भटक गई थी... क्या मैं अब भी भटकी हुई हूं ? पता नहीं...

इतना जानती हूं कि मैं शोषित की गई हूं और मैंने भी दूसरों का शोषण किया है। जो कुछ आदमी इस जिंदगी से हासिल करता है वही तो दे सकता है।

अपनी कुंआरी हथेलियों पर रख कर कितने ही सूरज बुझा कर मैंने राख कर दिए थे लेकिन तब समय मेरे पक्ष में था। अब वह दीर्घवक्र गति से चलने लगा है...

बद्दुआ में निकलती मेरी कातर सांसें निर्विघ्नतापूर्वक मुझे ही कोस रही हैं...लगता है अपनी दुश्मन मैं स्वयं हो गई हूं, या अपने आप से ही वैर का कोई हिसाब चुकता करना चाहती हूं...

इतना ही नहीं, मैं यह भी जानती हूं कि मैं जो कुछ भी हूं वह देहसहित नश्वर है। लेकिन इस विचार को मेरा मन एकदम से झटक देता है, वह नश्वरता-अनश्वरता के पचड़े में नहीं पड़ना चाहता, और सच पूछिए तो मैं भी नहीं चाहती। यह पचड़ा

उस जिंदगी में हमारी दिशा का निर्धारण नहीं करता जो जिंदगी हमें यानी औरत को जीनी पड़ती है इस समाज में, इस व्यवस्था में...

समाज और व्यवस्था का डर मन में क्यों बैठ जाता है, नहीं जानती... नारी और उसके जीवन की विकृतियो को लेकर यह समाज और व्यवस्था दोनों क्यों चुप रह जाते हैं मुझे यह भी नहीं मालूम...

लेकिन यहां प्रश्न है नारी और उसके जीवन की विकृत वास्तविकताओं का, उसकी सृष्टि के घटना चक्रो का, उसके सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व का...आज की पांचालियों की विवशता, भीषण विपन्नता में जीने वाली प्रणम्य नारी को निर्वस्त्र गंदे नालो मे स्नान करा कर आज की अनैतिक सभ्यता सैकड़ों सवालों को जन्म दे रही है। उनके अभावों की आंखों से करुणा के निर्झर बहते है पर उन्हें शब्दबद्ध करने के लिए किसी वाल्मीकि का जन्म कभी नहीं होता...

मेरी बेटी लौट आई है क्योकि वह बेजुबान सास के दिए हुए आमों का स्वागत नहीं कर पाई, पर उसने उपेक्षा भी कहां की ? अच्छे आम उसका बेटा खाएगा, उन्हें सहेज कर रखने की हिदायतें उससे बर्दाश्त नही हुईं...

हर बार मां-बाप का गालियों से दागा जाना भी उसे रास नहीं आया...

'पूंजीपति बाप की बेटी है तो हुआ करे, इससे हमे क्या सरोकार... हमारा घर तो इसके आते ही ऐसा डूबा जैसे किसी जलाशय मे तैराकी न जानने वाला भारी शरीर... एक भी तो अच्छे लक्षण नहीं दिखाए इसने.. बल्कि जब से आई है हम तबाह ही हुए हैं... न कीरत न सीरत, भगवान ने कुछ भी तो नही दिया है इसे...

'दस नही, पचास फैक्ट्रियां होंगी इसके बाप की, करोड़ो का व्यापार होगा, पर बेटी को क्या दिया उस करोड़पति ने... और दामाद को ? कभी पांच गिन्नियो से टीका ही कर दिया होता...

दिन-रात जाप के मंत्र थे सास-नन्दों के... कभी जल्दी सो गई तो :

'अभी से सो गई महारानी, बाप के घर से बांदियां लाई है, वही करेगी इसका काम...' कभी आंख लग जाती, उठने में थोड़ी देर हो जाती तो, 'उठने की सुधि अब आई है रानी जी को...धूप तापने के लिए...हम तो बांदियां हैं इनकी, काम में लगी रहेंगी, इनका चाय-पानी, नाश्ता-खाना...इन्हें तो सब कुछ रेडिमेड चाहिए...'

दामाद संगदोष से घायल था लेकिन वह इलजाम भी मेरी बेटी पर ही रखा गया :

'एक पति को भी सहेज कर नहीं रख पाई... इसी के चलते वह संगदोष का शिकार हुआ... कुछ कहती हूं तो कहता है–विवाह तो तुमने किया था न... बहू के

रूप में तुम्हें बड़े घर की बेटी चाहिए थी, सो मिल गई...अब चाटो उसे...मेरा दिल तो तुमने तोड़ ही दिया न...जिस लड़की को मैं ब्याहना चाहता था, उसका दोष यही था न कि वह बड़े घर की नहीं थी...उससे ब्याह किया होता तो कम से कम मैं तो खुश होता और कौन जाने तुम्हें भी खुशी मिल ही जाती... क्या अप्सरा का रूप पाया था उसने... कहां फंसा दिया ले जाकर...मेरी तो जिंदगी तबाह कर दी तुम लोगों ने...बड़े बाप की बेटी है, दिमाग देखो, गुमान भी कैसा... बेटा तो बरबाद हो गया हमारा...हमारी ही बात पर टिक कर ब्याह के लिए राजी हो गया, महारानी जी को ठीक से देखने भी नहीं गया...काश, चला ही गया होता, फिर तो यह शादी होने की संभावना भी नही थी...क्या पुष्प चुना हमने भी अपने मंदिर की अराधना के लिए...क्या मत मारी गई थी कि खानदानी लहू ढूढते फिरे..सर्वसाधारण का खून हमने नकार दिया, यह जानते हुए भी कि उसमे हमारे बच्चे की खुशियां थीं, उसके अरमान थे...

दामाद अपनी मा से आज भी कहता है : 'उजाला समझ कर इतने बरस पहले जिस लड़की को तुम घर लाई थी वह तुम्हारे घर का शाश्वत तिमिर बन कर रह गई है। इस दुर्भेद्य तद्रा को तोड़ने के उपाय ढूढो... मेरा हृदय तो विषाद से चूर-चूर हो ही गया है। मैं नही चाहता यह खानदान विषादों की पृष्ठभूमि बन जाय।..'

इतना ही नही, शर्मोहया के सारे बंधन तोड कर मेरा दामाद यह भी कहता है कि मेरी बेटी आकर जब कभी दरवाजा बंद करती है तो उसका हृदय डूब कर तड़फड़ाने लगता है कि जिसको उसने चाहा, वह तो बाहर ही छूट गई और अंदर आने का अधिकार मिला मेरी बेटी को...

इश्क-मोहब्बत किसे नहीं होती, जवानी में भौंरा बना मर्द कहां नहीं मंडराता, लेकिन इसका मतलब यह तो नही कि ब्याहता पत्नी लगातार दुत्कारी जाय, उसका अपमान हो, उसके किसी भी आचरण को सही मन से देखा ही न जाय...

अगर मेरे दामाद की प्रेमिका उसकी पत्नी बन कर घर में नहीं आई तो इसके लिए दोषी उसके माता-पिता थे, फिर सजा मेरी बेटी को क्यों मिली ? हमें नहीं मालूम था कि वहां प्यार-मोहब्बत का चक्कर है ! लेकिन उसके माता-पिता तो जानते थे। क्यों किया उन्होंने ऐसा... और मान लो कर भी दिया तो दोष मेरी बेटी का कहां से निकला...

यह सब सुन-जान कर मेरा मन विषाद से चूर-चूर हो जाता है। क्या लड़की की मां होना इतना बड़ा पाप है ? क्या विषादो की सारी क्षमताएं बेटी की मांओं पर ही थोप दिया जाता है !... और उससे भी बड़ा पाप है बेटी की जाति में पैदा होना जो मेरी बेटी या उस जैसी हजारों बेटियों ने किया... इन बेटियों को फिर क्या जहर देकर मार दिया जाय कि इन्हें जीने का कोई अधिकार नहीं... इन्हें जिदंगी हमने तो नहीं दी थी...जिस ईश्वर ने इन्हें दुनिया में भेजा है वह भी कुछ सोच-समझ

कर ही भेजता होगा, उसकी ओर से इनका कोई न कोई भविष्य तो निर्धारित होता होगा...

फिर इन्हें निराश्रय... इतना विवश क्यों समझा जाता है ?

बेटी सिसकियों के बीच कहती है :

'काल की वैतालिक बनी, विभिन्न मरे हुए स्वप्नों से गुजरती, किसी महाकाव्य के गहन बिम्बों को अपनी छाती पर व्यंग्यों की तरह और कितना उतारूं... मैं क्या करूं... मुझसे अब सहा नहीं जाता...'

दामाद कहता है :

'मैं हार्डी और कीट्स को समझ सकता हूं पर अर्द्धनारीश्वर बन कर जिंदगी को अंजाम देना मेरे वश में नहीं। वह संभव भी नहीं हो पाएगा...'

मैं सोचती हूं हजारों साल बीत गए सभ्यता की चादर ओढ़े, पर मनुष्य अपने पाशविक वृत्तियों से मुक्त कब हो पाएगा ?

मां से दामाद की खटकती रहती है... वह आए दिन अपनी मां से उलझ जाता है। कहता है :

'जो पत्नी बन कर गाय की तरह मेरे साथ आ गई उसे मैं पसंद नहीं करता पर सांत्वना के दो शब्द भी नहीं कह सकता... एक तो तुम्हारा भय, दूसरे यह कि मैं नहीं चाहता कि वह झूठ-मूठ भी यह समझ ले कि उसके लिए मेरे मन में सहानुभूति है, या मैं उसे प्यार कर सकता हूं... इसे जाने दो मां...'

'समाज शिखर की पगथलियों के नीचे नारी-शवों की भीड़ लगी हुई है। अरण्य में फेंके हुए पत्थरों की तरह मूक, चीत्कार करती हुई उसकी आत्मा समाज के चेतन हवनकुण्ड में अचेतन सौंदर्य की आहुति दे रही है...'

मां-बेटे का सम्भाषण सुन-सुन कर मेरी बेटी संबंधों के टूटन बटोरने की इतनी लम्बी कोशिश के बाद यह समझ पाई कि कुछ हो नहीं सकता, वह अपने प्रयासों में जितनी त्वरा लाएगी माता-पुत्र के बिगड़े हुए दिमाग और भी भ्रमित होते रहेंगे। लेकिन इस प्रक्रिया में हीनता की ऐसी ग्रंथियां उससे चिपकती चली गईं कि उनसे पार पाना संभव होगा या नहीं, मैं अनुमान भी नहीं लगा सकती। एक खास तरह की निष्क्रियता उस पर तारी रहने लगी थी।

और उसे देखकर मैं निष्क्रिय होने लगी हूं। आत्महीनता की कुछ ग्रंथियां मुझे भी अपने चारों ओर उभरती नजर आने लगती हैं।

मेरी बेटी, मेरे सामने खड़ी है। प्रकाश की चौंध अपने आंचल में छिपाकर उसने अपना सिर नीचा कर लिया है। सूखे-पपड़ाए हुए होंठों को जबरन मोड़ लिया है।

कठोर तनाव झेलता हुआ उसका चेहरा मुझे चौकोर दिखाई दे रहा है। उलझे

हुए बालों की लटें गालों पर बेतरतीब झूल आई हैं...

बरामदे में बाईं ओर के कमरे का दरवाजा किसी ने धड़ाम से बंद किया है...पूरे गलियारे में रोशनी का गुम्बद जैसे फूट कर बिखर गया... मेरी सांसें जैसे एकदम से रुक गईं...

वह मेरा बेटा था—बड़ा बेटा। पूरे डील-डौल वाला—ऊंचा, कद्दावर, गुस्से में आपा खो देने वाला और खाने-पीने का बेहद शौकीन...

शहर में ऐसी कोई दुकान नहीं जो उसे पता न हो, शहर में ऐसा कोई होटल नहीं, जहां उसने खाना न खाया हो...

उबलते हुए दूध के गिलास में रबड़ी की मोटी परत तलाशता हुआ रात के पिछले पहर तक भगवान जाने शहर की किन सड़कों-गलियों के चक्कर लगाया करता था...

अविश्वास से ओत-प्रोत... अविनम्रता की साक्षात मूर्ति... भटके हुए व्यक्तित्व की धुंधलाई हुई आकृति...

उस दिन उसके रोम-रोम से फूटने वाला क्रोध अजस्र स्रोतों में बह कर बिखरने लगा था, जैसे...

मेरा दिल एकबारगी जोर-जोर से धड़कने लगा।

इतनी रात गए दरवाजों का इतनी आवाज के साथ खुलना-बंद होना, खुलने-बंद होने के धमाके—भड़ाम-भुड्डम—का यह पहला अवसर नहीं था पर उस दिन मैं जाग रही थी...

कार्यवाहक अपने सेवाकार्य से निवृत्त होकर अपने-अपने स्थलों को जा चुके थे... चारों ओर लगभग सन्नाटा था और इस सन्नाटे में मैं ही अपनी सोच-यात्रा के बीच बैठी प्रभात की आशा में रात का अंधेरा निगल रही थी...

मन बना लिया था कि सुबह के साथ ही घर की केंचुल उतार कर उत्तरकाशी की ओर प्रस्थान कर लूंगी...अब निर्धारित मंसूबे मुर्झाए-से लगने लगे। कालग्रह का समय पूरा होने पर ही मुक्ति की कामना संभव थी, जेल के सींखचे पिघल सकते थे...

ऐसा असमंजस आ जाय तो कुशाग्रबुद्धि बहाने ढूंढ़ते हैं—कहते हैं, शरीर बंदी है तो क्या हुआ, आत्मा तो स्वतंत्र है... लेकिन ऐसे किसी बहाने पर मेरा मन नहीं टिकता।

साम्प्रदायिकता और पृथकता के किनारे छूटी, दोनों के झगड़ों से जूझती, मैंने एक जन्म में ही कितने जन्मों के नजारे देख लिए थे...कितनी ही संस्कृतियों के विचित्र समन्वय मुझे हर व्यक्ति के स्नेहसूत्र में बांध जाते हैं, किंतु मेरा व्यक्तित्व कभी भी सत्य और तथ्यस्पर्शी नहीं हो सका क्योंकि समय और परिस्थितियों के परिवेश ने मेरा आमूलचूल परिवर्तन एक बार नहीं, अनेक बार किया था...

विभिन्न धर्मों से मैंने घनिष्ठ संबंध स्थापित किए...जागतिक चिंतन धाराओं से निकल कर मैं पूंजीवाद के कटघरे में कैद हो गई... दैहिक आराम ने मेरे मन से समझौता कर लिया। मानसिक विद्रोहों को प्रश्रय देते हुए भी मैं कोई क्रांति खड़ी नहीं कर पाई।

दैहिक सुखों ने मन को समझाया और मन मान गया।

अभी मैं निर्वाक अपनी बेटी को समझा रही थी :

'घर वालों के जुल्मों की कहानी से जख़्मों को ताजा मत करो बेटी, अभी जाकर सो जाओ... जितना मिल जाय आराम कर लो। मैं तुम्हें एकदम से कोई सांत्वना नहीं दे सकती, न कोई आश्वासन ही दे सकती हूं। स्वतंत्र कहां हूं मैं ? इसलिए कहती हूं जितनी मयस्सर हो नींद पूरी कर लो... समय की कनात तान कर सो जाओ...

'अभी मुझे देखना है; तुम्हारा भाई कौन-सी द्राक्षा की गंधा पर बैठ कर किन दिशाओं को गूढ़ने की चेष्टा में संलग्न है।

'वैसे डर मुझे उससे उतना नहीं है जितना मुझे बहू की चिंता सालती रहती है...

'तुम्हें तो मालूम है जब वह विवाह कर पहली बार इस भुतही हवेली में आई तो अपने पति के व्यवहार पर हैरान रह गई थी। लेकिन तुम शायद यह नहीं जानती कि बात इतनी ही नहीं थी,..

'पता नहीं क्यों लग रहा है कि वे सब बातें मै तुम्हें बता दूं... सुहाग की वह पहली रात थी उसकी... रात के अंतिम प्रहर तक वह खिड़की के पर्दे उठा, विस्तृत...फैले हुए आसमान की तरफ देखती क्या गुनती रही थी; मैं इसका अंदाजा ही लगा सकती हूं... शायद तुम भी लगा लो...

'उसी ने मुझे बहुत बाद में बताया था... उस रात शांत स्थिर दिखाई पड़ने वाले बादल धुआं उगलते-से दिखाई पड़े थे उसे...

'कमरे में कुछ टूटी हुई बोतलों के टूकड़े, औंधाए हुए प्याले, पीली पड़ी हुई रोशनी में अपना सम्पूर्ण इतिहास कहते नज़र आए थे...

'उसके सीने में अचानक फोड़े-सा दर्द उठा... माथे पर पसीने की बूंदें चुहचुहाने लगीं। वह एकबारगी काप उठी और शायद अपनी चेतना खोने लगी... उसकी सुहागरात की छत पर उसी रात दरार पड़ी थी... मैं तो साक्षी हूं न...

'उस रात उसकी पीड़ा-जर्जरित कराह मैंने सुनी थी... अपने आप उठ कर कुर्सी पर बैठी हुई उसकी छाया भी मैंने अपनी काल्पनिक आंखों से देखा था...

'हे भगवान, क्या सोचा था, क्या हुआ...

'तुम्हारे भाई के सोच का तंत्र उसी क्षण एकदम बिगड़ गया था... कब आकर वह पलंग पर सो गया, कुछ बुदबुदाया भी... बहू ठीक से सुन पाई या नहीं लेकिन

मुझे पता है कि उसने क्या कहा होगा...वही पुरानी रटी-रटाई बात :

'मैंने अपनी मां के कहने से विवाह किया है... तुम्हारा रिश्ता उसी से जुड़ा है, तुम उसकी सेवा करो, उसे ओढ़ो-बिछाओ... मुझसे किसी बात की अपेक्षा मत रखना...उसकी आवाज भारी होगी, शायद भर्राई हुई, गोया जीभ और गले के बीच कोई लकीर खिंच गई हो...

'बहू तो लड़खड़ा कर उसी दिन चूर हो गई होती लेकिन संस्कारवान लड़की थी, संयम से काम लिया, प्राणायाम सरीखी लम्बी सांस खींच कर खामोश रह गई, अपने देवी-देवता उसने मन ही मन जरूर जगाए होंगे, प्रार्थना की होगी, गिड़गिड़ाई होगी कि अदृश्य उसे सब कुछ सहने की शक्ति दे, या जो कुछ उसने देखा-पाया, वह किसी पाप का फल था तो उसे भोगने की क्षमता दे... उसे मुक्ति का मार्ग सुझाए...

'ऐसे समय कोई भी व्यक्ति और कर ही क्या सकता है... उसके हाथ में और होता भी क्या है ?...

'जल्दी ही बहू ने अपनी बाह्य स्थितियों को संयमित और व्यवस्थित कर लिया...

'तुम कल्पना कर सकती तो किसी सद्यब्याहता की जो ऐसे में अपना संतुलन बनाए रखे ?... उस रात, जब उसका पति छाती में घुटने समेटे, गठरी-मुठरी बन कर निद्राग्रस्त हो गया... सांसों की आवाजाही में उसका पेट फूलने-पिचकने लगा हो वह एकटक उसका चेहरा निहारने लगी थी...

'मन में उठती अनेक बातों में एक प्रमुख बात और उसे परेशान करती रही कि शायद दिन भर की व्यस्तता, या आवाजाही से वह थक गया था इसलिए उसकी ओर ध्यान नहीं दे पाया और आने वाला कल सब कुछ ठीक कर देगा।

'लेकिन मन की गहराइयों में गूंजती एक आवाज मद्धम नहीं हुई कि क्या इसी सुहागरात के सपनों ने उसका मन इतना बेचैन कर रखा था ? क्या उसकी सहेलियों ने इसी भाग्य की सराहना में जमीन-आसमान के कुलावे मिला दिए थे।

'जब ससुराल का पहला संदेश उसके घर पहुंचा था... जब दर्पण जैसी स्वच्छ कमल-काट हीरे की अंगूठी मैंने उसकी अंगुली में पहनाई थी... शीशफूल, बाजूबंद, बायस्कोप चूड़े, टीका और बुंदे... सबसे सजी-संवरी वह झिलमिल साड़ी में ऐसी लग रही थी जैसे तारों भरी आसमानी साड़ी में, भाल पर चांद की बिंदी चिपकाए धरती पर रात उतर आई हो...

'सब कुछ बायस्कोप की छवि बन कर किस तरह आंखों के आगे से फिसलता चला गया था...और अब, इतना कुछ देखने-भोगने के बाद यह काली रात... क्या मेल था दोनों का...

'स्वयं से अपने आपको छिपाने का स्थान भी उस कमरे में कहां था... एक

से एक रिश्ते क्या उसने इसी रात के लिए ठुकरा दिए थे ?

'वह लड़का बहुत गोरा था, अंग्रेज की तरह दिखाई पड़ने वाला... पति रूप में उसकी कल्पना वह नहीं कर पाई थी।...

'उस लड़के की बिज्जू-सी आंखों में उत्तेजना का भाव उसके रूमानी मन को भाया नहीं था... उसमें आकर्षण नहीं था...

'कोई बेडोल था, किसी का पेट ढोल की तरह फूलने को आमादा था, कोई बहशी दिखाई पड़ा था तो किसी का क़द उससे ऊंचा नहीं था...

'मोती के आब जैसी उसकी निष्कलंक कीर्ति के सामने सभी तो दागदार दिखाई पड़े थे। उसका वरण करने के लिए उतावली कितनी बड़ी भीड़ इस एक रिश्ते के आगे छंट गई थी... बादलों के पंख पर अपने भविष्य की बेजोड़ कल्पना में उसके पैर धरती पर आए ही कब थे कि वह इस रिश्ते की गिरफ्त में आ गई, नसीब में कुछ तो था कि उसे अपना बनाने वालों की इतनी बड़ी भीड़ इस एक रिश्ते के बाद ऐसे तितर-बितर हुई जैसे सीता स्वयंवर में आए हुए राजा गण... वह कुछ क्या यही था ?

'इस रिश्ते में उसके पिता ने सिर्फ घर देखा था... इस खानदान में लड़की सुरक्षित रहेगी, उन्होंने कहा था और अपना अंतिम निर्णय दे दिया था। इसके बाद बाक़ी क्या बचता था ? उसके लिए भी क्या विकल्प रह गया था...

'लड़कियों की जिंदगी में यही सब तो होता है। न वे अपनी मर्जी से पैदा होती हैं न उन्हें अपनी मर्जी की जिंदगी मिल पाती है... इतना ही नहीं उनकी जिंदगी या भविष्य से सम्बधित अहम फैसले लेने का अधिकार भी उन्हें कहां दिया जाता है।

'कहने के लिए लोग कह देते हैं कि अपना अधिकार छीन कर लेना पड़ता है, आसानी से मिलता नहीं; न तो कोई किसी को लेने देता है... लेकिन ये बातें तो कहने की होती हैं और लड़कियों के मामले में तो कही भी नहीं जातीं। किसी लड़की ने भूले-भटके ऐसा कोई प्रयास कर भी दिया तो अकुलीनता के नाम पर उसकी ताजपोशी होती है...

'भाग्य की रेखाओं को कौन काट पाया है... सिर से पैर के अंगूठों तक फैला हुआ, कुंवारी नदी-सा मेरी बहू का निर्झर सौंदर्य और आंचल के छोर से बंधा दूल्हे के वेश में, आगे-आगे द्रुतगामी चाल से चलने वाला उसका पति यानी मेरा बेटा...यानी पुत्र और पति बन गया पुरुष... उस बेचारी बहू बन गई किसी की बेटी, किसी की बहन... और अलग से कहें तो एक स्त्री... क्या रास्ता बचा था उसके सामने...

'तेरे दादा मृत्युशैया पर जिंदगी और मौत के बीच जूझ रहे हैं बेटी, इस रिश्ते के लिए हां कह दे, ताकि उनकी चुकी हुई सांसें तेरी सगाई तक खिंच जायं...घर

की बुढ़ियों की ये आवाजें भी उसने सुनीं होंगी—घर अच्छा है... खानदानी लोग हैं...

'गलत तो नहीं था कुछ... उस समय कही गई बातें या धन्य होकर रिश्ते को कबूलने का क्षण... फिर उस रात सब कुछ उल्टा-पुल्टा क्यों होने लगा था...'

भटकने की मेरी आदत-सी पड़ गई है... पता नहीं किस चक्रव्यूह में मन फंस जाता है कि राह कहीं नजर ही नहीं आती... एक जगह से चलकर सालों साल भटकते रहने के बाद भी मुझे यही पता चला है कि मैं अपनी जगह से एक इंच हिली भी नहीं हूं...

समस्या अभी बेटी के सामने आकर खड़ी हुई है और मैं अपनी कमलनयनी बहू के दुख से पीडित होने लगी हूं। क्या करूं... उसके सामने मैं विवश हो जाती हूं। मेरी बहू, मुझे किसी जन्म की तपस्या का फल लगती है जिसे देख कर अपने मन की तमाम उद्विग्नताओं पर मैं अमृत के छींटे महसूस करती हूं, तिक्तता का जहा अंश भी नही बचता... ऐसी अपनी बहू को हजार मन से चाहने के बाद भी मैं जिंदगी की चन्द तसल्लियां उसे नही बख़्श पाई, क्या इसीलिए मेरी बेटी इस अपमान और अवमानना की जलती हुई भट्ठी मे झोंक दी गई है ?

लेकिन इसमे मेरा दोष क्या है ?

इससे पहले भी बेटी मेरे घर आई है, दामाद के साथ... कभी वैसे भी। लेकिन यह आना तो दूसरा ही था।

दोनों में कहा-सुनी होती, बहसें हो जातीं...

उनके वंद कमरे से, खाली दीवारों से टकराता हुआ शोर मुझ तक पहुंचता, मेरे कानों को टकोर कर श्रवणद्वार से अंतर्मन तक हलचल मचा देता... शरीर के जिस पोर तक उस शोर का अर्थ पहुचता, जहां, जिस जगह मेरी खाल उस अर्थ से छू जाती, मुझे मर्मान्तक पीड़ा होती... गोया मैं किसी विषवृक्ष के गहरे कोटर में, असमय फूट जाने वाले अण्डे से निकले चूज़े की स्थिति में आ गई हूं...

'अब मैं क्या करूं, कहां जाऊं, किससे कहूं... ?' मेरा मन मुझसे पूछता...

लेकिन मेरे पास कोई उत्तर कभी नहीं था...

दामाद की कठोर आवाज मेरे कानों में निरंतर गूंजती :

'तुम्हारे बाप ने मेरे लिए क्या किया कि मैं तुम्हारे लिए कुछ करूं...'

बेटी की भिनभिन करती आवाज भी कानों में पड़ती जिसमें वह अपने पिता के पक्ष में कुछ कहती...

कोई भी पिता अपनी पुत्री के लिए सामर्थ्य भर तो करता ही है...

लेकिन दामाद की उग्र होती आवाज कानों में सीसा घोलने लगती :

'कहा था, हर आड़े समय मेरे काम आएंगे, साथ देंगे... मेरी मदद करेंगे... लुभा दिया था कि मैनपावर है। पचासों आदमी हैं; एक आवाज में मुझ तक पहुंच जाएंगे... पहुंचे कभी, हमारी जरूरत पर काम आए... कोई मदद की ?...

'सोचा होगा फंसा लो सारे ताम-झाम दिखाकर... फिर कौन किसको पूछता है... क्या अपनी बेटी के लिए उन्हें कोई नौकर चाहिए था ? क्या मैं उन्हें नौकर नजर आया था ?...

'और मेरी मां ?... पति के अभाव में उसे भी अपने बच्चों के लिए एक पिता की तलाश थी, सो झूम गई रिश्ते की बात सुन कर... ठीक है। सबको, सब कुछ मिला... लेकिन बलि का बकरा मैं क्यों बना ? और बन भी गया तो अब क्यों बना रहूं, निभाने की जिम्मेदारी अकेली हमारी तो नहीं...'

बेटी की सिसकियां मेरे कानों के परदे फाड़तीं लेकिन एक-दो दिन के बाद सब कुछ ठीक हो जाता... मैं सोचती–चलो, मामला संभल गया... इसी तरह निभ जाएगा। आपसी कहा-सुनी किस घर में नहीं होती...

ऐसे हर मौके पर एक और अजीब बात होती मेरे साथ... बेटी की सिसकियों के साथ मुझे अपनी बहू का, सहस्रों रहस्य आंखों में छिपाए, होंठों पर हजारो मन का ताला जड़े, चेहरा याद आ जाता और मैं एक भंवर में पड़े प्राणी की तरह चक्कर काटने लगती...

मेरी बहू भी किसी की बेटी है, उसे इस घर में क्या मिला कि मेरी बेटी को उस घर में कुछ मिलता...

लेकिन बहू को कुछ नहीं मिला या सिर्फ पति का प्यार छोड़ सब कुछ मिला, इसकी कोई जिम्मेदारी मुझ पर तो नहीं थी, लेकिन फिर बेटी के दुखों का भी कौन-सा दायित्व था मुझ पर...

'अपने आपको दायित्वों से बरी मान कर सुखी हो पाओगी ?' मन सवाल करता...

'सुखी तो नहीं रह पाऊंगी, लेकिन एक कलंक कम तो होगा।' मैं जवाब देती।

'उससे क्या होगा ?' एक दूसरा सवाल मेरे सामने आता।

'पता नहीं, लेकिन इतना जानती हूं मेरी बेटी का दुख कम नहीं होगा...'

'तुम्हारा उद्देश्य है कि तुम्हारी बेटी सुखी रहे, उसे पति सहित ससुराल वालों का अच्छा व्यवहार मिले... दायित्वों की गठरी किसी दूसरे के सिर पर लाद कर यह संभव नहीं हो पाएगा...'

मानसिक वार्तालाप में मैं सही-गलत की पहचान करती कभी-कभी आपे से बाहर हो जाती जब अटक-अटक कर एक भरी आवाज मेरे कानों में पिघलती चली जाती और दूसरी तरफ रुक-रुक कर ली जाने वाली उसांसें मेरे समस्त अस्तित्व को किसी आंधी की चपेट में धकेलने लगतीं जहां अपने को संभाल ले जाना मेरे

लिए मुश्किल ही नहीं असंभव भी था...

पता नहीं यह सिलसिला कब तक चलता लेकिन मैं विवशता के शर्म से पानी-पानी होने लगती... एक अजनबी माहौल मुझे दूषित करने लगता, जहां अपनों की पहचान खोने लगती है...

दुख का संबंध नितांत अपनों से जुड़ता है। दूसरों का दुख प्रभावित करे तो करुणा जागती है.. मन के सोपानों में कोई अंधड़ नहीं आता जो सारे वजूद को ही खत्म करने लगे...

मैं कह सकती हूं कि करुणा उजागर करने का वक्त मुझे नहीं मिला या बहुत कम मिला है क्योंकि मेरे सम्पर्क गहरे जरूर थे लेकिन व्यापक नहीं हो पाए...

मेरी रस्साकशी अपनों में ही चलती रही... कभी बेटी, कभी बहू, कभी दामाद, कभी बेटा... इन दोनों से मुझे लगता है उबरने का कोई जरिया नहीं है, न मेरे पास न स्वयं उनके पास...

जब मैं खिंच कर दामाद की ओर पहुंचती तो बेटी का बिसूरता चेहरा सामने आता जिसे मैं समझा-बुझा कर ठीक कर लेती, उस समय के लिए ही सही...

लेकिन जब रस्साकशी का दबाव मुझे बेटे की ओर घसीट लेता तो मैं बेजान-सी ...ढेर हो जाती। मेरे सारे तर्क मुझसे पल्ला झाड़ने लगते...

'अब कौन-सा नया तर्क रखेगी तू अपनी उस चहेती बहू के सामने...क्या देकर उसे फुसलाएगी...हीरे, जवाहरात...उसकी जवान रातों में ये गर्मी नहीं पैदा कर पाएंगे...और सुन, अपनी उस बहू को जितना गऊ तू समझती है उतनी वह तो नहीं ...तेरे मन के सारे ऊहापोह उसे पता हैं...'

अंदर की आवाज कानों में उतर कर मेरी ताकत खत्म करने लगती... मैं जानती थी, अब भी जानती हूं, मेरी बहू उतनी अनजान नहीं, तब भी नहीं थी, सिर्फ लिहाज था मेरा... कि वह जबान नहीं खोल पाई या संस्कार थे भारी, कि खुद विषपायी बनी रही।

मैं खड़ी होती या बैठी, किसी तरह अपने आपको घसीट कर पलंग तक ले जाती और निढाल छोड़ देती। कुछ समय बाद मेरी आंखों में अलग-अलग तस्वीरें उभरने लगतीं जिनमें सबसे पीड़ादायक तस्वीर मेरे बेटे की होती...

ऐसे हर मौके पर आवाज बाहर आ जाती :

'हे ईश्वर, यह क्या हो रहा है... '

मेरी दृष्टि बरबस कंक्रीट की दीवारें फोड़ उस कक्ष तक पहुंच जाना चाहती जहां मेरा बेटा, लगभग निर्वस्त्र, दीवार से उठंग कर खड़ा होगा, जुगुप्सा और क्रोध उसके चेहरे पर प्रमुख होंगे... तम्बाकू मिले पान मसाले की खुशबू उसकी सांसों में घुलकर आ-जा रही होंगी... होंठों के किनारे थूक की थुथकारों भरी पतली लकीर से सने होंगे...

और मेरी कमलनयनी बहू के धारदार मन-प्राण पर घृणा की अदृश्य दस्तकें पड़ती चली गई होंगी...पति के तने हुए मोटे शरीर और गालियों भरे चेहरे की ओर देखने का साहस भी वह कहां जुटा पाई होगी...उसका वर्तमान उसके सामने होगा ही कहां...

रेत के समुद्र की तरह उसका भाग्य उसकी मुट्ठी में से खिसकता ही चला गया होगा...किन्हीं अनजान बीथियों में जिसका पता न उसे है, न हमें...

मुझे लगता कितना अदृश्य है मेरी बहू का दुख, मेरी बेटी के दुख से...

पल्लवी

यह मेरी चालीसवी साल गिरह है... मैं बहुत उदास हूं आज, फिर भी मन कर रहा है कुछ बोलूं, किसी से बात करूं... चुप रह कर इतने दिन तो काट दिए... जीते जी एक लाश बनी रही, लोग मृतक समझ कर मेरे साथ पेश आते रहे... कभी किसी ने सोचा ही नही कि मेरे अंदर भी जान है या मेरी इंद्रियां भी सक्रिय हैं, उनकी कुछ मांगे हो सकती हैं...

इसलिए भी मेरा बोलना आज जरूरी लग रहा है कि आज भी चुप रही तो बहुत-सी बातें अनजानी, अनकही रह जाएंगी... और यह ठीक नही होगा।

जाहिर है, बोलूंगी अपने ही बारे में क्योंकि अन्य किसी के बारे में कुछ कहने की बुद्धि मुझ में कहाँ है। हमेशा से सुनने को यही मिला है और अब तो मैंने मान लिया है कि यही ठीक भी है... मुझसे बड़े, महान, बुद्धिमान लोग झूठ थोड़े ही बोलेंगे।

मैंने तय किया है, अपने ही दुखों का विस्तार करूंगी... और कुछ कहने और करने को मेरे पास है भी क्या...

मेरी बात कोई सुनेगा या नहीं मैं नहीं जानती लेकिन जो मुझे कहना है वह कहूंगी अवश्य। चलिए, अब भूमिका समाप्त, सीधी बात पर आती हूं।

लोग मुझे पागल कहते हैं.. मुझे एकदम से दुख न पहुंचे या मानवता का ख्याल करके बड़ी हल्की अभिव्यक्ति देने वालों ने मुझे 'स्लो' भी कहा है। 'स्लो' यानी मंदबुद्धि...मुझे नहीं पता यह कहां तक सही है।

सही-गलत के पचड़े में मैं नहीं पड़ना चाहती... लेकिन एक इच्छा जरूर है कि अपने बारे में 'रिमार्क पास' करने वालों को मैं दिखा दूं कि मैं पागल नहीं हूं। न ही मैं मंदबुद्धि हूं...मानसिक रूप से अविकसित भी नहीं...

और किसी की मुझे उतनी फिक्र नहीं, लेकिन अपनी मां को मैं समझा देना चाहती हूं कि मेरे बारे में प्रचलित तमाम भ्रांतियां निर्मूल हैं।

विशेषण जो औरों ने मुझे दिए हैं, मेरी मां ने बोल कर मुझे कभी नहीं दिए, लेकिन उसकी एक चुप हजार तरह से मुखर हुई है। मुझे देखते ही उसकी व्यथित पनीली आंखें किसी छोटे ताल की तरह ऊपर तक उफन आई हैं। पीड़ा का उफनता हुआ सैलाब मैंने देखा है उसकी आंखों में... मुझ पर नजर पड़ते ही करुणा से भरे अपने हृदय में वह मछली की तरह डूबती-उतराती रही है।

उसके होंठों पर मुहर लगी रहती है और कभी-कभार जब वह बोलना शुरू

करती भी है तो बरसाती नदी की तरह सारे बांध-बंधन तोड़ कर बिखरने लगती है...

नहीं, मुझे वह कुछ नहीं कहती... कोसती है खुद को और मेरे मरहूम पिता को, उनके पूरे परिवार को। यह सिलसिला एक बार शुरू हो जाय तो देर तक चलता रहता है...

उसकी बातों पर मैं ध्यान देना नहीं चाहती, सुनी-अनसुनी कर देती हूं, लेकिन कभी-कभी ऐसा नहीं हो पाता। लाख कोशिशों के बावजूद उसकी बातें मुझे असह्य लगने लगती हैं, इतनी कि मैं उठ कर इधर-उधर हो जाती हूं...

किसी के कटु बोल सहना और सहते चले जाना किसी की आदत नहीं बन सकती, न ताने-उलाहने सहना किसी को अच्छा लगता है। मुझे भी नहीं लगता, फिर चाहे वह मेरी मां ही क्यों न हो। किसी का कहा मुझ से बर्दाश्त नहीं होता और मेरी मां अपने जमे हुए अरमानों के पिघल जाने तक चुप नहीं रह पाती।

आज तक उसने मुझे जो-जो कहा है उस सब को सच मान भी लिया जाय तो यह सच नहीं बदल सकता कि मेरी मां की पिता से बनती नही थी। कारण जो भी हों लेकिन घर का वह माहौल तो नहीं था जो बच्चों को बचपन, किशोरावस्था या युवावस्था में भी, चाहिए... एक नार्मल 'ग्रोथ' के लिए...

एक बात जरूर सच है मां के संदर्भ में, कि इतने वर्ष अशांति के, अविश्वास के, तनाव और उदासी के उसने काट लिए लेकिन घर... अपना ठीहा नही छोड़ा।

जैसे मैं छोड़ कर आ गई और पिछले चार महीनों से उस दरवाजे पर बैठी हूं जहां मेरे लिए कोई जगह नहीं है। कहने को यह मेरे पिता का घर है और मैं पति का घर छोड़कर आई हूं, इस उम्मीद में कि मेरे गुन-अवगुन दोनों को नजरअंदाज करके एक ममता की छांव मुझे अपनी मां के आंचल तले मिल जाएगी।

लेकिन मैं यहां सबकी आंख की किरकिरी बन गई हूं। मेरा यहां रहना, सबके मन को रड़का रहा है। और मेरी मां भी उसमें शामिल है।

दुनिया कहती है, मां ममता की मूरत है, प्रतीक रूप में मां की ममता उद्धृत की जाती है... मैं भी बरसों यही मानती रही।

मां की रुक्षता के लिए मैंने हजार बहाने सोचे। मन को समझाती रही कि उसकी बेरूखी की जड़ में और कोई हो तो हो मैं नहीं हूं। सहानुभूति के स्रोत भी मैंने उसके लिए अनुभव किए हैं।

जब भी उसके सामने आई मुझे लगा वह मुझे अपनी बांहों में समेट लेगी। मेरे जख्मों पर ममता के फाहे रखेगी, किसी आड़े वक्त में मुझे अपने आगोश में छिपा लेगी... और सच मानिए, अगर वह ऐसा करती तो शायद दुनिया को दिखाई पड़ने वाली मेरी कमियां, या मेरी खोट, मेरे गुणों में बदल सकता था, कम से कम मुझे ऐसा ही लगता है...

लेकिन ऐसे हर मौके पर मुझे उससे निराशा ही मिली और अब तो मैं पूरी

दृढ़ता से कह सकती हूं कि मां को लेकर सोची गई हर बात मेरी भूल थी...

मेरे अंतर के गहन गह्वर से यह आवाज आती है कि मेरी सभी धारणाएं गलत थीं... आज भी हैं... मेरी जिंदगी का शाश्वत सत्य यह है कि मैं नितांत अकेली हूं। इस भरी दुनिया में मेरा कोई नहीं... बहरहाल, अपनी नज़र अपनी ही बातों पर...

अपनी मां की दूसरी संतान बन कर मैं इस दुनिया में आई, घर की बड़ी-बूढ़ियों को कहते सुना था। पहला भ्रूण तीन मास के पहले ही खत्म हो गया था।

संभव था, कि मेरी मां, मातृत्व का बोझ उठाने को तैयार नहीं थी, उस समय जैसा कि अनुमान लगाया गया, क्योंकि गर्भाधान के बाद वही सब करती रही जो गर्भवती स्त्रियों के लिए निषिद्ध था...

वर्जिश करना, खेलना-कूदना... केसर-कस्तूरी के मसाले भरे पान खाना, शैया के चारों ओर मोंगरे के गजरे सजा कर सोना, किसी सद्यगर्भा का काम तो नहीं हो सकता ?

हो सकता है मां का लड़कपन हो, अनुभवहीनता हो लेकिन उनके आसपास जो वयस्क थे, जिन्होंने अनुभव की धूप में बाल सफेद किए थे उन्हें तो अक्ल होनी चाहिए थी... वे तो मां से इन निषिद्धताओं का जिक्र करते।

तब तो किसी ने कुछ नहीं कहा लेकिन जब भ्रूण पेट में पिघल कर रक्त की डली बन कर बह गया तब मां की मां और उनके रिश्तेदारों को बड़ा कष्ट हुआ...

डाक्टरों ने कहा, वह लड़के का भ्रूण था... शायद सबके कष्ट का कारण भी यही था।

भ्रूण-हतक उस स्यापे में मेरी मां भी शरीक हुई... अपने आसपास जलते हुए दुख के अभाव से उसका मन भी कुछ गरम हुआ... लेकिन अंदर से कहीं एक मुक्ति भी उसने महसूस की, कि, चलो अचानक जकड़ आए बंधन से वह मुक्त हो गई...

जब मैं यह बहुत पहले समझ गई थी कि बच्चे का जन्म कितनी बड़ी जिम्मेदारी होती है तो मेरी मां भी इस दायित्व की दहशत में जरूर आ गई होगी...

वैसे, मेरी मां के पास दास-दासियों की कमी नहीं थी, हुक्म के कितने ही गुलाम उनके आसपास चक्कर काटा करते थे। चमचागिरी पसंद मेरी मां को चमचों की कमी कभी नहीं रही, लेकिन बच्चे को पेट में नौ महीने धारण करने का काम तो कोई और नहीं कर सकता था...

मेरी मां की अल्हड़ता यह बोझ कैसे उठा सकती थी ?

लोगों को कहते सुना है कि मेरी मां क्रांतिकारी विचारों की औरत थी। समाज की सड़ी-गली व्यवस्था को उखाड़कर वह नए मूल्यों की स्थापना करना चाहती थी...लीक से हट कर कुछ कर गुजरने के ख्वाब देखा करती थी...

उसके लिए यह बात कोई मायने नहीं रख सकती थी कि भ्रूण बेटे का था या बेटी का। न वह बेटे का भ्रूण था इसलिए स्यापे में शामिल हुई होगी... इससे ज्यादा संभावना इस बात की है कि जिस तरह एक बच्चे को रोता देख दूसरे बच्चे भी रोने लगते हैं, मेरी मां भी आसपास सबको दुखी देखकर दुखी हो गई होगी।

बचपन में कई बार मैंने मां को नानी से उलझते देखा था क्योंकि मां के जन्म पर नानी ने खासा मातम मना डाला था, और बड़े गर्व से सुनाया करती थीं सबको...

नानी तो यहां तक कह जातीं कि अगर उनका वश चलता और हत्या के पाप का डर न होता तो वह मां को जान से ही मार डालतीं।

दरअसल नानी के इस अमानुषिक सोच का एक कारण था, मेरी नानी देवरानियों-जेठानियों से पहले पुत्र पैदा करके सास पर अपना रौब जमाना और देवरानियों-जेठानियों को पटखनी देना चाहती थीं जो मेरी मां ने जन्म लेकर खत्म कर दिया था।

शिशु जन्म के बाद सूप बजने की आवाज सुन कर वह समझ गईं कि लड़की हुई है। और अपनी रचना का मुंह देखे बगैर ही वह बेहोश हो गई थीं।

शायद इसीलिए मेरी मां उस समय से लड़की-विरोधी समाज की उपज बन गई थी...

मेरी मां का जीवन सूत की उलझी हुई लच्छियां थीं जिन्हें गोलों का रूप देना ऊपर से देख कर एकदम असंभव लगता था। उसका एक-एक शब्द उसी तरह अटक-अटक कर उलझे हुए सूत के सिरे की तरह निकलता तो दूसरा गुम हो जाता।

मां का अतीत सोचती हूं तो मुझे उसके लिए दुख होता है... कैसा स्वच्छंद मन था उसका और कैसा स्पष्ट आचरण, जो परिवार के पचड़ों में एकदम जटिल बनकर रह गया और अब वह उन्हीं में जकड़ी, लोटती-पोटती आगे बढ़ रही है...किन अनकिए अपराधों की सजा उसे मिली मैं नहीं जानती।

मैंने सुना है मेरी मां विवाह के बाद एकदम बदल गई थी। परम्पराओं की विरोधी होने के बावजूद उसने परम्पराओं से ब्याही जाने वाली बहुओं की खाल ओढ़ ली थी और उन्हीं की राहों पर चल निकली थी...

'उसके घूंघट में जैसे आग लग गई हो'... लोग कहते और मेरी मां शूकर-कूकर की तरह हर साल एक बच्चे को जन्म देती चली गई... उसका चेहरा इन प्रसव प्रक्रियाओं में झुलसता चला गया...

और हम ऐसी ही मां की अंधेरी कोख से एक के बाद एक बाहर निकलते

चले गए...

ऐसे में कौन, किसकी परवाह करता। न हम कभी अपनी मां के योग्य हुए न मेरी मां ही अपने बच्चों को वह सब दे पाई जिन पर बच्चों का ज़ाती हक होता है।

मैं कह सकती हूं कि हम भाई-बहनों को मनचाहे माता-पिता नहीं मिल पाए...और उनके लिए हम कितने योग्य साबित हुए यह तो वे ही जानें।

मेरे पिता का सम्मान था। वह धर्म के मर्मज्ञ माने जाते थे। कई बार उन्हें कहते सुना था :

'अच्छी आत्माएं यूं ही पैदा नहीं होतीं। अपने योग्य कोख मिलने तक प्रतीक्षा करती हैं...

'आत्माएं, इस संसार में अपना क़र्ज चुकाने आती हैं'...

मैं इतनी भाग्यशाली नहीं थी, फिर भी इस दुनिया में आई... जो जिंदगी मिली उसे जीने की कोशिश भी की...

मुझे अपनी मां की भर्त्सना कभी पसंद नहीं आई, न ही अपने पिता के उपदेशों से मेरा कोई रागात्मक संबंध स्थापित हो पाया... उन पर आचरण करने की बात तो दूर की है...

मैं अपने भाई-बहनों को नहीं जानती... कभी सोचा ही नहीं उनके बारे में, उस दृष्टि से। इस समय तो अपनी ही बात लेकर आपके सामने उपस्थित हुई हूं।

अपने जीवन की कथा.. एक औरत की जागती व्यथा अपने अनगढ़ शब्दों में आपके सामने रखना चाहती हूं ताकि मेरी कहानी का यह पहलू जो सिर्फ मुझे मालूम है, आपके सामने आ जाय और अगर आप निर्णायक की भूमिका निभाना चाहें तो मुझे न्याय मिल सके।

मेरी इस कहानी में हंसने-हंसाने वाली कोई बात नहीं...आपका मनोरंजन भी इससे नहीं होगा, दारू के भरे प्याले जैसी रंगीन भी यह नहीं है, फिर भी आपके सामने इसे रखने का साहस मैंने जुटाया है तो एक नज़र तो आपको डालनी ही पड़ेगी इस पर।

यह मेरी जिंदगी है, जनता की मांग पर बार-बार खेले गए किसी नाटक का रोचक प्रसंग नहीं।

पुरुष निर्मित समाज में उसी की दासता स्वीकार कर जीने का प्रयास है यह...तरह-तरह की यातनाओं और अपमानों की चोट खाते हुए कुछ हासिल करने की जिजीविषा है।

आंखों के आंसू पीते हुए होंठ फैला कर जिंदगी जीने की कला कैसी होती है ?

आज तक आंसुओं से जिंदगी की कोई आग बुझी है ?

खामोश, पीड़ा सहते हुए जिंदगी का कोई हिसाब-किताब कभी सही हो सकता है ? मां के लिए मेरे मन में पीड़ा है, उसकी विवशता, उसका दुख मैं समझती हूं...

मां का मूल्य भला कौन संतान नहीं समझेगी और वह भी बेटी... बेटी तो मां का ही दूसरा रूप होती है।...

मुझे दुख इस बात का भी है कि मैं उसके लिए कुछ ऐसा नहीं कर पाई जो उसके मन की आंधियों में घड़ी भर के लिए भी शीतल बयार का काम करता...

अनंत विश्वास उसके मन में जागे, ऐसा कोई आचरण भी मैंने नहीं किया...

क्षणिक प्रसन्नता उसे दे सके ऐसा संकेत भी तो उसे नहीं दे पाई...

उसके लिए व्यथित रही लेकिन वह व्यथा कभी जाहिर नहीं की। अपने जीवन के ज़हर के साथ एकदिल करके मैं उसकी घूंट ही भरती रही...

लेकिन ऐसा कभी नही हुआ कि अपनी पीड़ा में मैं इतनी बेखबर हुई कि मां का ध्यान ही न आया हो...

इतना जरूर है कि यह एहसास थोड़ी देर से जागा... यह समझ मेरे मन की सतह पर थोड़ी देर से आई कि दुख भोगने की साझीदारी मेरी अकेले की नहीं है...मेरी मां ने भी दुख भोगे हैं और मां ही क्यों... इस धरती पर आने वाली हर औरत दुख भोगती है...

सम्पन्नता का दुख कैसा होता है ? आप नहीं जान सकते, शायद मैं भी उस सीमा तक नहीं जान सकती, लेकिन मेरी मां जानती है... वह दुख उसने झेला है।

लोग कहते हैं :

'घड़ियाली आंसू क्यों बहाती हो, भगवान ने सब कुछ तो दे रखा है, तुम्हें किस बात का दुख है... अच्छा खाना-पहनना, कपड़े-जेवर, नौकर-चाकर, रहने को महलनुमा घर, पहनने को बेशकीमती कपड़े...'

मुझे हंसी आती है उन कहने वालों पर...

कुछ न होने का दुख तो एक ही है कि है ही नहीं, लेकिन जब सब कुछ होते हुए मिट्टी लगने लगे, किसी राहत का कारण न बन पाए... चारों दिशाएं प्राणहीन होकर खाने दौड़ें तब आप क्या कहेंगे ?

छोड़िए, मन भावुक होने लगा है। अब इस उम्र में आकर बहुत-सी बातें समझ में आने लगी हैं और जव आप से मुख़ातिब हूं तो स्पष्ट भी होती जा रही हैं...

मैं अपने आचरण की बात कह रही थी...

मैं मानती हूं कि शुरू-शुरू में मैं अपनी मां के उद्देश्य और आदर्शों के विरुद्ध ही चलती रही लेकिन जानबूझ कर नहीं।

कभी उन्होंने टोका या कुछ कहा भी नहीं कि मुझे अपनी गलती का

एहसास हो सके।

अगर उन्होंने मुझसे कोई उम्मीद की तो वह भी मुझ पर जाहिर नहीं हुई। प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने कभी कुछ कहा नहीं। परोक्ष रूप से चिढ़कर भी कभी नहीं बोलीं।

जो जाहिर होकर सामने आया हमेशा ममता से भरा गहन सरोवर ही दिखाई पड़ा।

मेरे जन्म से मेरी मां खुश नहीं हुई थी।

उस जमाने में शादियों पर प्रतिबंध नहीं था जैसे आज है कि वैधानिक शादी एक से अधिक नहीं हो सकती।

पिता की पहली पत्नी की पहली संतान लड़की ही थी और जाहिर है मां उन्हें तोहफ़े के तौर पर एक चांद-सा बेटा देना चाहती थीं और पैदा हो गई नामुराद मैं।

मां के सपने बिखर गए। अरमानों पर फंफूद लग गई।

मेरे पिता पर क्या प्रभाव पड़ा मैं नहीं जानती, लेकिन लोग कहते हैं, मुझे ऊपर से नीचे तक देखने के बाद ही उन्होंने मेरा नाम पल्लवी रखा...

मेरे जन्म से कोई खास बात नहीं हुई, हवेली की जिंदगी रोजमर्रा की तरह सामान्य चलती रही, गोया कहीं कुछ हुआ ही न हो...

मैं लड़की थी इसीलिए किसी को फर्क नहीं पड़ा, लड़का होती तो पड़ता...लेकिन दुनिया में आने वाला हर प्राणी तो विशेष होता है। उनके बीच कोई भेदभाव स्वस्थ परम्परा कैसे बन सकती है ?

समाज के ये कुत्सित रीति-रिवाज कब शुरू हुए, उन्हें बढ़ावा देते-देते परम्परा क्यों बना दिया गया ?

क्या मेरी ही तरह दूसरे भी सोचते हैं ?...

मेरे घर वाले कहते हैं, बचपन से मेरी याददाश्त तेज नहीं थी, प्रतिभाशाली बच्चों की तरह...

मैं सोचती हूं प्रतिभाशाली बच्चे कैसे होते हैं ? उनके माता-पिता कैसे होते हैं ? उनका बचपन कैसे बीतता है ? क्या हमें वह सब मिला जो प्रतिभाशाली बच्चों को मिलता है ? अगर नहीं तो हमसे प्रतिभा की उम्मीद क्यों रखी गई ?

लेकिन नहीं, हमसे किसी ने कब कहा कि प्रतिभाशाली बनो... हम तो जैसे पैदा हुए वैसे ही रहे, चलने-फिरने लगे। थोड़ा होश संभाला तो सुनने को मिला, मेरी याददाश्त कमजोर है...

आज कोई कहता तो शायद मैं मान लेती, क्योंकि वक्त के थपेड़े खाकर हो सकता है वह कमजोर हो गई हो...

लेकिन फिर मुझे साक्षर कराने में मेरी मां को जमीन-आसमान के कुलाबे क्यों मिलाने पड़े...

मेरे अन्य भाई-बहनों के साथ ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

शायद इसीलिए कि सबके हिस्से के ताने हमने ही सुने... लड़की होने के ताने, दिमागी कमजोरी के ताने, मंदबुद्धि, 'स्लो', अविकसित...रह जाने के ताने... इसी तरह अन्य अनेक ताने...

और इन सब तानों का नतीजा निकला कि जो ताने देने वाले चाहते थे मैं ठीक वही बन गई और बनी रही।

बचपन से लेकर किशोरावस्था तक... मेरे छोटे भाई-बहनें कक्षा-दर-कक्षा आगे निकलते गए और जितना वे आगे बढ़े, मैं पीछे हटती गई या जहां थी वहीं जड़ बन गई।

एक ही कक्षा में पन्ने पलटते कई-कई साल बीत जाते। इम्तहान नजदीक आता तो मुझे 'परीक्षा फोबिया' हो जाता... दिल जोर-जोर से धड़कने लगता... मुझे शर्म आती थी, अपने से छोटों के साथ कक्षा में बैठ कर या इम्तहान से डर कर...

लेकिन कुछ था जो मेरे वश में नहीं था... परचा देने किसी तरह परीक्षा-कक्ष में जाकर बैठती तो आगा-पीछा कुछ भी ध्यान नहीं आता।

शुरू-शुरू में जब पहली बार मुझे ऐसा हुआ तो मेरी अध्यापिका ने डरते-डरते मेरी मां के सामने यह समस्या रखी :

'पल्लवी को इम्तहान से दहशत होती है, अगर अभी इसकी सहायता नहीं की गई तो इसे 'परीक्षा फोबिया' हो जाएगा, इसका पढ़ना-लिखना सब बेमानी हो जाएगा, यह परीक्षा कभी पास नहीं कर पाएगी... सब कुछ आते हुए भी इसे लगेगा पता नहीं वह गलत है या सही, और इस असमंजस में वह आगे नहीं बढ़ पाएगी...कृपया, इस ओर ध्यान दें।'

'मेरी बेटी तो अच्छी-भली है। बड़े घर की है, थोड़ी लापरवाही बरत जाती होगी लेकिन इम्तहान से क्यों डरेगी ? और अगर सचमुच डरती है तो यह कमी मास्टरनियों की है जो उसे पढ़ाती हैं... आप लोग अपनी कमियों का दोष मेरी बेटी पर मत रखिए...' मां का तीखा जवाब होता।

मास्टरनियां डर जातीं या इस फटकार से बचने के लिए चुपचाप कक्षा की तरक्की दे दिया करतीं।

शुरू में यह नुस्खा काम आ गया लेकिन यह कोई स्थायी समाधान तो नहीं बन सकता था।

स्कूल हवेली के अहाते में ही था। यह स्कूल मेरी मां ने ही खुलवाया था।

मेरे भाई-बहनों की पढ़ाई यहीं से शुरू हुई थी... सब अपनी-अपनी दिशाओं में बढ़ते चले गए... एक मैं थी कि अपनी ही आकांक्षाओं के खिलाफ, अपने शिक्षकों की *मेहनत के बावजूद आने वाले दिनों के क्रमशः विस्तार पाने वाले अंधेरों में कोई चिराग* न जला सकी। मुझे मालूम है यहीं से मेरी मां की दिन-रातों का सफर पेचीदगियों से भरता चला गया... मेरी ग्रंथियां इन पेचीदगियों से नितांत अलग थीं।

मेरे बाद की संतान मेरा भाई हुआ।

भाई के होने की खुशी में उत्सवों का अंत नहीं था। रुपये-पैसे से लेकर मोहरें उस पर न्योछावर की गईं... हफ्तों, पखवाड़ों क्या महीनों जश्न मनाया जाता रहा...घर में मंगलगान होता रहा।...

दोरंगी व्यवहार इंसान करता रहे, भगवान तो अनसुनी-अनदेखी नहीं कर सकता न... भाई बड़ा होने लगा तो पता चला दिमागी तेजी उसमें भी नहीं थी... किसी बात की तत्काल प्रतिक्रिया उसमें नहीं हुई और जब चलने-फिरने लगा तो पता चला कि उसके पैर भी सही-सलामत नहीं रह पाए...

कुछ और बड़ा हुआ तो दिमाग में थोड़ी गति आई पर पैरों से एकदम गला हुआ लगता रहा, हालांकि शरीर से हृष्ट-पुष्ट था।

घर में एक ओर खुशी का आलम था। लोग देखते और रश्क करते कि कितने पुण्यात्मा हैं ये लोग जहां सुख-समृद्धि हाथ-पैर तोड़कर बैठ गई है, दूसरी ओर पीड़ा आंतरिक रूप से अपने पंजे फैलाकर मेरी मां को जकड़ती जा रही थी... और मज़े की बात यह कि मेरी मां, उससे पूरी तरह बेखबर थी।

मेरी मां, पता नहीं किन जन्मों के फलस्वरूप भरपूर जवानी में ही बुढ़ापे के जंगल-जंजालों में फंसती चली गई थी... और आगे की कठिन यात्राओं की योजना बनाती रही और हम... एक की पीठ पर एक चढकर हर वर्ष मां की सृष्टि को समृद्ध करते रहे और मां हर बार अपने शरीर से बेजार होती चली गई।

आज जब मां हमारी फिक्र में हिचकियों में रोती है तो उसका दुख समझ में आता है। उसे रोते देखकर मैं भी रो पड़ती हूं। लेकिन उस समय जब भी पीड़ित, रोती हुई मां पर मेरी नजर पड़ी, मैंने यही सोचा, मां क्यों रोती है ! आखिर उसे क्या दुख है ? इससे अधिक मां की पीड़ा मेरे मन में कभी नहीं ठहरी।

आज भी देखती हूं पुराने घर की दीवारों की तरह उसकी रंगत उड़ी रहती है। मेरी जवान-जहान बहनों की ज़िद पर बालों में मेंहदी लगाकर कभी-कभी अपने बाल वह लाल कर लेती है... जड़ी-बूटियों की क्रीमें उन्हीं की जिद पर चेहरे पर मलवा लेती है लेकिन उसके चेहरे पर झुर्रियां गहराती रही हैं और आज भी ख़ास फर्क नहीं पड़ा है...

बेशक, उम्र के कुछ दशक मेरी मां पार कर चुकी है लेकिन अभी यह नहीं लगता कि वह समय निकट है जब लोग कहना शुरू करते हैं 'अब तो चला-चली की बेला है...कब क्या हो जाय कौन कह सकता है...'

जब मां को यह कहते सुनती हूं तो मुझे लगता है यह बात मेरे लिए ही कही जा रही है... कभी-कभी यह भी लगता है, कि मेरी मां शायद चाहती है कि मैं वापस अपने ससुराल चली जाऊं...

यह बात एक सीमा तक ठीक भी है। यहां की बहार मां की जिंदगी के साथ ही है। उसके बाद मुझे कौन पूछेगा। जो भी हल निकलना हो, मां के जीवन काल में ही निकलना होगा लेकिन वह हल होगा क्या ?

मेरा दिमाग आगे की बात नहीं सोच पाता... उतने सोच की क्षमता शायद उसमें नहीं है... लेकिन क़दम पीछे करके उस नरक में वापस जाने का साहस भी मुझमें शेष नहीं है...

लगता है मैं ऐसे भंवर में घूम रही हूं जिसका कोई भूत-भविष्य नहीं है, एक वर्तमान है पर वह भी घूमता हुआ...

जब पीड़ा बहुत बढ़ जाती है तब उसका एहसास खत्म हो जाता है। मैं शायद उसी स्थिति में पहुंच चुकी हूं...

मेरे पिता का परिवार भरापूरा कहा जा सकता है—मेरी दादी, चाचा, ताई...उनके बच्चे, बुआएं... सभी हैं... लेकिन मेरे माता-पिता का अंतरंग परिवार तो मुझसे ही शुरू हुआ...

मैं पहली संतान के रूप में अगर पुत्र होती तो हमारे जन्म के दस्तावेज पर दादी अपना हक़ जमातीं। बड़े घर की संतान थी इसीलिए जन्म की कुण्डली तो बनी। लोगों ने कहा था, पहली संतान लड़की हो तो घर में लक्ष्मी का आगमन होता है, इसीलिए भी पोथी-पत्रे देखे गए... लेकिन उन पर अपना हक़ जमाने कोई नहीं आया। मेरी या मेरी अन्य बहनों की जन्म कुण्डलियां और बाद में भाइयों की भी...घर की एक बूढ़ी नौकरानी के पास रहीं... जो कभी जवान रही होगी, जब इस घर में आई... मेरे ननिहाल से आई थी, मां के साथ ताकि उसकी व्यक्तिगत टहल में कोई कमी न रहने पाए और इसलिए भी कि विपरीत स्थितियों में मां का सही हाल उसके मायके वालों को मिलता रहे।...

मेरे ज्ञान और अनुभव के द्वार खोलने में मेरी उसी आया ने बड़ी मदद की है। अपने जन्म या बचपन की तमाम कही-अनकही बातें मुझे उसी से मालूम हुई हैं।

वह कहती थी :

मेरा जन्म 20 हज़ार गज के अहाते में बनी एक विशाल कोठी के किसी एकांत कमरे में हुआ था... कोठी में गोल-मटोल एक बहुत बड़ा बाग था।

आम-जामुन, कटहल के कई ऊंचे-ऊंचे पुराने पेड़ थे, केले के कई झुरमुट थे...मौसमी-बेमौसमी सभी फूलों की अनगिनत क्यारियां थीं।

बाहर, मुख्य द्वार के सामने चौड़ा राज मार्ग... आसपास अमीर-उमराओं, पुराने-खानदानी रईसों की चंद कोठियां थीं... इधर-उधर बिखरी जायदाद थी... इनमें कुछ तो बिगड़े हुए रईस थे, कुछ नए अमीर, कुछ धनवान व्यापारी...

सभी खुशहाल थे, नौकरों-चाकरों से सम्पन्न... धारे सींगों और बड़े अम्बड़े की दुधारु पुष्ट गाएं और काली, चमचमाती भैंसें, मेरी अपनी गोशाला में भी कई किस्म की गाएं थीं।

मेरे पिता गाय के दूध का सेवन करते थे और उनकी हिदायत थी कि हम बच्चों को भी गाय का दूध ही दिया जाय।

पीले पोतडों और राजसी वस्त्रों में बड़े चाव से मेरा लालन-पालन हुआ। पूरी सावधानी बरती गई कि लड़की होने के बावजूद कोई कमी न रह जाय... किसी सौभाग्यशाली बच्चे को इससे अधिक और क्या चाहिए... और इन सबके बावजूद मैं पता नहीं क्या बन या रह गई।

दिन तो किसी का इंतजार नही करते इसीलिए खिसकते चले गए।

देश का बंटवारा हो चुका था, इसी ग़म में गांधी जी डूबे थे कि उनका दम निकाल दिया गया...

भारत की रीढ दो टुकड़ों में बट गई।

अपनी सांस्कृतिक दृढ़ता और सांस्कारिक कट्टरता के बावजूद जिस माहौल मे हम बच्चे पले-बढे, वह पश्चिमी सभ्यता से अछूता नहीं रह पाया।

पहला असर हमारे लिबासों पर पड़ा... फिर हमारी भाषा पर। दोनों ही हमारे खालिस अपने नहीं रह पाए...

लम्बे अरसे तक फिरंगियो के अधिकार में रहने का असर हमारी रोजमर्रा की जिंदगी पर यह पड़ा कि हम अपनी ही जमीन पर अफलातून हो गए। सदियों से चली आती सत्य की परिभाषा बदल गई, धर्म की बुनियादें हिल गईं...

और इस प्रक्रिया में खून-ख़राबियां इतनी हुईं कि गंगा का पानी लाल हो गया, झेलम और सतलुज शफ़क़ के रंग में घुलमिल गईं। आदमी इधर से उधर बौखलाया हुआ घूमंता रहा...'उसका अपना वजूद डगमगा गया, अपने ही घर में उसकी अपनी पहचान खो गई... इतिहास गवाह है कि इस तरह के बदलाव जहां भी आए वहां अपने को संभालने में कितनी सदियों को करवटें बदलनी पड़ीं...

हिंदू-मुसलमान के बीच ऐसी दरारें पड़ीं जो आजादी के इतने वर्षों बाद, इतने परिवर्तनों के बावजूद आज भी जैसी की तैसी हैं। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि आगे चल कर हिंदुस्तान-पाकिस्तान का आपस में विलय हो जाएगा तो क्या इन दोनों मुल्कों के बीच खिंची नफ़रत और दुश्मनी की दीवारें ढहाई जा सकेंगी ?

यह सच कौन मानेगा कि कुछ भी हो पाकिस्ताम, भारत का ही एक हिस्सा रहा है... बात-बात पर खून-ख़राबा, साम्प्रदायिक दंगे क्या कुछ नहीं हो जाता।

अब तो एक नई कौम तैयार हो गई है दंगाइयों की। सड़क के प्रमुख नुक्कड़ों पर बड़े-बड़े होर्डिंग दिखाई पड़ते हैं–' मैं न हिंदू हूं न मुसलमान... मैं दंगाई हूं।...'

क्या सोचकर सरकार इस तरह के पोस्टर या होर्डिग लगा रहने देती है। सरकारी अधिकारियों के दिमाग़ मे यह बात क्यों नहीं आती कि दंगे की आग में इस तरह के प्रचार-प्रसार, घी का काम करते हैं... आम आदमी को इससे दहशत होती है, दंगाइयों की ताक़त को बढ़ावा मिलता है। छोटी जगहों में रहने वाले अल्पसंख्यक लोग चैन से एक जून की रोटी भी नहीं खा सकते...

कभी-कभी सोचती हूं, मुझे अगर एक दिन की बादशाहत मिल जाए तो इस तरह के प्रचारकों को सरेआम गोली मार दूं ताकि इनके मनों में डर पैदा हो। जिस दहशत में अल्पसख्यक जीते हैं उसका स्वाद भी इन्हें मिले और ये समझें कि इस तरह के प्रचार-प्रसार कितने उत्तेजक हैं।

मैं सोचती हूं अपनी रगे काट कर दो सम्प्रदायों के विरोधी लोग अपने लहू का मिलान क्यों नहीं करते... उनकी समझ में एक छोटी-सी बात क्यों नहीं आती कि खून हिंदू का हो या मुसलमान का, उसका रंग हर हाल लाल ही रहता है...

कितने घर, कैसे-कैसे परिवार तबाह हो गए और आज भी हो रहे हैं इस खूरेज़ी से...

मेरा अपना परिवार ही क्या बच पाया है इस विलगाव से। मेरी एक बहन आज भी कुंवारी बैठी है इस साम्प्रदायिक भेदभाव से।

अपने कालेज में पढ़ने वाले जिस युवक से उसका प्रेम हुआ वह दूसरे सम्प्रदाय का है... विवाह न इधर से मान्य होगा न शायद उधर से...

कितने वर्ष यह सत्य एक रहस्य बना रहा। रिश्ते की बातें आए-गए बहानों से टलती चली गईं। पिता को इस राज का पता तो नहीं चला और वह दुनिया से कूच कर गए...

बहुत बाद में मां पर जब यह राज खुला... बहन की सहेली ने ही रहस्य का परदा उठाया तो मां मानने को तैयार नहीं हुईं। सीधी बात बहन से करने का सवाल नहीं उठता था... साफ़गोई से कह-सुन लेने का रिवाज तब कहां था ?

मां को एक ही रास्ता सूझा... रिश्तों की आवाजाही तेज कर दी गई... उतना ही तीव्र हुआ बहन का इनकार... उसने अकाट्य मौन जरूर साध लिया था लेकिन उसका एक मौन जिस शिद्दत से मुखर होता रहा वह सौ वाचलता को समाप्त करने के लिए काफी था।

मां के ऊपर गाज गिर पड़ी...

यह सच्चाई कहने लायक नहीं थी कि किसी की राय ली जाती, या कह-सुन कर मन का धुआं बाहर निकाला जाता या आग ठण्डी की जाती। इस धुएं में मां झुलसने लगीं, आग में सींझने लगीं... सब कुछ अकेले दम ही तो झेला उन्होंने...

और इस झेलने में जो ज़हर उनके अंदर घुला उसका विष हम तक भी आया...हम भी उसमें झुलसे लेकिन जुबान हमारी भी बंद ही रही।

कोई जाहिर सत्य हो तो उस पर बातचीत की जाय... उसके खरे-खोटे होने के गुण पहचाने जायं...यहां तो सब कुछ आंतरिक पीड़ाओं को जन्म देने वाला था...

मां उन पीड़ाओं को सहती रहीं और हम बेजार होते रहे। हमारे संबंधों के सूत्र जर्जर होने लगे...

मां की ममता के सही हक़दार हम पहले भी कहां थे... प्रजनन की एक खूबसूरत सक्रिय मशीन बन जाने के बाद हमारी मां के पास इतनी फुर्सत कहां थी कि वह अपनी ममता का कोष हम पर खाली करती या लुटा देती...

घर की आयाएं न होतीं तो सोचती हूं हम बच्चों का लालन-पालन भी न हो पाता...

एक ख़तरनाक सन्नाटा घर में ही नहीं मां की ममता भरी गोद में भी आकर बैठ गया। कभी-कभी हम अपनी ही आहट पर चौंक उठते... बेहद मामूली बात भी होंठों तक आकर वापस चली जाती...हम आपस में कह-सुन नहीं सकते थे... दहशत होती, पता नहीं सुन कर मां को कैसा लगे...

और मां... ऐसी काठ हुईं कि चेतना उनमें फिर वापस आई ही नहीं। जमाने के प्रति जो तेबर उनके चढ़े उसमें उतार आज भी नहीं आया...

हमारा आपसी संवाद हमेशा के लिए कट गया। मां की नज़रों से विश्वास का परदा चीथड़े-चीथड़े होकर बिखर गया। अविश्वास उनका स्थायी भाव बन गया।

मुझे अपनी मां के दमखम का एहसास था। उनके इशारे पर किस तरह लोग उठते-बैठते थे... उनकी अदना इच्छा भी किस तरह हथेलियों पर ली जाती थी यह मैंने देखा था...

मेरी वही मां जब इस तरह परास्त हुई तो मुझे बहुत पीड़ा हुई। कई बार सोचा बहन से ही कुछ बात करके मां की पीड़ा का एहसास उसे करा दूं।

लेकिन बहन के तेवर में कभी बल ही न पड़े कि मैं कुछ कहने-सुनने का साहस जुटाऊं...

कुल मिला कर मैं एक ऐसे दोराहे पर खुद को पाया करती जिस पर एक ओर मां की पीड़ा का एहसास और दूसरी ओर बहन के प्यार की शिद्दत होती।

और दोनों ओर मैं आधी-आधी बंट कर रह गई। अपने हज़ार नेक इरादों के बावजूद मैं कभी इतनी हिम्मत नहीं बटोर पाई कि मां के लिए भी किसी अस्थायी राहत का सबब बनूं या बहन का जुनून कुछ कम कर सकूं।

ये दोनों ही स्थितियां चक्की के दो भारी-भरकम पाट थे जिनके बीच मेरा अदना-सा अस्तित्व पिसता-कुचलता चला गया था।

मुझे हैरानी इस बात पर भी होती है कि मेरे माहौल के सुईपटक सन्नाटे में मेरी खामोश कराह किन्हीं कानों तक पहुंची क्यों नहीं। जीते-जागते दो पाटो के बीच पिसने की कराह किसी ने सुनी क्यों नहीं...

और तो किसी को मैं माफ भी कर सकती हूं, लेकिन जो जननी मुझे इस धरती पर ले आई... जिसका लहू पीकर मैंने इस प्रपंची दुनिया में आंख खोली...वह मुझसे या अपने अन्य जायों से बेज़ार क्योंकर हुई ?

लेकिन नहीं, सबसे बेज़ार तो वह नही थी... मेरे भाइयों की तरफ़ उसका ध्यान कम नहीं हुआ... वे उसके बेटे थे न...

फिलवक्त, मैं अपनी बात कर रही हूं... मैं... जिसे यह जिंदगी रास कभी नहीं आई। फर्ज अदायगी की अपनी परवरिश या विवाह के माध्यम से आंचल में जो जिंदगी फेंक दी गई उसमें... कोई तो मेरे माकूल नहीं था...

फिर मैं इस दुनिया में क्यों लाई गई ?

मां कहती है :

'अपना-अपना कर्म फल है, सबको भोगना पड़ता है...'

मैं अपना कर्मफल भोगने के लिए अभिशप्त घोषित कर दी गई हूं फिर मेरी बहन का कर्मफल मान कर उसे भी भोगने के लिए क्यों नहीं बख़्शा गया ?

क्या कहूं... मेरी मां कभी-कभी दयनीय लगने लगती है, वह इतनी खोखली हो गई है कि मेरे जैसी कूढ़मग्ज लड़की भी उसका खोखलापन भांप लेती है।

मेरी बहन का किसी मुसलमान लड़के से प्रेम क्या इतना बड़ा अपराध था ?

प्रेम ही था, शादी तो नहीं थी।

प्रेम कोई जानबूझ कर, सम्प्रदाय चुन कर या नफ़ा-नुकसान के हिसाब लगाकर नहीं करता।

'प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है' गुणिजन कहते हैं।

मैं पूछना चाहती हूं कि जो प्रेम इतना सहज है कि उसके लिए प्रयास भी नहीं करना पड़ता वह इतने बड़े असंतोष का कारण कैसे बन सकता है ?

मैं यह नहीं मान सकती कि मेरी मां पुरातनपंथी है इसलिए मेरी बहन का जाति-सम्प्रदाय बाहर का प्रेम उसे नागवार गुज़रा...

उस जमाने में जब लड़कियों को तालीम देने की कोई हिम्मत नहीं करता था, इसलिए नहीं कि साधन नहीं थे, बल्कि इसलिए कि लड़कियों को पढ़ाने-लिखाने का चलन ही नहीं था, जो पैसा शिक्षा में खर्च होता वह दहेज के लिए जोड़ कर रख दिया जाता था–उस जमाने में मेरी मां ने खुद उच्च शिक्षा पाई थी... और अगर वह अशिक्षित भी होती तो मानसिक विकास उसका हो चुका था... भेदभाव से परे उसकी मान्यता है...वह मेरी बहन के प्रेम-प्रसंग का बुरा जाति के आधार पर नहीं मान सकती थी।

लेकिन मेरी मां बनने से पहले वह किसी की पत्नी बनी थी जिसके प्रति उसका समर्पण अटल था।

वह जानती थी मेरे पिता कट्टर हिंदू थे और उनके मन में मुसलमानों के लिए घोर नफ़रत थी... और मेरी मां पति के पदचिन्हों पर चलने वाली भारतीय पत्नी के सांचे में खुद को ढाल चुकी थी। क्या फर्क पड़ना था अगर उसके इस फैसले से उसकी अपनी ही बेटी तबाह हो जाती...

पिता हिंदू राज के ख्वाब देख रहे थे जहां एक धर्म, एक भाषा और एक राज हो...उस एक राज को विश्व राज बनाने के ख्याल भी उनके मन में आ चुका था।

वह सब कुछ तो नहीं हुआ, पिता ही परलोकवासी हो गए। हैरानी तो मुझे इस बात पर थी कि पिता के न रहने पर भी मां के दरबार में मेरी बहन की कोई सुनवाई नहीं थी। मां ने उस मुद्दे से जो समझौता नहीं किया सो नहीं किया।

हमारे घर की खुशियां दफ्न हो गईं। सारी रंगीनियां अंधेरों में घुलमिल गईं।

हमारा घर बहुत बड़ा था, कुल-खानदान के लोग, नाते-रिश्तेदारियां भी उसी अनुपात में बड़ी थीं...

घर आने वाले मेहमानों का भी कोई अंत नहीं था... आए दिन मेहमानों का मजमा जुड़ता... दो-चार जाते तो नए मेहमान आ धमकते... स्त्री-पुरुष, युवा-बच्चे ...कोई ख़ास वर्ग भी नहीं था उनका।

मां के नज़दीकी-दूर के रिश्तेदारों की भी गिनती नहीं थी। और मेरी मां ? उनका व्यवहार भी असाधारण था... मेहमानों की देखभाल में अपने बच्चों से विमुख

चाहे रही हों, उनके प्रति बेरुख़ कभी नहीं हुईं।

हम बच्चों की बिसात ही क्या थी कि मेहमानों के खिलाफ किसी आचरण को उजागर करते। लेकिन यह सच है कि मां की कृपा पर आदर-सत्कार पाने वाले सभी मेहमान हमें प्रिय नहीं थे।

हमें यह भी मालूम था कि कौन हमारे खिलाफ़ मां के कान भरता है... दुनिया- दारी के नाम पर कौन उन्हें भड़का जाता है...ड्राइंग रूम में घण्टों उनका जमावड़ा लगता, गर्मी-सर्दियों में पीछे आंगन और सामने लॉन की कुर्सियों पर चाय-नाश्ते, लंच-डिनर के बीच कौन उनकी वाहवाही लूटने के लिए सच्चे-झूठे लतीफ़े गढ़ता है... बस, हम बोल नहीं सकते थे, या हमारी जबानें काट दी गई थीं...

हमारे लिए यही नेमत थी कि जितनी देर वे मां के साथ रहते हम उनकी घूरती हुई रूखी नज़रों से परे अपनी-अपनी दुनिया में खोए रहते... हम पर कोई ताने न कसे जाते या उभरने वाली पीढ़ियों को लानते न सुननी पड़ती...

पिता के गुजरने के बाद मां का रुख इन मेहमानों की ओर कुछ अधिक ही तेजी से नरम हुआ था। मां दिन पर दिन मजमाप्रिय होने लगी थी।

मुझे नहीं मालूम घर की अंदरूनी बातों का कितना एहसास इन मेहमानों को हो पाता... बहन के प्रेम की कहानी उन्हें पता चली कि नहीं,... मां अपनी कितनी गोपनीयता उन पर खोलती...

लेकिन इतना मालूम है कि उनके जाने के बाद वह कुछ और उदास हो जाती ...उसके तेवरों में कुछ अधिक बल पड़ने लगते जिन्हें देखने-सहने के अलावा हम बच्चों के पास कोई चारा नहीं था। सबसे बड़ी होने के कारण शायद मैं इस धार को सबसे अधिक महसूस करती। अंदर ही अंदर बिलबिलाती और मन मसोस कर रह जाती।

भाई-बहनों में कोई ऐसा नहीं था जिसके साथ मैं अपने मन का धुआं बांटती। बल्कि उनसे मेरा कोई संवाद भी नहीं था, नौकर-नौकरानियों से कुछ न कहने के संस्कार दिए गए थे। आया, जिसकी गोद में पल कर मैं बड़ी हुई, मां की इतनी भक्त थी कि कुछ कहने का साहस मैं कभी जुटा नहीं पाई।

मेरा पहला भाई, जो मेरे जन्म के ग्यारह महीने बाद पैदा हुआ था, मेरा प्रिय तो हो सकता था लेकिन उसे लेकर एक ईर्ष्या बहुत बचपन में मुझ पर तारी तो गई थी जो किसी न किसी रूप में अब भी है।

कारण ? मुझे लगता है अगर वह इतनी जल्दी पैदा न हुआ होता तो अपनी मां के प्यार पर मेरा अधिकार कुछ दिन तो रहता... और पैदा हो ही गया तो मेरी तरह आया-मां की गोद में पलता, पहली संतान होने के नाते मां मुझे थोड़ा अधिक प्यार देती...

आखिर मैं उसकी पहली संतान थी, मां होने का सुख मैंने उसे पहली बार दिया था...

और इतना भी नहीं तो थोड़ा बड़ा होने पर मेरा आदर करता, अदब से पेश आता। मैं उसकी बडी बहन थी और मां ही कहा करती है :

'बड़ी बहन तो मां समान होती है..'

लेकिन नहीं, वह तो मेरा दुश्मन बन कर आया। कम से कम तमाम बचपन मैं उसे अपना दुश्मन ही मानती रही.. अब तो किसी बात की अहमियत ही नहीं रही हमारे लिए... इसीलिए मेरा ध्यान उसकी तरफ भी नहीं जाता...

मां का ध्यान भाई खींचे या उसका स्वास्थ्य मेरे लिए सच्चाई एक ही थी कि मां मुझसे निरंतर दूर होती चली गई थी। दिखाई पड़ने वाला कारण यही था कि भाई के स्वास्थ्य को लेकर वह अधिक चिंतित रहने लगी थी।

भाई के मन का ऊहापोह वही जाने.. जो भी उसे कहना हो कहे या मन में रखे, मुझे उससे क्या लेना-देना था। हां, इतना जरूर कहूगी कि उसके पास शारीरिक सौष्ठव और सौंदर्य था जो देखने वाला देख सकता था लेकिन चांद में कलंक की तरह उसके पैर मे ही ऐब था जिसकी ग्रंथिया उसके अंदर उम्र के साथ बढ़ती गई थी... डाक्टरों का दौर लम्बे अरसे तक चला... मां ने अपना आपा भी खोया फिर संभालती रही और वक्त इसी तरह आगे खिसकता चला गया था।

मैं कह रही थी, मा की अनेक चिंताओ मे एक मै भी थी। मां को इस बात पर आश्चर्य होता कि रोने के मौकों पर मुझे रुलाई क्यों नहीं आती, बड़ी-बड़ी ठण्डे पत्थर-सी मेरी आंखों ने टुकुर-टुकुर देखना ही क्यों सीखा था...

बहुत-सी खामोश आंखें भी बोलती हैं, उनकी एक भाषा होती है जो समझने वाले समझ लेते हैं; लेकिन मेरी आखों की भाषा मूक थी... दर्पण के सामने खड़े होकर जब भी मेरी निगाह उन पर पडी, मेरी समझ में कुछ नहीं आया ! मैंने कभी सोचा ही नहीं कि हरदम विस्फारित मेरी आंखो के पीछे मेरे मन में घटित भाव क्या थे।

मैं बोलती भी कुछ खास नहीं थी लेकिन दांत फाड़ कर हंसने की मेरी आदत से लोग परेशान जरूर थे। सबसे अधिक परेशान थी मेरी मां...

मेरा हृदय मुलायम था, एकदम नरम... शायद रेशम की तरह। मुझे यही लगता था... दूसरे यह बात जानते थे या नहीं मैं नहीं जानती। न ही कभी मैने इसकी फिक्र की थी।

मेरे हृदय की मुलायमियत मेरी मां को मालूम थी कि नहीं मैं यह भी नहीं जांनती। उसने कभी कुछ कहा भी नहीं था...

मैं कह सकती हूं कि मेरा दिमाग शांत था क्योंकि उसमैं कोई हड़कम्प नहीं था।

लोग कहा करते :

'बुद्धि के अभाव ने इसे जिद्दी बना दिया है'... लेकिन मैं इसका प्रमाण नहीं दे सकती कि उनका कहना सच था... लेकिन मेरी मां को उनकी बातों पर विश्वास ही नहीं, उसके लिए यह अतिरिक्त चिंता का विषय भी था।

मेरी मां भविष्यवाणियों पर कितना विश्वास करती हैं मैं नहीं जानती लेकिन हर जानकार, ज्योतिषी, हस्तरेखा पढ़ने वाले को बुला कर वह मेरी नन्हीं, नरम हथेलियां उनके आगे कर दिया करती थी, मेरी जन्म पत्री दिखाती...देर तक खुसुर-फुसुर, न जाने क्या पूछती-सुनती रहती।

कुछ न कहने-सुनने के बावजूद इतना मैं समझती थी कि लड़की हूं इसलिए मेरी मां को मेरे भविष्य की अधिक चिंता थी...

मैंने घर के अन्य बुजुर्ग सदस्यों को कहते सुना था :

'लड़की की जात... अगर भविष्य सुरक्षित नहीं हुआ, अच्छा घर-वर न मिला तो सबसे अधिक कष्ट तो मां को ही मिलता है...'

और मुझे मालूम था कि यह कष्ट मेरी मां को है, अगर मेरा भविष्य सुरक्षित नहीं हुआ...अच्छा घर-वर नहीं मिला तो मेरी मां को बहुत पीड़ा होगी...

'पण्डितों और ज्योतिषियों का क्या...असली बात तो कभी बताते नहीं या गोलमोल करके कह देते हैं... उन्हें तो अपनी दक्षिणा की फिक्र रहती है... लठ्ठमार तरीके से सब कुछ बता दिया तो कोई उन्हें पत्र-पुष्प क्या देगा...' अपने हाली-मोहालियों से मां कहा करती।

'फिर इनके पीछे भागती ही क्यों हो ?' लोग सवाल करते।

मां आत्मसमर्पण की मुद्रा बना लेती :

'क्या करूं, मन नहीं मानता...'

मां अपने मन से मजबूर थी। पण्डितों-ज्योतिषियों की आमदरफ्त में कोई कमी नहीं होती। मेरे भविष्य के उजले पक्ष की दो-चार बातें बता कर वे अपनी दक्षिणा सीधी कर लेते। मां पल भर को खिल-सी जाती और उनके जाते ही फिर किसी अंधेरे कुएं में उतरती चली जाती।

मुझे अच्छी तरह याद है जब मैं तीन वर्ष की थी तव मेरा मुण्डन कराया गया। आप सोचेंगे तीन वर्ष के बच्चे को भला क्या याद रहता है... लेकिन यह बात मैं इतनी बार सुन चुकी हूं कि लगता है मेरी स्मृति की आंखें खुद ही सब कुछ देख चुकी हैं... मेरा मुण्डन हुआ। लेकिन मैं लड़का तो थी नहीं कि ताम-झाम होता। या किसी में कोई इच्छा-उत्साह होता।

सुना था, यूं ही एक दिन पिता के बाल काटने वाले नाई ने आकर मेरे लच्छेदार काले बाल काट दिए...मामू की गोद में बैठी मैं अपने कटे हुए केशों को देखती रही। मन में न दुख था न सुख। मैं ऐसे तटस्थ बैठी थी कि वे बाल मेरे नहीं किसी और

के थे।

मेरा सिर एकदम गंजा हो गया था। तब शायद आया ने झपट कर मेरे सिर पर रूमाल बांध दिया था।

'बुद्ध भगवान की नवोदित बाल शिष्या लग रही है पल्लवी।' किसी ने कहा था।

ठीक उसी समय गोल कमरे से मेरी मां ने मुझे बुला भेजा।

मेरे ननिहाल से कोई मनोवैज्ञानिक मां से मिलने आया था।

मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर मां ने उसकी ओर बढ़ाया। बोली :

'जरा इसे देखिए तो...लगता है उम्र के हिसाब से इसकी उम्र का विकास नहीं हो रहा है। मैं इसकी बुद्धि-परीक्षा करवाना चाहती हूं।' मां की सहमी हुई आवाज जरूर उस समय लरजने लगी होगी।

आगंतुक मुस्कुराए :

'रहने भी दीजिए। आप की बेटी है, होशियार तो होगी ही...'

'नहीं...नहीं... मैं सच कह रही हूं... कोई दुख-पीड़ा इसे व्यापती नहीं। जिन बातो पर दूसरे बच्चे रो-रोकर सारा घर सिर पर उठा लेते हैं उनकी कोई प्रतिक्रिया भी नहीं होती इस पर।'

'बेकार का वहम पाल रही हैं आप। इसकी आंखें देखिए...कितनी चमक है इसकी आंखों में। मंद बुद्धि बच्चों की आंखें डल होती हैं...इस तरह चमकतीं नहीं।'

'आप देखिए तो सही।'

आगंतुक ने मेरा हाथ थाम कर अपनी ओर खींचा। कुछ पूछा भी जो अब याद नहीं...

उस समय शायद मेरे मुंह में जुबान विकसित नही हो पाई थी। लेकिन जुबान तो बाद में भी नहीं खुली। युवावस्था पूरी बेजुबानी में ही कट गई और अब, इस प्रौढ़ावस्था में मैं जुबान की बात करूं भी तो उसका कोई मतलब नहीं होता।

सोचती हूं अब तक की उम्र जब बेजुबानी में कट गई तो 'आख़िरी वक्त अब क्या ख़ाक मुसलमां होंगे...'

बहरहाल, कहने का मतलब यह कि बोलना मैंने देर से शुरू किया...

आया बताया करती थी कि चार वर्ष की होने के बाद बड़ी मन्नत-अनुष्ठानों के बाद मैंने पहला शब्द बोला—पापा।

जाहिर है मेरे मुंह से यह पहला शब्द सुन कर मेरी मां निहाल हो गई होंगी। उसकी खुशी का अंदाजा आप इसी से लगा लीजिए कि पता नहीं कितनी सोने की जीभें बनवा कर उसने अलग-अलग मंदिरों में चढ़वाई...भगवान के प्रति कितनी कृतज्ञता ज्ञापित की।

लेकिन यह तो बाद की बात है। उस दिन उस मनोवैज्ञानिक ने जब मुझे देख

कर कोई निश्चित मत नहीं दिया तो मां को विश्वास-सा हो गया कि असाधारण तो क्या मुझमें साधारण बुद्धि भी नहीं है।

फिर क्या था। मैं अपने परिवार के लिए एक कभी न सुलझने वाली पहेली बन गई।

मां कहती :

'क्या करूंगी मैं इस लड़की का। मेरे परिवार के भाग्य पर तो इसने ग्रहण लगा दिया।

'भगवान ने दी भी तो लड़की और वह भी प्रज्ञाविहीन...

'न जाने पूर्व जन्म में क्या चूक कर बैठी जिसकी सजा इस तरह से दी भगवान ने...'

इसी तरह की न जाने कितनी बातें...

इन बातों को कितना सुना, कितना समझा मैंने, नहीं पता...आज भी मैं अपनी प्रतिक्रियाओं का हिसाब नहीं लगा सकती।

बेशक, इतना याद है कि उस दिन के बाद-बड़ी गम्भीरता से चिंतामुक्त होकर मेरी गतिविधियां देखी-परखी जाने लगीं। मैं क्या करती हूं, कैसे उठती-बैठती हूं, कैसे खाती-पीती हूं, दूसरों के सामने किस तरह आंखें फाड़ कर अपना परिवेश समझती हूं या सबसे अनजान बनी रहती हूं... सब पर नजर रखी जाने लगी।

मेरी परिचारिकाओं को अलग से फुसफुसा कर न जाने कितनी हिदायतें दी जाने लगीं... मेरी अध्यापिकाएं बदल दी गईं... उनमें योग्यता की तलाश अधिक होने लगी थी जो मुझ जैसी मंदबुद्धि बालिका की शिक्षा के प्रति सजग रह सके, जिसे मालूम हो कि मुझ कमअक्ल को कैसे पढ़ाया-लिखाया जाय...

लक्ष्मी की कृपा थी घर पर और मेरी मां ने कोई कोताही न करने का संकल्प-सा ले लिया था।

होनहार तो होकर ही रहता है न... वह तो राजा-रंक नहीं देखता। इतना एहतियात बरतने के बाद भी मेरी पढ़ाई चौथी कक्षा पर आकर अटक गई। पढ़ाई जो होती वह न तो मेरे पल्ले पड़ती थी, न मेरी समझ काम करती थी... क्या कठिन था क्या आसान, मेरे अंदर शायद इसकी सलाहियत भी नहीं थी....

सच्चाई तो यह है कि पहली कक्षा की योग्यता भी मुझमें नहीं थी और किसी तरह मैं चौथी कक्षा में चढ़ा दी गई थी...

कैसे हुआ यह सब, मैं नहीं जानती।

शायद मां ने कुछ ले-देकर, समझा-बुझा कर, रो-धोकर या पारिवारिक परिस्थितियों का हवाला देकर... इस आश्वासन पर कि आगे का कोर्स वह करा देंगी, मुझे खींच-खांच कर चौथी कक्षा तक पहुंचा दिया था।

उनके मन में यह बात भी जरूर रही होगी कि अगर कक्षा में प्रमोशन नहीं

मिला तो मेरा नन्हा-सा दिल टूट जाएगा, उस पर बुरा असर पड़ेगा।

मैं आज तक यह बात नहीं समझ पाई हूं कि मेरी मां ने ऐसा क्यों किया। वह खुद पढ़ी-लिखी है, उसकी समझ में एक छोटी-सी बात यह क्यों नहीं आई कि सभी बच्चे पढ़ने-लिखने में होशियार नहीं होते, या जो बच्चे पढ़ाई-लिखाई में कमज़ोर होते हैं वे किसी और क्षेत्र में तेज हो सकते हैं...

लेकिन तब शायद लड़कियों के लिए कोई अन्य स्कोप था ही नहीं... और किसी भी क्षेत्र में प्रारम्भिक शिक्षा तो जरूरी होती ही है...

मैं जो भी थी, जैसी भी थी, कुदरत की देन थी और मेरी मां खुद विश्वास करती है कि कुदरत किसी के साथ नाइंसाफी नहीं करती। मुझे भी कुछ न कुछ देकर ही भेजा होगा इस दुनिया में। फिर इस बात पर उसे विश्वास क्यों नहीं हुआ।

मेरी पढ़ी-लिखी मां को यह भी समझना था कि बार-बार मंदबुद्धि कहने से कोई बच्चा ज़ेहन लेकर पैदा भी हो तो वह बुद्धिहीन बन सकता है... बच्चों के विशेषज्ञ तो यहां तक कहते हैं कि बच्चों पर गर्भकाल से ही अपने परिवेश की प्रतिक्रिया होने लगती है...

मेरी चतुर मां इससे अनभिज्ञ कैसे रह गई, मुझे आज आश्चर्य होता है। उसने तो मेरी असफलता को अपनी असफलता मान कर दिल से लगा लिया। ऐसे में मेरा क्या होता ! शायद वही जो हुआ...

लोग कहते हैं कि हाथ पर कोढ़ हो जाय तो काट कर नहीं फेंका जाता बल्कि उसे ढक लिया जाता है...

मेरी मां ने ऐसा नहीं किया। बल्कि वह मुझसे कटी-कटी रहने लगी। कहीं आती-जाती तो मुझे साथ कभी नहीं ले गई। कोई मेरे बारे में कुछ कहता-सुनता या मुझे पूछता तो बुलाती भी नहीं थी।

कहीं मैं ज़िद करती तो कठोर हो जाती। मुझे याद नहीं आता कि कभी प्यार से पुचकार कर उसने मुझे बुलाया हो। बल्कि उल्टे मेरे नाम पर उसे लज्जा आने लगती थी।

मैं बेटी की जात थी। मेरा चतुर-चालाक, चुस्त-दुरुस्त होना बहुत जरूरी था। एक आवाज पर सतर्क हो जाना, तितली की तरह फुदकते फिरना अनिवार्य था, वरना मैं किसी बड़े घर की बहू कैसे बन सकती थी, किसी बड़े कुलीन रईस के यहां मेरी पूछ कैसे होती !

उम्र शायद पंद्रह तक पहुंच गई थी।

मेरी देह गदराने लगी। रंग पहले ही गोरा था। अब, चढ़ती हुई उम्र की चांदनी में नहा कर चमक गया। कद भी ख़ासा निकल आया...

'बेटी तो लाखों में एक है, बस दिमाग ही बौना रह गया है !' मुझे देख कर मां ने कई बार अपने आपसे संवाद किया था...

इतना ही नहीं, इस संवाद के बाद वह खामोश नहीं रही, जहां से भी पता चलता, अखबारी विज्ञापनों या लोगों की सलाह-सुझाव के आधार पर मेरे मानसिक विकास के अनेक उपाय भी कर डाले। मेरी शिक्षा के संदर्भ में कितने ही नए प्रयोग किए गए, लेकिन मैं रह गई वही ढाक के तीन पात।

सबकी राय लगभग एक ही रही कि आठ वर्ष की उम्र के बाद मेरा मानसिक विकास रुक गया है। मेरी बात, मेरा व्यवहार इस उम्र में आकर भी आठ वर्ष की बच्ची जैसा रह गया है। और यह भी कि अपने परिवेश की प्रतिक्रिया स्वरूप मैं निपट जिद्दी बन गई हूं।

लेकिन एक बात की मैं कायल हूं और आपको भी मेरी मां को दाद देनी पडेगी। मेरी मानसिक अक्षमता की खबर मां और मेरी शिक्षिकाओ के अलावा और किसी तक नहीं पहुच पाई। मेरी परिचारिकाओ को इतनी समझ नही थी कि दिमाग के स्तर की ऊंची बात समझ पाएं। और इतनी बड़ी हवेली के इतने सारे आने-जाने वालों में किसके पास इतनी फुर्सत थी कि मुझ अदना-सी लडकी जात की तरफ ध्यान देता।

जहां तक मेरा सवाल है, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ा कि किस स्कूल से हटाकर मुझे कहां दाखिला दिलवाया गया... पहली बार मेरा ध्यान अपनी और अपनी पढाई की ओर तब गया, जब मुझे मेरे मामू अपने क़स्बे मे ले गए और वह भी पढाई के नाम पर।

पहली बार अपनी मां और भाई-बहनों से अलग होकर मैं मामू के साथ गई थी। दूसरे शब्दों में मैंने अपना घर छोड़ा था।

मुझे अच्छा बिल्कुल नहीं लगा। और जहां तक मुझे याद है मेरे भाई-बहन भी साथ आना चाहते थे। वह उम्र ऐसी होती है कि घूमने-फिरने को दिल करता है। साथ आने को जिद जो मेरे भाई-बहन करने लगे, मैं जानती हूं मेरे साथ आने या रहने के लिए नहीं था। उन्हें घूमने-फिरने का शौक मुझसे कहीं ज्यादा था, और इसके लिए मुझे चुना गया यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी होगी।

मेरी आया ने मामू से उनकी सिफारिश भी की, कि सारे बच्चे साथ रहेंगे तो मेरा जी भी लगा रहेगा।

लेकिन मेरे मामू ने एक न सुनी। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया कि मेरे सिवाय और कोई नहीं जाएगा और यह कि मुझे भी किसी खास उद्देश्य से ले जाया जा रहा है।

इसके बाद किसी की क्या बिसात थी कि कुछ कहता और नौकर-चाकर तो आखिर नौकर-चाकर ही होते हैं।

कायदे से मुझे यह पता होना चाहिए कि वह खास उद्देश्य क्या है जिसके लिए मामू मुझे ले जा रहे हैं। लेकिन मुझे कुछ भी बताया नही गया।

मा ने एक अच्छा-खासा भाषण जरूर दे दिया :

'मामू के साथ ठीक से रहना, उन्हे किसी तरह की परेशानी नहीं होनी चाहिए तुम्हारी वजह से। जो काम कहे मन लगा कर करना...किसी बात की ज़िद मत करना। कोई बात मन मे आए भी तो रोके रहना, यहा आने पर हम तुम्हारी सारी जिदे पूरी कर देगे... अब तुम बडी हो गई हो, किसी तरह का बचपना मत करना...'

मेरी समझ मे मा की एक बात भी नही आई, न कोई मुद्दा ही स्पष्ट हुआ कि मा क्यो इस तरह की हिदायते दे रही है।

पिता ने जरूर चलते समय मेरे कधे थपथपाए थे :

'डरने की जरूरत नही' उन्होने कहा था, 'मन लगाकर पढना, परीक्षा समाप्त होते ही हम तुम्हे वापस बुला लेगे।'

पढ़ाई और परीक्षा का नाम सुनते ही मेरे देवता कूच कर गए।

आज मैं कह सकती हू कि पढाई और परीक्षा दोनों से मुझे दहशत होती थी। मेरी मदबुद्धि की रामायण इतनी बार पढी गई थी कि मुझे लगता था ये दोनो ही काम मेरे वश के बाहर हैं।

शायद इसी को काम्प्लेक्स कहते हैं। मैं स्वीकार करती हूं कि मुझे यह काम्प्लेक्स था कि पढाई-लिखाई मेरे लिए नही है। आज भी है लेकिन अब वक्त बहुत आगे निकल चुका है। इन बातो की अहमियत अब खत्म हो गई है।

उस दिन पिता की बात सुन कर मेरी आखो मे सागर उमड आया... आंसुओं की झडी लग गई।

अधकचरे मन मे जो प्रश्न उठे, कुछ इस प्रकार थे :

'अगर मुझे पढना ही है तो मैं मामू के साथ क्यो जाऊं ? इतने स्कूल हैं यहां ...मैं इनमे नही पढ पाई तो वहा के स्कूल मे क्या पढ पाऊगी... घर-मा, भाई-बहन से अलग मैं रह कैसे पाऊगी ? ठीक है मुझे कोई चाहता नहीं, भाई-बहन भी मुझसे कतराते हैं लेकिन वहा, इतनी दूर मेरी पढाई की क्या व्यवस्था होगी...'

लेकिन ये सारे प्रश्न मेरे अदर कुलबुलाए थे। इनमे से किसी की मजाल नहीं थी जो मेरे होठों तक आते...

मेरी समझ मे आज भी नही आता कि बचपन में मुझसे इतने सारे स्कूल क्यों बदलवाए गए।

मुझे याद है मेरा रिपोर्ट कार्ड देखकर मेरी मां हमेशा सिर झुका लिया करती थी। लगता था उसकी गर्दन पर कोई जबर्दस्त झटका लग गया हो। उसका मुंह फक्

पड़ जाता था। घण्टों वह किसी से बात नहीं कर पाती थी।

मां के तनाव का एक कारण और अब मेरी समझ में आया है। मेरे पिता से शायद उसकी कभी नहीं बनी। उसके मन का प्रमुख तनाव यही रहा होगा। ऊपर से मेरी असफलता और कुलदीपक मेरे भाई का पैर... कुल मिलाकर चिंता के चाबुकों से लगातार वह पिटती ही चली आई थी।

मैं उन तमाम रातों की साक्षी हूं। मैंने कई बार देखा था कि जब कमरे में कोई न होता तो दिन में भी मां दोनों हाथ सीने पर दबाकर सिसकियों से रोने लगती। कभी-कभी सिसकियां तेज हो जातीं, घिघ्घियां बंध जातीं...आज भी मां का वह घुटा हुआ रुदन मेरा पीछा करता है...

उस दिन मामू के साथ जाने की बात पर जैसे कोई क़हर टूट पड़ा था मुझ पर... जब मेरी सांस अंदर ही अंदर उलझ कर टूटने लगी तो आगे बढ़ कर मामू ने मुझे गले से लगा लिया...

कितना पुचकारा, कितना प्यार किया, कितना बहलाया-फुसलाया, कि मैं उनके साथ खुशी-खुशी चली जाऊं, इसका हिसाब आज लगाना मेरे लिए मुश्किल ही नहीं असंभव भी है।

बहरहाल, टूटे हुए मन से, सबसे विदा-विदाई लेकर अंततः मैं गाड़ी में सवार हुई...

रेल यात्रा का यह मेरा पहला मौक़ा था, थोड़ी-सी उत्सुकता, ज़रा-सा उत्साह, इस यात्रा के प्रति जाने कहां से निकल कर मेरी चेतना में मुखर होने लगा।

मैं धीरे-धीरे खिसक कर खिड़की वाली सीट पर बैठ गई।

उस दिन से लेकर आज तक यात्राएं बहुत कीं, मोटर में बैठ कर... हवाई जहाज में उड़ कर... लेकिन वह एक यात्रा जितना सुख मुझे दे गई और किसी यात्रा ने कभी नहीं दिया...

खिड़की पर बैठी, पीछे भागते नजारों को कितनी देर मैं निहारती रही, मुझे याद नहीं, उपवनी दुनिया के नजारे, खिसकते हुए खेत, पेड़-पौधे, छोटे-छोटे दिखाई पड़ने वाले खेत-मजदूर... मैंने तो इन्हें पहले कभी नहीं देखा था, न इनकी कोई शाब्दिक छवि थी हवेली की हमारी उस दुनिया में...

शायद मैं नएपन से थक गई थी, नजारों पर गड़ी-गड़ी आंखें दुखने लगी थीं...मां का चेहरा सामने आ गया। पेट में एक गहरी मरोड़ उठी।

अचानक लगा मैं अपने परिवेश से अलग हो गई हूं... मां मेरे साथ नहीं है। आगे वाले समय में भाई-बहन, घर-आया, यहां तक कि मेरा कमरा भी नहीं होगा...गले में एक बड़ी रूखी-सी सख्त चीज आकर अटक गई। आंखों में जैसे कोई

सागर उमड़ आया।

अकेलेपन, परिचित चेहरों के दिखाई न पड़ने की कल्पना मात्र से मेरे रोंगटे खड़े हो गए। मां की याद धुकधुकी बन कर सांसों से लिपटने लगी...

जी कड़ा करके मैं कार्यकारण पर विचार करने लगी। मेरी असफलताएं एक-एक कर मेरी आंखों में उतरने लगीं... स्कूलों से मिली तटस्थता मेरी रंगों में चीटी की तरह रेगने लगीं। हताशा के अक्षर मेरे अंतर में अंकित होने लगे...

बहनों की सफलता, सब ओर से मिले उनके लिए प्रशंसा के शब्द, उनकी भोली चपलता के प्रति नाते, रिश्तेदारो, हाली-मोहालियों की अभिव्यक्ति, मुग्ध भाव...सभी कुछ मेरे हृदय के नुक्कड़ पर जैसे कोई लिखने लगा। शर्म और हिकारत से मेरा सिर झुकने लगा...

'लगता है मेरी रानी बिटिया थक गई है ?' मामा आकर बगल में बैठ गए। मेरे नन्हे-नन्हे हाथ अपनी सशक्त हथेलियों में रख कर सहलाने लगे।

मुझे बड़ी जोर से रुलाई आई, लेकिन मामा के सामने रोने का मन नही किया। मैने अपनी आखे बद कर लीं और मामा के कंधे से टिक गई जैसे मुझे सचमुच नींद आ रही हो।

थोडी देर मामा उसी तरह बैठे मेरा हाथ सहलाते रहे, फिर धीरे-धीरे मेरा सिर अपनी हथेली में टिका कर उठे। दूसरे हाथ से सिरहाना ठीक किया और बड़ी सावधानी से मुझे बिस्तर पर लिटा दिया जैसे मैं गहरी नीद मे सो रही होऊं, जबकि सच्चाई यह थी कि दूर-दूर तक मेरे आसपास नींद का नाम नही था।

दिमाग में बहनो की सफलताए हथौड़े की चोट कर रही थीं :

'ईश्वर ने मुझे वह बुद्धि क्यो नहीं दी जो मेरी बहनो के हिस्से में आई...'

'मै अपनी कक्षा में बैकबेचर क्यो बनी रही...?'

'अपनी बहनो की तरह शुरू से मैं एक ही स्कूल में क्यों नहीं रखी गई ?'

'मुझे देखते ही मेरी मा के चेहरे पर चिता के बादल क्यों उमडने लगते हैं ?'

'पढाई के नाम पर घर से अलग करने की बात मेरी मा ने कैसे सोच ली ? यह बात मेरे किसी और भाई-बहन के लिए क्यों नहीं सोची गई ?'

'क्या सचमुच भगवान ने मुझे दिमाग नहीं दिया, मै बुद्धू-बेवकूफ बन कर इस दुनिया मे आई हू ?...'

गाड़ी समय से ठीकठाक चल रही थी। दूसरे दिन नियत समय हम मामा के घर पहुंच गए। लोग अजीब लगे लेकिन नई जगह की उत्सुकता भी मैं लगातार महसूस करती रही। उस दिन खाना और सोना दो ही काम तय किया मामा ने मेरे लिए।

कयामत का दिन दूसरी सुबह आया, जब मामा मुझे लेकर स्कूल में पहुंचे

दाखिला करवाने।

मेरा दिल अस्थि-पंजरों को तोड़ कर बाहर निकल जाने के लिए कितना फड़फड़ाया यह तो मैंने कभी किसी को नहीं बताया लेकिन वह तड़प मैं आज भी भूली नहीं हूं। मामा मुझे लेकर प्रिंसिपल के कमरे से इधर-उधर दौड़ते रहे, अलग-अलग विषय की बहनजियों से मुझे मिलवाते रहे और मैं किसी नींद में चलने वाली रोगिणी की तरह उनके पीछे-पीछे इधर से उधर होती रही।

बहरहाल, मेरा दाखिला हो गया। क़ायदे से मुझे खुश होना चाहिए था। यहां मामा की पहुंच थी, मुझे कोई उपेक्षित नहीं कर सकता था। छोटी जगह थी, सबका ख्याल सब रखते थे क्योंकि सबसे, सबको काम पड़ता...

लेकिन मेरे हृदय में ईर्ष्या का सांप लोटता रहा यह सोच कर कि जहां मेरी बहनें अंग्रेजी स्कूलों में भेजी गईं कड़क यूनिफार्म पहना कर, वहां मुझे एक कस्बाई शहर के मामूली से स्कूल में क्यों भेज दिया गया।

मुझे यह ख्याल भी आता रहा कि जहां मेरी बहनें अपनी मोटी चोटियों में रिबन बांध कर पिता की मर्सिडीज़ में बैठ कर स्कूल जाती होंगी, वहां मैं इस छोटे शहर में, मामा की खटारा में बैठ कर और वह खाली न हो तो रिक्शे में बिठा कर स्कूल भेज दी जाती हूं, यहीं की बहनजियों की तरह...

मेरा दिल रो पड़ता था यह सोच कर कि किस मनहूसियत में पहुंच गई थी मैं...

मामा कभी मेरे पास बैठ कर देर तक मुझे समझाते :

'फिक्र क्यों करती है... थोड़े दिनों की बात है... यहां स्कूल में सब लोग तेरा ख्याल रखते हैं, तू तरक्की भी करेगी... वहां के स्कूलों में बच्चों की इतनी पूछ तो नहीं हो सकती न...

'यहां से डिग्री लेकर जब तू वहां जाएगी तब आगे की पढ़ाई के लिए तेरे दाखिले में कोई परेशानी नहीं होगी...

'कौन तुझे हमेशा के लिए यहां रहना है... लेकिन लाड़ो, रहना तो तुम्हें वहां भी नहीं है... जब तक घोड़े पर सवार कोई राजकुमार आकर ले नहीं जाता, बात तो तभी तक की है...'

अपने उस स्कूल की याद करती हूं तो आज भी दहशत होने लगती है। काठ की पेटी की तरह स्कूल के बंद कमरे...

अंधेरों में बदबू भी होती है, यह वहीं जाकर पता चला था मुझे। ऐसे किसी कमरे में जाकर रहने का नसीब कभी दुश्मन का भी न हो, मैं आज भी दुआ मांगती हूं...

कक्षा में जो मास्टरनियां पढ़ाने आतीं, उन पर एक नज़र डालना ही उनकी शारीरिक-मानसिक क्षमताओं के लिए पर्याप्त था...

तेल से तर-ब-तर बालों को खींच कर पीछे बांधी गई चोटियां या जूड़े, काले चेहरों पर चूने की तरह पुती पाउडर की सफेदी... देख कर मुझे उबकाई आने लगती।

कक्षा में बैठने के लिए टूटी-फूटी, मैली-कुचैली मेज-कुर्सियां... पहले दिन उन्हें देखते ही मैं सन्नाटे में आ गई थी...

लेकिन रहना तो वहीं था। मेरे लिए जितने भी दिन, महीने, बरस मेरे शुभचिंतक अभिभावकों या संरक्षकों ने तय किए थे वे तो काटने ही थे।

इसके विपरीत जाने की संभावना दूर-दूर तक नहीं थी, जो मिल रहा था उसी में सुख-संतोष ढूंढना था, मिले या न मिले... मैं नकार तो नहीं सकती थी...

मैंने मन ही मन सोच लिया, जैसे भी हो, दिन काट लूंगी... अपनी राह पहचानने और उस पर चलने की कोशिश करूंगी... उन बातों को मन से दूर रखूंगी जिनसे दिल को चोट लगती है, मन पीड़ित होता है...

मां की याद आने लगती तो मैं जबरन मां के प्रति अपने मन की कटुताएं खुरचने लगती, जो मां के प्रति कभी जागी थीं जब मैंने देखा था कि दूसरों से बचा-खुचा स्वादिष्ट व्यंजन ही मां मेरी थाली में डालती है, या दूसरों की नापसंदी वाले कपड़े ही मां, मेरी पसंद बना कर मेरे तन पर डालती है।

मैं कोशिश करके वे दिन भी याद करती जब मां दूसरों के सामने न निकलने की मुझे हिदायतें दिया करती ताकि मेरी किसी ऊल-जलूल हरकत से उसकी बेइज्जती न हो जाय...

आज मुझे लगता है, अपने खानदान का, धन-दौलत और अपने मायके की रूढ़ियों का कितना गरूर मेरी मां मे रहा होगा कि अपनी संतान को भी वह बख्श नहीं पाई, न उसके मन की ममता, कभी अपना सिक्का उस पर भारी कर पाई...

ऐसी अनेक बातें हैं जो मां के प्रति मन में आक्रोश भर सकती हैं। लेकिन मोटे तौर पर मां को लेकर मेरा दिल अक्सर नरम ही रहा और कभी कुछ देर की गरमी आई भी तो वैसे ही निकल गई जैसे आई थी।

मेरी मां धर्मभीरु है। उस समय उस कच्ची उम्र में भी उसकी धर्मभीरुता मुझ पर जाहिर थी, सिर्फ यह शब्द नहीं मालूम था उस वक्त। वह कहती :

'घर सराहे वह खाओ और लोक सराहे वह पहनो'...

मुझे बड़ा अजीब लगता। जब पेट अपना है, मुंह अपना है तो दूसरों की मंर्जी से क्यों खायं और जब तन अपना...मन भी अपना तो लोक के सराहने योग्य कपड़े क्यों पहनें ? जो मर्ज़ी आए खाएं, जो मर्जी आए पहनें...

मन करता कभी मां से मन की बात कह दूं लेकिन उसका तना हुआ गम्भीर

चेहरा देख कर मेरी हिम्मत हवा हो जाती। कहीं यह भी सच था कि अपनी किसी बात या आचरण से मां का दिल दुखाना मैं नहीं चाहती थी...उसके अनंत दुखों को मैं जानती-समझती बेशक न होऊं मेरे मन में हमदर्दी कम नहीं थी।

मां के मन का यह लोकभय मेरी बहनों को भी सख्त नापसंद था। पीठ पीछे आपस में अपना असंतोष वे जाहिर भी करतीं लेकिन मां के सामने जबान खोलने की हिम्मत किसी में नहीं थी।

जैसे-जैसे हम बहनों की उम्र बढ़ती गई, मां के मन का लोकभय भी उसी अनुपात में बढ़ा। मुझे तो कभी-कभी यहां तक लगता कि मां के मन में लोकभय जितना है उतना भय ईश्वर के प्रति भी नहीं है।

चलिए, भय की बात यहीं छोड़ कर असली मुद्दे पर आते हैं और वह असली मुद्दा है मेरी पढ़ाई...

मामू ने स्कूल में दाखिला बेशक दिलवा दिया, हमारी टीचरों ने मेहनत से मुझे पढ़ाना भी शुरू किया लेकिन मैं अपने मन के लिए कुछ भी न कर पाई, न कोई और कर पाया जो पढ़ाई के नाम पर रस्सा तुड़ा के भागने में अब तक माहिर हो गया था।

पढ़ाई शुरू हो गई थी लेकिन मेरे दिमाग के दरवाजे इतने कस कर बंद हो चुके थे कि शिक्षा की कोई किरण वहां जा ही नहीं सकती थी। शिक्षक पढ़ाते जैसे बीन बजा रहे हों, और मैं भैंस की तरह बैठी-बैठी पगुरा रही हूं।

मुझे शर्म भी आती, मेरा जमीर जागता कि जब ये सब इतनी मेहनत कर रहे हैं तो थोड़ी मेहनत मैं क्यों नहीं कर पाती ? लेकिन इस शर्म आने या जमीर जागने से कोई फर्क नहीं पड़ता था।

अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद मैं खुद को वदल नहीं पाई...

मामू के घर मेरी खातिर बहुत थी। मुझे प्यार भी करते थे लोग। मुझे अच्छा लगता। अपने प्रति मन में नकार के भाव काफी कम होने लगे। कोई ताना, कोई उलाहना नहीं। बहनों की तरह मुझे नीचा दिखाने वाला भी यहां कोई नहीं था...

घर-परिवार, मां, भाई-बहन की प्राथमिकताएं मेरे मन से बदलने लगीं।

आदर, प्यार, अच्छा खाना, दूध-मलाई... धीरे-धीरे मेरे स्वास्थ्य पर निखार आने लगा... थोड़े ही समय में अपनी उम्र से छः-आठ वर्ष बड़ी दिखाई पड़ने लगी मैं.. मामू खुश थे, पढ़ाई न सही स्वास्थ्य के क्षेत्र में सही, मैंने तरक्की तो की...

धीरे-धीरे छुट्टियों का मौसम आ गया।

मां का खत आया मामू के नाम कि मुझे लेकर वापस आ जायं।

लेकिन वापस जाने के दिन से पहले परीक्षाओं की वैतरणी पार करनी थी

मुझे इस बात की दहशत तो थी लेकिन मामू ने जो व्यवस्था की उसका भी कोई जवाब नहीं हो सकता।

वह युग परदे का था। पर्दे में छिपी इम्तहान देने वाली बेटी है या बहू यह इम्तहान लेने वाले को तो पता नहीं रहता।

परदे के अंधेरे में इम्तहान देने मेरे बदले कौन बैठा, मैं नहीं जानती, लेकिन नतीजा मेरा ही आया... मेरे मैट्रिक पास होने का तार जब कोठी पर आया तो मैं अपनी मां के पास आ चुकी थी।

मां तो आश्चर्यचकित रह गई। पर हाथ कंगन को आरसी क्या... उनके त्वरा से उठे हुए हाथ में मैंने तार थमा दिया।

मां ने तार खोला, उलट-पलट कर उसे देखा। फिर एक गहरी नजर मुझ पर डाली।

मां की उस नजर में प्यार था, दया थी, आश्चर्य था, अविश्वास था या क्या था, मैं आज तक नहीं समझ पाई। लेकिन उस दिन भी इतना स्पष्ट था कि वह नजर पहले वाली नहीं थी, उसमें ऐसा कुछ था जो पहले कभी नहीं था। मां की वह नज़र नितांत अलग थी।

मैट्रिक में इतनी अच्छी तरह मेरा पास हो जाना एक मनुष्य निर्मित करिश्मा था।

आप ही बताइए, इस तरह के करिश्मों के सामने नियति कुछ कर सकती है किसी का ? और मेरी नियति तो मेरी मां ही बन गई थी...

यह लिखते समय मेरे मन के आकाश पर ऐसी अनेक स्थितियां उमड़-घुमड़ आती हैं, अपने में भीगी हुई, काले-सरस बादलों की तरह, कि मैं निर्वाक रह जाती हूं। स्मृतियों की बरसात इतने तेवर से होने लगती है कि सावन की कड़क बौछारों से आहत होने जैसी हालत हो जाती है... शरीर क्षत-विक्षत जान पड़ता है लेकिन वाक् शक्ति स्थिर हो जाती है, जबान को लकवा मार जाता है जैसे... मेरी जिंदगी में उल्लेखनीय कुछ भी नहीं रहा लेकिन आज आंधी में उड़ते-खड़खड़ाते पत्तों की तरह मैं स्थान-स्थान, नुक्कड़-नुक्कड़ जाकर अपना मौन बिखेर देना चाहती हूं।

अपने स्वच्छंदता प्रिय मन को जितना मैं संवारना चाहती हूं उतना ही यह मुक्त उड़ता चला जाता है। काल का कोई भी प्रवाह हो इसे रोकना मेरे लिए नामुमकिन है... मैं कोई तर्क भी सामने नहीं रख पाती क्योंकि उसकी स्पष्टता मेरे लिए धुंधली है।

अपनी इस विवशता में मैं नितांत अकेली पड़ जाती हूं। कभी-कभी यह भी लगता है, इस तरह उड़ते-उड़ते मैं कहां पहुंचूंगी, किस मंजिल की तलाश है मुझे ? यह उड़ना मेरे वश में क्यों नहीं ? कभी लगता है इस तरह तो मैं न घर की रह पाऊंगी न घाट की...मेरा या मेरी जिंदगी का हश्र क्या होगा ?

इस तरह के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं होता, मां कहती है। पता नहीं कैसे मेरे मन के बवण्डर उस पर जाहिर होते चले जाते हैं... मैंने तो जबान खोल कर आज तक उससे कुछ नहीं कहा...

लेकिन मां नाम के फरिश्ते को अपने औलाद के कहने-सुनने का इंतजार नहीं रहता शायद...

अपने मन की कुछ अंतरंग बातें अपनी हमउम्रों से कह कर मैं यह जानना चाहती थी कि क्या उनके मनों में भी यही हलचल मची रहती है, लेकिन अपने पर कभी इतना भरोसा नहीं कर पाई कि एक बार अगर किसी के सामने खुली तो जहा चाहूंगी वहां खुद को रोक भी लूंगी, इसलिए कभी खुली नहीं किसी के सामने। और इस न खुलने की प्रक्रिया में तमाम जिंदगी अकेलेपन से ही जूझती रही।

मन में कभी दार्शनिक सवाल भी उठते...

मेरा जन्म क्यो हुआ ? किस उद्देश्य से मैं इस दुनिया में आई ? अपना योगदान, इस दुनिया-समाज को मैं कैसे दूं... ऐसा क्या हो सकता है जो मेरे लिए भी सहज रहे और दूसरे भी उसे जटिल न मानें ?

बिगड़े हुए बच्चे की तरह यहां-वहां, भटक-भटक कर यह जिंदगी लिए मै कहा पहुंचूंगी...किसी भी महत्वपूर्ण घटना से नहीं बंध पाया मेरा जीवन... क्या जिंदगी से मिलने वाले प्यार में कही कोई कमी रह गई ?...

इन या इन जैसे अन्य दार्शनिक सवालों का भी कोई जवाब नहीं होता या जिन्हें जवाब मिलता है उनके अंदर अपने जवाब खुद ही गढ़ने की क्षमता होती है जो शायद मुझमें नहीं थी। मैंने एकाकी रह कर ही एक पूरी जिंदगी का हिसाब-किताब लगाया है। बहुत सोच-समझ कर आज मैं इसी नतीजे पर पहुंचती हूं कि किसी तरह अगर किसी को संगिनी की परिभाषा में बांध पाऊं तो मेरी एक ही संगिनी थी—मेरी आया।

वह मुझे चाहती भी थी... उसी का स्नेह-सद्भाव मुझे वह ताक़त दे पाया जिसके सहारे यहां तक की जीवन-यात्रा मैंने पूरी की है। लेकिन उसके पास भी वह दिमाग तो नहीं था जो हमारे तबके की लड़कियों में अपेक्षित है। उसकी शिक्षा-दीक्षा भी नहीं थी।

उम्रदराज थी, मां की सहेली बन कर उसके साथ 'दाज' में आई थी जो धीरे-धीरे धात्री की भूमिका निभाने लगी। वह कुंवारी थी, दुनिया-जहान, घर-गृहस्थी में सिर उठाने वाली गोपनीयताओ से अनजान। मुझे एक पूरी जिंदगी का सबक वह कैसे दे सकती थी ?

लेकिन मेरा साथ दिया उसने आखिरी सांस तक...

उसके लिए अपने मन की भावनाओं को मैं कभी परिभाषित नहीं कर पाई। अब कुछ कहने का मन करता है लेकिन उसे सुनने का अधिकार मैं किसी और को

तो नहीं दे सकती और वह इस दुनिया में है नहीं...

दिमाग एक क्रम से सोचने का काम कभी नहीं कर पाता या शायद मेरे ही दिमाग मे यह खराबी है। स्मृतियों पर किसी का वश नही... मेरी भावुकता मुझे कहीं से कहीं भटका ले जाती है... मैंने कुछ कहना शुरू किया था अपने बारे में। आइए, उसी मुद्दे पर लौट चलते हैं...

उम्र के उस मोहाने पर पहुंच गई थी मैं जहा प्यार की भूख जागती है। किसी को प्यार करने या किसी से प्यार पाने का मन करता है...

जिस परिवेश में मैं बडी हो रही थी, उसमे यह प्यार सबसे पहले जानवरों के माध्यम से सामने आता है। पालतू जानवर अगर पहले से घर मे हैं तो उन्हे सहलाने, प्यार करने मे बडा मजा आता है, नहीं है तो बढते हुए बच्चों का मन कुत्ता-बिल्ली पालने की ओर मुखातिब होता है .. घर में इजाजत नहीं मिली तो यह काम चोरी-छिपे होता है.

उस दिन ग्रह-नक्षत्र ठीक थे जब पिता से मैंने एक प्यारी-सी कुतिया रखने की इजाजत मागी..

मुझे मालूम था घर मे कुत्ता-बिल्ली पालने के सख्त खिलाफ थे मेरे पिता, लेकिन पता नही कैसे मैं उस दिन आदत के विरुद्ध मुखर हो गई थी...

पहले तो पिता ना-नू करते रहे। लेकिन मैं भी ज़िद पर अड़ ही गई।

इतनी हिम्मत तो नही थी कि उनके मना करने के बाद भी मैं कुतिया को घर लाऊं, लेकिन रोना तो अपने हाथ में था सो मैंने बड़े पैमाने पर रोना-धोना शुरू कर दिया। खाना-पीना छोड़ दिया...

नाज़-नखरो में पली सतानें ऐसे मौक़ो पर बीमार पड़ जाती हैं। मुझे भी बुखार आ गया। पित्त सिर पर चढ़ गया था इसीलिए उल्टियां भी आती रहीं। दो-तीन दिन के अदर ही मै लस्त-पस्त हो गई। कभी बुखार या उल्टियां तेज हुई तो कराहते हुए भी मैं 'पोपी-पोपी' ही बड़बड़ाती रही।

हार कर पिता ने 'हा' भर दी। और इस हामी ने तबीयत की बिगड़ी हुई गाड़ी दुबारा अपने गियर पर खड़ी कर दी।...

आप सोचेंगे यह पोपी कौन थी, इसके बारे में तो मैंने अभी कुछ बताया ही नहीं...

बात यूं हुई कि मेरी जान-पहचान की एक लड़की थी—सुरेन्द्र। वैसे तो सही अर्थों में वह मेरी सहेली नहीं थी लेकिन उस समय यह खिताब उसे हासिल थी क्योंकि वह मेरी हमउम्र थी; मेरे साथ कभी पढ़ने भी जाया करती थी, मेरी ही तरह सीधी-सादी कही जाती थी।

मेरी-उसकी दोस्ती में सबसे बड़ी बाधा थी हमारी आर्थिक स्थितियां। सुरेन्द्र

एक मामूली परिवार की लड़की थी। उसकी मां यह सोचती थी कि बड़े घर की बेटी के साथ रह कर कुछ सीख लेगी, वक्त अच्छा गुजर जाएगा। कुछ फायदा ही होगा। और मेरी मां का विचार था कि लड़की अकेली है, बड़ी हो रही है, हमउम्र कोई साथ रहा तो अच्छा ही होगा।

वही सुरेन्द्र एक कुतिया कहीं से उठा लाई या कोई भूली-भटकी उसके घर यूं ही आ गई और सुरेन्द्र ने उसे अपना खिलौना बना लिया। उसे नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने लगी। थोड़े ही दिनों में वह कुतिया उससे सध भी गई।

सुरेन्द्र जब मेरे घर आती तो उसे साथ ले आती। धीरे-धीरे मुझे भी वह अच्छी लगने लगी। घण्टों बैठ कर हम उसी के साज-शृंगार में वक्त बिताते। जब कभी वह नहीं आती तो फोन पर हम उसकी बात करते... हम दोनों के बीच एक जीवत विषय बन गई थी पोपी।

एक दिन सुरेन्द्र अकेले ही आई और कहने लगी :

'वहुत बडी उम्मीद लेकर आई हूं, पल्लवी, मेरा एक काम तू करेगी ?'

मेरा दिल धडकने लगा कि पता नहीं किस मुसीबत में फंस गई है मेरी सहेली। पता नहीं कौन-सी उम्मीद लेकर आई है।... क्या मदद मांगने वाली है। मैं उसकी कोई मदद कर भी पाऊंगी या नहीं... पलक झपकते अनेक विचार मेरे मन में ऊपर-नीचे होने लगे, लेकिन उन सब पर काबू पाते हुए मैंने उससे पूछा :

'क्या बात है ? बता तो सही।'

सुरेन्द्र रोने लगी। उसके साथ मेरी आंखों में भी सावन-भादो उमड़ने लगा।

'अब बताओ भी... पोपी को कुछ हो गया है क्या ? क्या मदद चाहिए तुम्हें ?' मैंने डरते-डरते उससे पूछा।

उसका रोना और तेज हो गया।

मैं खुद भी रोने लगी। रोती-रोती उसे तसल्लियां भी दे रही थी :

'देखो, मुझसे किसी का रोना नहीं देखा जाता, और तुम तो मेरी बेस्ट फ्रेण्ड हो। तुम्हारे बिना कितनी अकेली हो जाती हूं मैं। तुम जानती हो जितनी तुम्हें मेरी जरूरत है उससे कई गुना ज्यादा मुझे तुम्हारी जरूरत है। मेरी बहनों को तो जानती हो, मुझे पूछती भी नहीं, न मुझसे बात करती हैं, न अपने साथ मुझे कहीं ले जाती हैं... सारा घर सिर पर उठाए रहती हैं। एक मां को छोड़ कर किसी की परवाह भी नहीं करतीं...

'कहने को मैं उनसे बड़ी हूं लेकिन मुझे कोई पूछता भी नहीं... सारा आदर-सम्मान उन्हीं को मिलता है... एक तुम हो जो मेरे पास आती हो, मेरी परवाह करती हो। मुझसे जो कुछ हो सकेगा मैं जरूर करूंगी। तुम बताओ तो सही बात क्या है ?'

सुरेन्द्र ने आंसुओं से तर अपनी आंखें हाथों से ही निचोड़ लीं। एक बार मेरी

ओर देखा, फिर कहने लगी :

'वह मेरी पोपी है न... कल रात उसने चाची को काट खाया... तभी से मेरे घर में कोहराम मचा है। चाचा झपट कर पोपी को उठा ले गए, उसे इतना मारा कि मेरा दम घुटने लगा... उठा कर उसे पता नहीं कहां फेंक आए हैं... मैं ढूंढ़ने निकली थी। मोहल्ले के कुछ लड़कों ने पोपी को छिपा लिया है ताकि चाचा को वह दिखाई न पड़े... मैंने उनसे एक दिन की मोहलत मांगी है कि उसके बाद मैं पोपी को ले जाऊंगी।

'इधर चाचा ने घर में आफत मचा रखी है। कहते हैं इस घर में मैं रहूंगा या यह बदसूरत कुतिया... अब बताओ पल्ली, मैं क्या करूं ?

'पोपी को मैं छोड़ नहीं सकती, चाचा उसे घर में रहने नहीं देंगे। पड़ोस के लड़के भी एक-दो दिन छिपा लेंगे। बाद में तो पता चल ही जाएगा। मुझे तो डर लग रहा है कि कहीं चाचा उसे जान से न मार दें...'

मुझे पोपी के लिए नए सिरे से रोना आने लगा... लेकिन यह बात फिर भी मेरी समझ में नही आई कि मैं किस तरह सुरेन्द्र या पोपी की मदद कर सकती हूं।

'मैं क्या करूं सुरेन्द्र, मैं तो किसी को जानती भी नहीं...' मैंने कहा।

'अब तो पोपी के लिए तुम्ही कुछ कर सकती हो।' सुरेन्द्र संभल गई थी, उसने अपनी बात पूरी की, 'यहा पोपी को कोई कुछ नहीं कहेगा। वह आराम से रहेगी, अच्छा खाना-पीना मिलेगा... मेरे यहां से तो बहुत अच्छी रहेगी यहां... पता नहीं यह बात पहले ही क्यो नहीं आई मेरे दिमाग मे...

'तुम तो जानती हो, पोपी कितनी प्यारी है;' सुरेन्द्र फिर रोने लगी, 'कितना चाहती है मुझे... कहीं, किसी दोस्त के घर चली जाऊं, लौटने में थोड़ी देर हो तो पोपी खाने को मुह नहीं लगाती। दिन-दिन भर भूखी बैठी रहती है...

'लौट कर हाथ से एक-एक लुकना तोड़ कर रोटी दूं तभी उसके गले से नीचे उतरता है...' सुरेन्द्र ने आंसू पोंछ कर नाक-गला साफ किया...

'देखो पल्ली, तुम्हारे पास मेरी पोपी रहेगी तो समझूंगी मेरे ही पास है, तुम उसे रखोगी न ?'

मेरा गला भर आया। सुरेन्द्र का हाथ अपने हाथ में लेते हुए मैंने उसे आश्वासन दिया :

'देखो सुरेन्द्र, पोपी से मुझे भी कम प्यार नहीं है... जिस तरह उसे यहां कभी-कभी आने की इजाज़त मैंने मांग ली थी... उस समय पोपी कितनी छोटी थी, बार-बार जाकर ड्राइंग रूम की कालीन पर 'पी' कर आती थी... अब तो कुछ बड़ी भी हो गई है, तुमने उसे सिखाया भी है... घर में गंदगी नहीं फैलाती... तुम उसे ले आओ। हम सहेलियां हैं, एक-दूसरे के काम नहीं आएंगे तो कौन आएगा ?'

मैंने कह तो दिया लेकिन हमें क्या मालूम था कि पिता एकदम सख्त पड़ जाएंगे,

मुझे एक तरह से बीमारी का सामान जुटाना पड़ेगा... सर्दी, जुकाम, खांसी... बुखार...उल्टी..

जो भी हो... मैंने अनजाने ही अपनी सहेली को वचन दिया और जैसे भी बना उसे निभा दिया। एक कठिन स्थिति से वह तो उबर गई लेकिन वही कठिन स्थिति एक जेवड़ी की तरह मेरे गले में आज तक बंधी पड़ी है.. न मैं इसे काट कर फेंक सकती हूं, न ही इससे नजात पा सकती हूं...

घर में अब मेरे दो साथी हो गए थे–एक मेरी आया और दूसरी पोपी। किताबों को उलटने-पलटने के बाद का मेरा वक्त इन्हीं दोनों के बीच बीतता था...

पोपी के आने से थोड़ी-बहुत परेशानियां मेरे लिए पैदा हुईं पर इतनी नहीं कि मैं उनका मुकाबला न कर सकूं...

पोपी को देख कर बहनों ने मुंह बिगाड़ा... भाई, जो मेरा हमउम्र था, पोपी को फूटी आंखों नहीं देख पाता था। पोपी को लेकर बात-बात पर मुझसे उलझ पड़ता, तंग करता, चिढ़ाता लेकिन पिता की इजाजत मिली थी मुझे, कोई क्या कर सकता था...

पोपी और सुरेन्द्र को कोसना ही रह गया था मेरे भाई-बहनों के हिस्से में और धीरे-धीरे मैंने इस ओर ध्यान देना बंद कर दिया...

हम भाई-बहनों के आपसी टण्टे तोड़ने में मेरी आया का भी जवाब नहीं था...भगवान उसकी आत्मा को शान्ति दे। अब तो कोई इस तरफ ध्यान ही नहीं देता। टण्टे हैं तो हैं... उन्हें दूर करने की चिंता भी किसी को नहीं रहती... अपनी-अपनी जगह सभी मुंह टेढ़ा किए घूमते रहते हैं... आपसी संवाद तो एकदम ख़त्म ही हो गया है...

मेरा भाई मुझसे आज भी बात नहीं करता। मेरा उसका झगड़ा ज्यों का त्यों है...

एक पोपी की जगह अब मैं दो कुत्तों की स्वामिनी हूं और उन्हें हाथ के छाले की तरह रखती हूं... घर-परिवार-दुनिया कुछ भी कहे अब मुझे किसी बात की परवाह नहीं...

पर मेरे भाई की बात और है... बचपन में जिस कमरे में मैं रखी जाती उसी के बगल में भाई का कमरा था। मां, भाई-बहन में कोई जाहिरा तौर पर कोई भेदभाव नहीं करती थी लेकिन जितना भी कोशिश करूं–भाई से मुझे आज भी डर लगता है, मानूं या न मानूं... और यह डर बचपन से ही समाया हुआ है मेरे मन में...

मेरा भाई हट्टा-कट्टा, ऊंचा कद-काठी का जवान... किसी बात पर क्रोधित हो गुस्से में चलता है तो मेरा दिल जोर-जोर से धड़कना शुरू कर देता है...

भाई के गुस्से से दहशत खाने वाली अकेली मैं ही नहीं, यह धरती भी धूजती है उससे... उसे भी किसी आसन्न भूकम्प की आशंका होने लगती है...

मेरे भाई का गुस्सा अचानक उठने वाले समुद्री तूफान की तरह है... एक बार उठ गया तो उठ गया। भाई न किसी की ज़बान समझता, न बात सुनता, न बहस करने की हालत में ही होता है। एक बार शुरू हो गया तो प्रमुख गदे नाले की तरह बहता ही चला जाता है...

ऐसे मौकों पर सांसें रोककर, चेहरा सीने में छिपाए, अदर उठने वाले हड़कम्पों में मां आत्मसात हो जाती हैं... रात की रात करवटें बदल कर आंखों में काट देती हैं... आंतरिक तूफान अंदरूनी हड़कम्प के बाद उसकी आंखो में उतरने लगते हैं और एक नींद को वहां से विस्थापित होना पड़ता है।

मां की आंखो की पपोटे कई-कई दिन तक भारी रहते हैं।

मेरे वश मे होता तो मैं लोरी गा-गा कर अपनी मां को सुला देती... हालांकि मा की गाई हुई लोरिया भाइयों के हिस्से मे ही आई थीं, हम बहनों का उन पर कोई हक़ नहीं बन पाया था।

जिस दिन पोपी घर में आई थी उस दिन मेरे मन को ऐसा आराम मिला कि दो-चार पहलू बदलने के बाद ही मैं बिस्तर की नरमाई मे खर्राटे भरने लगी।

वह रात सपनों की हसीन रात साबित हुई। सारी रात मैं उन्हीं सपनों में खोई रही। अगर सब कुछ याद होता तो न जाने कितने दिन रात की व्यस्तता खुराक के रूप मे मुझे मिल जाती। लेकिन सपनों की फितरत तो यह है कि स्मृति के कोटरों से झाक कर खिसक जाते है। मुझे जो याद रह गया वह कुछ इस प्रकार था। लेकिन रुकिए, पहले मैं भूमिका तैयार कर दूं कि किस परिप्रेक्ष्य मे सपने की बात आगे बढ़ेगी, उसके बाद उस रात के सपने का विवरण...

मेरे पिता शक्ति के उपासक थे। प्रार्थना के कुछ श्लोक हम सभी बच्चों को रटाया गया था। सोने से पहले वे श्लोक हमें गुनगुनाना पड़ता और बचपन से दोहराते-दोहराते वह हमारा स्वभाव बन गया था।

घर में देवी के अनेक चित्र थे, छोटे-बड़े, बहुत बड़े। प्रत्येक कमरे में अलग-अलग रूपों में देवी विराजमान थीं। मां दुर्गा का सौम्य रूप... चण्डी रूप जिसमें एक पैर शिव की छाती पर रख कर वह ठिठक गई थीं, जब उन्होंने नर-संहार का संकल्प लिया था और किसी के मनाने से काबू में नहीं आ रही थीं। गले में सुशोभित मुण्डमाला, एक हाथ में खप्पर, दूसरे में गंड़ासा... चित्र और भी थे, शक्तिरूपा, क्षमारूपा... अन्य अनेक रूप। लेकिन मुझे प्रभावित करने वाले चित्र दो ही थे—एक मां दुर्गा का सौम्य रूप और दूसरा चण्डी रूप...

उस रात जिस मां दुर्गा के दर्शन हुए वह सौम्य रूपा थीं। सलमा-सितारा जड़ी लाल साड़ी... आभूषण रजित देह... नाक में हीरे के झकझक करतीं नथनी... हाथ दो ही दिखाई पड़े... एक में कमल का फूल और दूसरा आशीर्वाद की मुद्रा में उठा हुआ। मुझे लगा संसार की सारी रहस्यमयता उनकी पलकों में सिमट आई है। मां का दमदमाता चेहरा मेरे सामने था। चेहरे के चारों ओर हजारों बल्बों की रोशनी का जगमगाता औरा। मां दुर्गा के पीछे सौंदर्य और सौरभ की देवियों का छमछम करता समूह...

कोई स्वर्ण-चक्र गोल-गोल उन्हीं के आसपास घूमता दिखाई पड़ा...अनंत रूप...बेहिसाब सौरभ... मां दुर्गा की ओर खुली आंखों देखना असंभव लगने लगा। आंखों पर इतनी तेज रोशनी पड़ी कि मुझे नींद में ही चक्कर आने लगा। और मुझे लगा मैं गश खाकर गिर पड़ी हूं। लेकिन वस्तुतः मैं गिरी नहीं। अपनी चेतना की सारी शक्ति लगा कर मैं उनके चरणों पर झुकी। सिंदूर से भरी उनकी मांग मेरी आंखों में उतर आई...

मां ने अपने हाथो से मेरी मांग भरी। मुझे सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया।

सपने में एक एहसास जागा कि मेरा विवाह हो गया है... विवाह श्ब्द ही मेरी आंखों में सावन-भादों जगा गया। मैं फूट-फूट कर रोने लगी। बस इसके बाद क्या हुआ स्मृति से फिसल गया। इतना मुझे आज भी याद है कि उस रात जब मैं सोई तो बीच में नींद नहीं टूटी और सुबह उठी तो मेरा तकिया गीला था।

मेरी मां स्वप्नद्रष्टा हैं... होने वाली बातों का उन्हें पहले ही आभास हो जाता है। बचपन से अपने भविष्य के प्रति उत्सुक लोगों की भीड़ मैंने उनके आसपास देखी थी...

उस सुबह जब मेरी आंख खुली और अपना तकिया मैंने अपने ही आंसुओं से गीला पाया तो घबराई हुई मैं मां के पास पहुंची।

मेरी आंखें घबराहट और आश्चर्य से फटी पड़ रही थीं। स्वप्न का जितना हिस्सा मुझे याद था मैंने मां को कह सुनाया।

मां ने स्वप्न आने का समय पूछा, मेरी आंख खुलने का भी समय पूछा और मुझे हिदायत दी कि यह बात मैं किसी और से न कहूं, अपनी आयां से भी नहीं।

उन्हें मालूम था यह काम थोड़ा मुश्किल था क्योंकि ख़ासतौर पर अपनी आया से मैं कुछ छिपाती नहीं थी। और सच तो यह था कि मेरे पेट में बात पचती नहीं थी।

'इसकी जानकारी में आई हुई बात तो चौराहे की ख़बर बन जाती है।' वह कहा करती थी मेरे बारे में।

और उसका कहना ठीक था। मा के मना करने के बावजूद सपने की बात

जाकर मैंने सीधे आया को सुनाई... फिर बडी देर तक पोपी को मैं यही बात समझाती रही।

आया को मैंने यह हिदायत जरूर दी कि यह बात वह किसी को बताए नही। मा को भी नही।

अम्मा ने कानो के पास अपने हाथ चटखा कर मेरी नजर उतारी और मेरी राजदा पोपी पूछ हिला-हिला कर अपना समर्थन देती रही। उसकी आंखो मे मैंने उत्सुक सवाल भी देखे, जैसे पोपी मुझसे कह रही हो–'तुम ब्याह के चली जाओगी तो मेरा क्या होगा... मैं यहां अकेले कैसे रहूगी... कौन मुझे संभालेगा, प्यार करेगा।' मैंने तो यहा तक सुन लिया कि शादी करके अगर मैं पोपी को साथ नहीं ले गई तो वह अनशन करके मर जाएगी। और पोपी ऐसा कर सकती थी, यह विश्वास मुझे था...

लेकिन ऐसा कुछ हुआ नही, मेरे सोच की रफ्तार ही तेज थी..

चार बच्चो को जनम देकर पोपी परलोक सिधार गई.. उसका जाना बेशक मुझे पत्थर बना गया।

मैं दिल का दर्द दवाए बेठी रही और मेरे भाई ने पिल्ले बाट दिए। शेष बचा एक भोलू। मेरे घर मे भोलू अपनी मा से अधिक प्यार का हकदार बन गया। आते-जाते सभी एक बार उसकी ओर मुखातिब जरूर होते। एक मेरी बहन और दूसरा मेरे पीठ के भाई को छोड कर।

मेरी ही तरह ये भी बदमिजाज . चिडचिडे दिमाग वाले और कुछ उथले भी थे।

मेरा भोलू कभी उनके कमरो मे जाता तो चीख-पुकार मचा कर सारा घर सिर पर उठा लेते ओर मरा भोलू भी जैसे जानबूझ कर उन्ही के कमरो मे जाता। इधर-उधर जाकर सो जाता। कभी उल्टी कर आता, कभी सुसू कर देता।

ऐसे हर मौके पर मेरी जान सासत मे पड जाती। दोनो ही मेरे सिर पर सवार हो जाते कि, 'चलो, चल कर मेरा कमरा साफ करो।'

मेरी आया बेचारी भाग-भाग कर सफाई करती, रगड-रगड कर कालीन गीले कपड़े से पोछती, फर्श पर फिनाईल के पोछे लगाती।

सच पूछिए तो मेरी आया, मुझसे अधिक भोलू की मा बनी हुई थी। गोद मे लेकर उसे ऐसे बैठती जैसे भोलू उसी का नवजात शिशु हो। उसकी आखो में आंखे डाल कर ऐसे बात करती जैसे भोलू सब कुछ जानने-समझने वाला मानवीय रूप हो।

मैं बता चुकी हू कि मेरी आया कुवारी थी पर मैं उसे अम्मा कहकर बुलाती थी। मेरे जन्म के बाद वात्सल्य उसके अंदर यू ही प्रस्फुटित हो आया था जैसे कोई दबी-छिपी कली अकस्मात खिल कर फूल बन गई हो... अब तक जिंदगी से जो उसे हासिल नहीं हो पाया था, भावनात्मक अभाव के जितने फफोले उसके दिल में फूटे थे उन सब पर जैसे भोलू मरहम का काम करने लगा था।

•

अम्मा का यह रूप मुझे बहुत अच्छा लगा। जब मैं उसे भोलू पर अपनी ममता, अपने वात्सल्य का कोष लुटाते देखती तो उस पर न्योछावर हो जाने का दिल करता। उस समय अम्मा मुझे ममता की मूरत लगती। साक्षात् देवी का रूप।

मेरी मां को यह सब फूटी आंखों न सुहाता। और उसके क्रोध की गाज मेरी अम्मा पर गिरती। चुन-चुन कर मां ऐसे कटु शब्द बोलती जो जिगर के आर-पार हो जाय।

आया पर मेरी मां की नाराजी मेरे दूसरे भाई-बहनों को भी बुरी लगती। जो भोलू को नापसंद करते थे वे भी मा को पीठ पीछे भला-बुरा कह जाते। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि मां के क्रोध की ज्वालामुखी आया पर फूटी और हम सभी भाई-बहन आया और मां के बीच चट्टान बन कर आया के लिए ढाल बन जाते...तव मां के माथे पर बल पड़ने लगते लेकिन किसी तरह गुस्सा सटक कर उसे वहां से चला जाना पडता।

अम्मा के छोटे पड गए, अनेक तरह की बीमारियों से भर्राए हुए चेहरे को हम देर तक सहलाते रहते। उसकी लाल, मटमैली पर पैनी आखों से अनुग्रह और प्यार के आसू झरने लगते और वह हम सबके सदके उतार किसी काम के बहाने वहां से चली जाती...

मेरी मां की तरह मेरी आया भी कभी अपने घर वापस नहीं गई।

मां उन दिनों अम्मा से नाराज रहने लगी थी। उसका ख्याल था कि उसने मुझे लाड़-प्यार से बिगाड़ दिया है, कि मैं उसकी शह पाकर ही बिगड़ रही हू, ऊल-जलूल विशेषण देती। कहती—मैं उसके हाथ की बंदरिया हो गई हूं... जैसे वह नचाएगी—वैसे ही नाचूंगी...

मैं लडकी थी, कही आने-जाने की आजादी से मुझे महरूम रहना चाहिए और इस लड़की होने के नाते जो सख्ती मेरे साथ बरती जानी चाहिए वह नहीं बरती जा रही थी, इसके लिए जिम्मेदार मेरी आया थी। उसके हिसाब से लडकियो को विनम्र और सांस्कृतिक प्रतिबन्धों में रहना चाहिए, क़ायदे-कानून का पालन करना चाहिए।

मैं इसका कारण समझती थी। मां के कहने मे मैं कभी नही रही इसलिए उसकी टोकाटाकी बचपन से चली आ रही थी। मुझे देखती तो अक्सर उसका चेहरा फीका पड़ जाता। उसकी बादाम-सी आंखें...आधी बंद...होठों से अधिक मुस्कुराने वाली...मुझे देखते ही उनमें सोच के बादल उमडने लगते थे....

है न विचित्र बात। जिस मां ने कभी प्यार से पुचकारा न हो... लहक कर बच्चे को गोद में उठा कर चूमा न हो... अनर्गल भाषा में बच्चे के साथ किलकारियां न भरी हों, थपकी देकर सुलाया न हो... उस बच्चे पर अपना हक जमाने सबसे पहले पहुंच जाती है।

क़ायदे से मां की इस वृत्ति पर मुझे क्रोध आना चाहिए था, लेकिन मैं उसे

प्यार करती थी, अब भी करती हूं। मेरी आंखों में मेरी मां दुनिया की सबसे खूबसूरत औरत है। उसकी वाणी में किसी धनिक परम्परा की गरिमा है। घने-काले, घुंघराले केश गोरे ललाट पर से खींचकर पीछे बंधे होते। मेरी मां के बाएं गाल पर एक बड़ा-सा दिखाई पड़ने वाला तिल था... जैसे मन की उदारता तिल का रूप धर चेहरे पर हो...किंतु मेरे साथ मां के संबंधों में वह लोच कभी नहीं आ पाया जो मेरी अन्य बहनों के प्रति आया...जबकि बहनों की सोच-समझ मेरी मां से नितांत अलग थी...

आज मैं समझ सकती हूं अपने प्रति मां की बेरूखी का कारण...पहली संतान मां के लिए चुनौती बन कर आती है अगर वह लड़की है तो, लड़का हुआ तो बाप के लिए चुनौती बनता है। इसीलिए पहली लड़की से बाप और लड़के से मां का लगाव सिगमण्ड फ्रायड बताते हैं... क्योंकि मां बेटी और बाप बेटे को एक प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखते हैं... इसलिए लगाव की दिशा विरोधी वर्ग की ओर मुड़ जाती है। मेरे पैदा होने से हो सकता है मां के मन में कुछ फ्रायडियन भाव जन्मे हों और उसकी ममता, उसका वात्सल्य उन्ही के नीचे दब गया हो, वैसे संभव यह भी हो सकता था कि मेरी मां को तब ममता-वात्सल्य का शऊर ही नहीं था...

लेकिन मैं अपनी मां को दोष कभी नहीं दे सकती, बल्कि उसकी कमियों का दोषारोपण मैं अपने ऊपर बेझिझक ले सकती हूं, मैंने लिया भी है... बस, मेरे सिवाय यह बात और कोई नहीं जानता। मां जानती है लेकिन उसे यह विश्वास नहीं कि ऐसा मैंने जानबूझ कर किया है।

मां के हिसाब से मेरा कोई सोच नहीं... मुझे अच्छे-बुरे की पहचान नहीं। ...मां ठीक कहती हैं...मेरा कोई सोच नहीं था... न मैं अपनी बहनों की तरह अलग सोच की अधिकारिणी बन पाई न मां का विश्वास जीत पाई...

किसी अति प्राचीन मंदिर का मंत्र ही बन गई मैं।

अजगर पूछे बजगरा क्या करत हो मिंत
पड़े रहत हैं रेत में राम करत हैं चिंत...

यह उदाहरण मैं अपनी ओर से नहीं दे रही हूं। अपने लिए मां को इस्तेमाल करते कई बार सुना था, सो याद हो गया। अगर इस मिसाल का विश्लेषण करूं तो एक सीमा ही तक यह मुझ पर लागू होती है... पड़ी तो मैं रहती थी लेकिन निश्चिंत कभी नहीं हो पाई, उस तरोताजा उम्र की अरुणाई में भी नहीं...

यह जो इस समय मैं आपको सुनाने बैठी हूं यह उन्हीं दिनों की कुलबुलाहट है। अगर मैं निश्चिंत हो गई होती तो आपसे मुखाबित कैसे होती...

ऐसा करके मैं आप पर या किसी पर एहसान नहीं कर रही हूं।... और एहसान अगर जरूरी हो जाय तो अपने पर ही करूंगी क्योंकि यह बोझ वक्त के साथ गहराता जा रहा है। अगर मैं चुप रह गई तो इसी बोझ तले दब जाऊंगी और मेरे साथ वे

तमाम बातें जिनका आपके सामने आना बहुत जरूरी है... इन बातों का संदर्भ कहीं आपसे भी जुड़ता है इसलिए आपका सुनना उतना ही जरूरी है जितना मेरा कहना...इसलिए आपको अच्छा लगे, न लगे, मैं यह कहानी आपको सुनाकर ही दम लूंगी...

एक बात और है जिस पर आपका ध्यान लाना चाहूगी। देश की अन्य अबला, बेसहारा, विवश लडकियो की तरह सुवर्ण-सूली पर चढने वाली मैं नही हू। अगर मेरा लड़कीपन मेरा दोष है तो इसका गुनहगार कोई और है, मैं नही।

मैं अपनी जिंदगी को अभिशप्त भी नही मानती इसलिए इससे मुक्त होने का प्रयास नहीं करूगी। जिस तरह मेरी मर्जी से बेलाग इस दुनिया मे मेरी जिंदगी आई थी, अपने आप, उसी तरह यहा से जाएगी, जब उसे जाना होगा।

बचपन से ही मैंने औरतो को मरदो के हाथो पिटते देखा है।

हमारा इक्के वाला अपनी बीवी को घोडे को साधने वाले चाबुक से रोज पीटता था, तडातड... उसे आसपास की भी खबर नही रहती थी कि कोई सुनेगा, कुछ कहेगा। एक बार गुस्सा चढ़ा तो बस पीटता चला गया.

मैं ऊपर की मंजिल के बरामदे मे अम्मा के साथ बैठी कहानिया सुना करती थी, कभी कहानी सुनते-सुनते सो भी जाती थी। बीच मे कभी नीद खुलती तो नीचे नौकरो के घर का शोर-शराबा सुनकर अम्मा से तरह-तरह के सवाल करने लगती और अम्मा मुझे गोल-मोल जवाब देकर टाल दिया करती थी।

इक्के वाले के घर का कोहराम जब मैंने पहली बार सुना तो डर के मारे थर-थर कांपने लगी। 'अम्मा की गोद मे दुबकते हुए मैंने पूछा था :

'अम्मा, ये क्या हो रहा है...

अम्मा की आखो से पहले ही आंसू झरने लगे थे। उस दिन उसने मुझे टाला नही। गीली-सी आवाज में सुबकती हुई बोली :

'कुछ नही बिटिया... तुम सो जाओ, तुम्हारे जानने की बात नहीं है।'

'क्यो अम्मा, मेरे जानने की बात क्यो नही है ?'

'ऐसे ही बेटा, तुम सो जाओ...'

'बताओ न अम्मा !' मैंने ज़िद पकड ली।

'मुआ पल्टू दारू पीकर हल्दिया को चाबुक लगा रहा है।'

मैं जानती थी पल्टू की बीवी का नाम हल्दिया है...

'हल्दिया पिट क्यों रही है अम्मा ?'

'क्या करे बेचारी।'

'भाग क्यों नहीं जाती...

'कहां भाग कर जाए ?'

'अपनी मां के पास...'

'जब ब्याह हो जाता है तो कोई मां के पास नहीं जाता बिटिया।'

'क्यों अम्मा ?'

'क्योंकि ब्याह के बाद ससुराल ही लड़की का घर होता है। आदमी सही मिल गया तो कट जाती है नहीं तो इसी तरह मार-काट चलती रहती है।'

'मैं कल मां से कह कर पल्टू को खूब डांट खिलवाऊंगी। दिन भर हल्दिया बेचारी काम करती है और रात को यह पल्टू का बच्चा उसे पीटता है। देखो तो अम्मा, कैसे चीख रही है। तुम जाकर उसे बचा क्यों नहीं लेती ?'

'वह दारू पीकर धुत् हुआ है, कुछ उल्टा-सीधा कह बैठेगा। मैं कहां जाऊं...फिर मालकिन हम पर गुस्सा होंगी।'

हल्दिया की चीख रात के सन्नाटे में लगातार तेज होती जा रही थी... मुझसे रहा नहीं गया। अम्मा की गोद से अपने आपको मुक्त कर मैं खड़ी हो गई :

'मैं जाकर मां को बताती हूं।' मैंने कहा।

'क्या करोगी बता कर। यह चीख-पुकार उन्हें भी तो सुनाई पड़ रही होगी। वह भी क्या कर सकती हैं... औरत की तो जिंदगी खराब है... मर्द की धौंस सहते-सहते पराधीनता की कंटीली राह पर लहूलुहान होते रहना... यही तो तक़दीर में लिखा कर लाती है वह...'

'ऐसा क्यों होता है अम्मा ?' मेरी आवाज धीमी पड़ने लगी।

'मर्द कमाने वाला होता है न इसलिए।'

'लेकिन हल्दिया भी तो कमाती है।'

'औरत की कमाई कौन देखता है बिटिया... उसे तो सारी जिंदगी खटना ही पड़ता है।'

उस दिन अम्मा से ढेरों सवाल कर डाले, लेकिन मेरी किसी बात का उसने ऐसा जवाब नहीं दिया जो मुझे ठीक लगे।

फिर भी मैंने उससे सवाल पूछना बंद नहीं किया। कुल मिला कर जब हमारी बातचीत बंद हुई तो एक अजीब-सी दहशत मेरे मन में बैठ चुकी थी औरत-मर्द की जिंदगी को लेकर।

सपने में मां दुर्गा के जिस आशीर्वाद से मेरा मन पुलकित हो उठा था उसमें किरिच-सी पड़ गई।

अम्मा की उस दिन की कही हुई कोई बात साफ-साफ मेरी समझ में नहीं आई थी लेकिन एक उथल-पुथल मैंने अपने अंदर महसूस किया। मैं अक्सर सोचने लगती—एक बार ब्याह हो जाय तो औरत अपनी मां के घर क्यों नहीं जा सकती...जिस लड़की को मर्द अपनी पत्नी बना कर लाता है उसे पीटता क्यों है ?

लड़की का भाग्य इतना खराब क्यों होता है... मर्द की धौंस वह क्यों सहती है ? ब्याह अगर इतना बुरा है तो माता-पिता अपने बेटियां क्यों ब्याहते हैं ? भाइयों की तरह बहनें घर में क्यों नहीं रह सकतीं ?

मेरे मन में यह बात भी पूरे वजन से उठी कि मैं भी तो लड़की हूं, मुझे भी औरत बनना है... क्या मेरे साथ भी ऐसा ही होगा ?

मेरे प्रश्नों के उत्तर देने वाला मेरे आसपास कोई नहीं था।

मेरे रिश्ते की बात कई जगह चलाई जा रही थी और मै यह सोच कर ही विचलित हुई जा रही थी कि शादी के बाद एक अनजाने व्यक्ति के साथ सब कुछ छोड कर अकेले ही जाना होगा। न मेरे साथ अम्मा होगी... न भोलू...

सोच का दायरा यहां तक पहुंचते ही पुक्का फाड़ कर रोने का मन करता और मैं एक अजीब तरह की ऐंठन अपने पेट में महसूस करती।

उधर पिता को कई बार कहते सुना था :

'किसी राजकुमार से ब्याहेंगे हम अपनी पल्लवी बिटिया...'

दबी जबान में अम्मा कहती :

'राजकुमार भी तो आदमी ही होता है न मालिक।'

पिता एक कड़ी नजर अम्मा पर डालते और उठ कर चले जाते।

अम्मा देर तक बिसूरती रहती।

एक दिन अम्मा मेरे सिरहाने बैठी मेरा सिर सहला रही थी, साथ ही कुछ बुदबुदाती जा रही थी।

'ठीक से कहो न अम्मा, क्या बोल रही हो, मुझे सुनाई नहीं पड़ रहा।'

'ऐसी कोई बात नहीं है बिटिया...'

'बताओ न...' मैं फिर ज़िद पर आ गई।

'बेटी तो पराया धन है बिटिया... पिता के घर जितने दिन कट जायं वही सुख के दिन होते हैं...'

'फिर तो मैं ब्याह नहीं करूंगी।'

'ब्याह न करना बेटी के बस में थोड़े ही होता है। तुम्हारे लिए तो मालिक राजकुमार ढूंढ़ रहे हैं।'

'राजकुमार हमारी तरह का नहीं होता अम्मा ?'

'अब, उसके सींग-पूंछ तो होती नहीं। हमारी ही तरह का होता होगा।'

'पल्टू की तरह वह भी मुझे मारेगा अम्मा ?'

'कैसी बात कर रही हो बिटिया... मार खाएं तुम्हारे दुश्मन, फूल से भी तो नहीं छुआ तुम्हीं किसी ने आज तक...'

'तुम्हीं तो कह रही थीं, मर्द की धौंस में रहना पड़ता है औरत को। मैं भी तो औरत बनूंगी अम्मा...'

'तुम तो पढ़ी-लिखी हो बिटिया, इतने बड़े घर की बेटी हो, तुम्हें कौन छू सकता है ?'

उस दिन मुझे अपने आप पर गर्व हुआ कि मैं पढ़ी-लिखी बड़े घर की बेटी हूं, मुझे कोई छू भी नहीं सकता...

लेकिन एक और बात बहुत दिनों से मेरी नजर के सामने आकर रुकने लगी थी। मेरी समझ में एक यह बात नहीं आ रही थी कि हम बहनों और भाइयों की दिनचर्या एक दूसरे से इतने अलग क्यों हैं ?

मैंने अम्मा से उसका निराकरण चाहा :

'भाइयों के स्कूल, खेलकूद हमसे अलग क्यों हैं अम्मा ?' मैंने पूछा।

'कैसी बात पूछ बैठीं बिटिया। भाई लोग कुलदीपक हैं, तुम लोगों को तो दूसरे के घर जाना है।'

'लेकिन हमारे घर में तो लड़के-लड़की का कोई भेद नहीं अम्मा। भैया लोग जो खाते हैं वही हम भी खाते हैं, हम भी अच्छा पहनते हैं...'

'ये बातें दिखाने की होती हैं बिटिया... बेटा मां-बाप के बुढ़ापे का सहारा होता है...'

'कैसे अम्मा, वह तो बेटी भी हो सकती है...'

'अब तुम्हें कौन समझाए... तुम तो पीछे ही पड़ जाती हो।'

'बताओ न अम्मा...'

अम्मा को लग गया बात आगे बढ़ाना खतरे से खाली नहीं होगा। वह एकदम पलट गई :

'मैंने तो मजाक किया था बिटिया...'

उस दिन भी मैं समझ गई थी, मां की कही गई बात मजाक नहीं है, लेकिन अम्मा आगे कुछ नहीं बताएगी यह बात भी मुझ पर स्पष्ट हो गई थी।

बात आई-गई हो गई लेकिन मन में एक डर सा छोड़ गई। भाइयों के प्रति माता-पिता के व्यवहार मैं गौर से परखने लगी... अधिक समय नहीं लगा। जल्दी ही मेरी समझ में बात आ गई कि भाइयों और हम बहनों के पालन-पोषण के व्यावहारिक पक्ष में कितना अंतर था। और यह अंतर इतना परोक्ष कि साथ रहकर ही मैं इसे जान पाई, बाहर से देख कर या किसी के कहने-सुनने से यह अंतर नहीं पता चल सकता था।

भाइयों की दिनचर्या हम बहनों से कितनी भिन्न थी, इस बात के बावजूद कि मां के मना करने पर भी पिता ने हमारे लिए घोड़ों को प्रबंध कर दिया था और मेरी दो बहनें नित्य जोधपुरी बिरचिंस पहन कर घुड़सवारी के लिए जाया करती थीं...

लेकिन मैं कभी नहीं गई घुड़सवारी करने।

अम्मा ने बड़ा उत्साह बढ़ाया... कहती-सुनती अपने ढंग से फटकारती रही लेकिन मैं भी सूरदास की काली कमली बन गई थी, मुझ पर उसका रंग बिल्कुल नहीं चढ़ा।

जब मेरी बहनें घुड़सवारी के लिए जातीं मैं भोलू के साथ खेलती या सुरेन्द्र को बुला कर आपबीती कहती-सुनती।

एक दिन यह सिलसिला टूट गया...

मां ने आसमानी तारों टंकी साड़ी पहनवा कर मुझे खूब गहनों से सजवाया और अपने प्रिय गोल कमरे में बुला भेजा।

वहां दो जन पहले से बैठे थे, एक बेहद हैंडसम लड़का और उसकी बहन। उसके हाथों में हीरे की अंगूठियां झिलमिला रही थीं। बड़ा क्रेज़ आ गया था उन दिनों हीरे का, बड़प्पन का असली पहचान बन गया था हीरा।

मुझे लगा आसमान के तारे उतार कर उसकी अंगुलियों में टांक दिए गए हैं...:

लड़के की कलाई में कीमती घड़ी चिल्ला-चिल्ला कर अपनी सम्पन्नता जाहिर कर रही थी। वह लड़का देर तक मेरी ओर देख कर अपनी बहन की ओर देखने लगा था।

मां और पिता वहीं सोफे पर बैठे थे....

ऐसा तो नहीं था कि मैं उनके आने या अपने सजने का मक़सद समझ न पाई होऊं लेकिन पता नहीं क्यों, मेरा दिल उतनी जोर से नहीं धड़का कि मैं घबरा जाऊं...मुझे जहां संकेत किया गया, जाकर मैं वहीं बैठ गई...

उधर बेहद कम बोलने वाले मेरे पिता मेरी प्रशस्तिगान कर रहे थे :

'मेरी यह लड़की बहुत सरल है लेकिन इसका सामान्य ज्ञान ? पूछिए मत...राजनीति...वह तो इसकी रुचि का खास विषय है...आप खुद ही बात कर लीजिए...आपको पता चल जाएगा...' पिता को इतनी आत्मदृढ़ता से अपने अप्रासंगिक गुणों का बखान करते सुना तो मेरे होश उड़ गए...

अच्छी-भली आकर बैठी थी, सब कुछ सामान्य लग रहा था कि पिता की बात सुन कर मेरे पांव के नीचे की धरती खिसकती जान पड़ी। पिता की जो छवि मेरे मन में अंकित थी, उसके साथ यह जो सामने बैठी कुछ-कुछ कहे जा रही थी, उसका कोई मेल नहीं था...

लड़का सुसंस्कृत मालूम पड़ा। उसने कुछ पूछा नहीं।

पिता ने एक बात और जड़ दी मेरे लिए :

'मेरी इस लड़की को 'पेट्' पालने का बड़ा शौक है। एक साथ इसने कई कुत्ते पाल रखे हैं...'

मैंने अंदर ही अंदर अपना थूक गटक कर यह झूठ पचाया लेकिन लड़के की बहन खिल पड़ी :

'अरे, यह शौक़ तो हम सबको है। कई जाति के कुत्ते हमारे यहां पल चुके हैं–अलसेशियन... डोबर मैन... भोटिया... इस समय भी दो कुत्ते हैं–लैब्राडोर और एक प्यारी-सी पामेरियन...' फिर मेरी ओर मुखातिब होकर, 'आपके पास कौन-सी नस्ल है ?'

उस लड़की का श्वान प्रेम देख कर मेरे मन में लड्डू फूटने लगे थे लेकिन उसका सवाल सुन कर मेरा सिर घूम गया...

मुझे तो यह भी मालूम नहीं था कि पोपी की नस्ल क्या थी, कोई नस्ल थी भी या यूं ही टपक पड़ी थी कही से... सड़क के कुत्तो की क्या नस्ल बताएंगे आप...और उसी का बेटा भोलू... मैं उसकी क्या नस्ल बता सकती थी और मेरा श्वान-ज्ञान क्या था जिसका बखान मेरे पिता कर रहे थे ?

फिर भी सवाल पूछा गया था तो उसका एक जवाब भी मुझे देना था। मन पिता द्वारा फैलाए गए झूठे प्रशसा-जाल में उलझ कर रह गया... आवाज मेरी गले में ही आकर अटक गई। जैसे-तैसे शब्द निकला–'नेपाली'...

लड़की एकदम चुप हो गई... उसका चेहरा एकदम से बुझ गया। बातचीत का मोर्चा लडके ने अपने हाथ मे ले लिया। वह मेरे सामान्य ज्ञान को परखने के लिए सवाल पर सवाल पूछे जा रहा था और मैं पत्थर की होकर बेजान होती जा रही थी... जवाब के तौर पर एक शब्द भी मेरे मुंह से नहीं निकल पाया।

अंततः यह परख मोर्चा समाप्त हुआ... न मेरी जबान खुली, न मैं एक शब्द बोल कर राजी हुई...

उस लड़की की नजर मे अपने रूप-रंग और परिवारिक रुतबे के कारण मैं पास थी लेकिन लड़के के लिए तो इतना काफी नहीं था...

दूसरे दिन, कलकत्ते जाने से पहले वे मेरी दूसरी बहन को देखना चाहते थे लेकिन वह बीमार थी उस समय। उनके आने का दूसरा सुयोग नहीं बना... मेरे सीने पर अपमान का बोझ छोड़ कर वे मेरे घर दुबारा आए बग़ैर ही कलकत्ते चले गए।

मैं एक 'रिजेक्शन' की चट्टान के नीचे दब कर छटपटाने लगी।

मुझसे कहा गया, 'मैं सीधी-सादी हूं... फैशनपरस्त नहीं हूं, आजकल के लड़कों को यही चाहिए न...मैं सभा-सोसाइटियों में हिस्सा लेने लायक 'डायलॉग' नहीं बोल सकती, इसीलिए मुझे 'रिजेक्ट' किया गया है...

कितनी कठिन परीक्षा थी यह ?

कुलीनता, शालीनता, शिष्टता का पाठ पढ़ाया गया, फैशनपरस्ती को भला-बुरा कह कर त्याज्य समझाया गया और उसी के अभाव में फेल कर दिया गया मुझे...यह कैसी कठिन परीक्षा थी...

जो पाठ कभी पढ़ाया ही नहीं गया उसके आधार पर परीक्षाफल... यह कैसा दोगलापन था ? और पिता का बढ़ा-चढा कर अपना 'माल' शादी के बाजार में रखना ? मेरी तो जिस्वा तालु में ऐसे चिपकी कि उनके जाने के बहुत देर वाद मेरी आवाज फूट पाई...

तब मैं प्रश्नों के अंधेरों में रोशनी का कतरा ढूंढ़ने लगी।

अपनी मित्र सुरेन्द्र को बुला कर मैंने सब कुछ जस का तस सुना दिया। जब मैं चुप हो गई तो उसने पूछा :

'फिर तो बाद में तुम पर खूब डांट पड़ी होगी ?' उसने पूछा।

'नहीं... डांट तो नहीं पड़ी।' मुझे भी आश्चर्य हुआ कि डांट तो पड़ी नहीं, क्यों नहीं पड़ी...

'फिर...'

'फिर क्या, उनके जाने के वाद पिता उठ कर चले गए, मां अपना माथा कूटने लगी... कह रही थी मुट्ठी में अनमोल वस्तु आकर रेत की तरह फिसल गई...'

'तुमसे उन्होंने भी कुछ नहीं कहा ?' सुरेन्द्र को आश्चर्य हुआ।

'नहीं... पर मुझसे वह कहती भी क्या ?'

'तुम्हें हिम्मत बंधातीं, तुम्हारी हौसलाअफ़जाई करतीं... यह कहतीं कि और भी अच्छे लड़के आएंगे... वगैरह... वगैरह...'

'मां ने उन्हें दुबारा आने का आमंत्रण दिया है मेरी दोनों बहनों–कामिनी या कालिंदी में से किसी एक को चुन लेने के लिए...'

'इसका मतलब हुआ, मां किसी भी मूल्य पर इस लड़के को जकड़ लेना चाहती हैं... बात सिर्फ तेरी नहीं है...'

'यही तो मैं भी सोच रही हूं... नुमाइश मेरी हुई और मुद्दा बनीं मेरी बहनें भी...क्या तुम्हारे साथ भी यही हुआ था सुरेन्द्र...'

'नहीं पल्ली, मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ। मेरे मंगेतर ने तो मुझसे सीधा-सा एक सवाल किया था कि कहीं जाकर जब हम अपना घर बसाएंगे तो मैं अपन दोनों के लिए रोटी-साग तो बना लूंगी न... मैंने सिर झुका कर हामी भर दी थी... बस बात तय हो गई...

'मुझे बहुत अच्छा लगा पल्ली... मेरा मंगेतर बहुत सीधा है। उसे जीवनसंगिनी के रूप में कोई तितली नहीं, मेरी ही तरह की सीधी-सादी लड़की चाहिए थी... कहता है, मैं उसके दोस्तों में बातचीत का विषय बन गई हूं।'

'तुझे कैसे पता ?' मुझे सुरेन्द्र से ईर्ष्या-सी होने लगी।

'वही बताता है...' सुरेन्द्र मुस्कुराई।

'तुम उससे मिलती हो ?' मैंने पूछा।

'हां, हम रोज ही मिल लेते हैं एक बार।'

'कब... कहां ?' मैं हक्की-बक्की उसे देख रही थी।

'मंदिर मैं... आरती के वक्त वह भी आता है, मैं भी चली जाती हूं। वहीं मिलते हैं हम। मेरी मां को तो कुछ पता भी नहीं... यह भी नहीं कि वह इस शहर में है भी या चला गया...'

'तुझे डर नहीं लगता ?'

'डर किस बात का... जिसके साथ मेरी जिंदगी का सौदा तय कर दिया गया है, उससे क्या डरना...'

सुरेन्द्र की बेलाग बातों का मुझ पर बहुत बुरा असर पड़ा। एक राज भरा औरा मेरे चारों ओर सिमटने लगा...

'कितनी भाग्यशाली थी यह लड़की' मैं अंदर ही अंदर तजबीज करने लगी। 'और एक मैं हूं जिसे देख कर लोग आंखें फिरा लेते हैं... क्या नहीं है मुझमें जो इस लड़की में है... मेरी शोहरत, मेरी सम्पत्ति, मेरा पारिवारिक रुतबा यहां किस काम का था...' खुद को कोसते हुए एक अपराध-भाव मुझे ग्रसने लगा, गोया जो कुछ भी मेरी जिंदगी में घटित हो रहा था उसके लिए जिम्मेदार मैं ही थी...

मेरे सामने सुरेन्द्र थी, मेरी सहेली... उसकी देह नदी के सैलाब की तरह उमड़ रही थी, उसकी आंखों में प्यार के सपने आकार ग्रहण करने लगे थें... अपनी महीन साड़ी में गमकता हुआ उसका यौवन सौरभी आभा से खिला हुआ दिखाई पड़ रहा था...

इन सबकी हक़दार तो मैं भी हो सकती थी... इससे महरूम कैसे रह गई मैं ?

क्या मेरी भवितव्यता कुछ और थी ?

उस रात प्रयत्न कर के भी मैं सो नहीं पाई। सुरेन्द्र का प्रेम-प्रसंग मेरी आंखों के सामने... मेरी बदलती हुई करवटों की आड़ में कहीं न कहीं तीखा प्रश्न बन कर चुभता रहा।

मैं अधीर हो उठी।

रात के अंधेरों में यदि मेरी आंखें मन में प्रवेश कर सकतीं तो शायद उसे पढ़ कर कोई रास्ता निकालतीं, मुझे शांति का कोई मार्ग सुझातीं।

मैं अपने आप से ही पूछने लगी :

'मैं स्मार्ट क्यों नहीं हूं ? मुझमें कमी क्या है जो मेरी बहनों में नहीं है ?'

मन हुआ पास में सोई अपनी बहन कालिंदी को जगा कर पूछूं :

'आज तक तुम लोगों ने मुझे अपने खेलों में शामिल क्यों नहीं किया ? अपनी बातें तुम लोग मुझसे छिपाती क्यों हो ? मैंने तो तुम लोगों के साथ कभी विश्वासघात

नहीं किया ? कभी तुम्हारी बातें इधर-उधर नहीं खोलीं... तुमसे बड़ी हूं लेकिन कभी मैंने तुम लोगों पर हुक्म नहीं चलाया... तुम लोगों ने आखिर मेरी उपेक्षा क्यों की ?...'

फिर अपने पराजित मन ने ही समझाया...

अब उन्हें जगाने से क्या फायदा। जो होना था वह तो हो चुका है... मेरी आवाज पर कहीं मां की नींद न टूट जाए... लेकिन यह भी तो संभव था कि मां सोई ही न हो ?

मन नहीं माना। मैं धीरे से उठी। अपने और मां के कमरे के बीच का दरवाजा मैंने खोला।

शुभ्र आकाश में झिलमिलाते सितारों की तरह मां के कान के हीरे चमक रहे थे।

मां के पलंग पर पसरी हुई रात अंधेरी कोख की तरह शांत और निस्पंद थी...

मां के कमरे की ओर जैसे-तैसे में बढ़ ही गई। अम्मा के खर्राटों की आवाज अस्पष्ट-सी उठ कर तुरंत हवा के झोंकों में विलीन होने लगी थी...

मेरे मन के प्रश्न किनारों पर टकराने वाली उलझी लहरों की घन गम्भीर ध्वनि की तरह बार-बार मेरी बेचैनी से उलझता-विछलता रहा...

विचारों की सीमा-सी बनी मैं यह भूल ही गई कि मैं मां के कक्ष में उससे कुछ पूछने आई थी, उसे झिंझोड़ कर उठा देने आई थी...

खिड़की से झांकते आकाश पर मैंने अपनी आंखें गड़ा दीं। कितनी देर मैं उसी तरह खड़ी रही, अब याद नहीं... शायद घण्टो बीत गए... या सदियां बीत गईं... या वहीं पड़ कर सो गई... कुछ भी ध्यान नहीं आ रहा; लेकिन इतना याद है कि मेरी समस्या लगतार मेरे भीतर विस्तार पाती रही।

सुबह हमेशा की तरह अम्मा ने नहीं, मां ने जगाया मुझे।

मां कुछ घबराई हुई दिखाई पड़ी।

धूप में तपी हुई धरती की तरह उसका माथा तप रहा था।

मैंने मां की ओर देखा। मेरी आंखें अभी भी मिचमिच कर रही थीं, पूरी तरह नींद से उबर नहीं पाई थीं।

'उठो...' बेजान-सी आवाज में मां कह रही थी, 'मैंने निश्चय किया है, तुम्हें वनस्थली भेज दूं। तुम्हारे दाखिले का स्वीकृति पत्र आ गया है।'

मैं अवाक् मां को देखती रह गई। मन में अनेक सवाल आ सकते थे, जो बाद में उभरे... लेकिन उस वक्त मुझे अपना मन एकदम खाली लगा।

इस प्रसंग के अन्य विवरण अतीत के खड्ड में दफ्न हो चुके हैं... जितना याद है उसके अनुसार मां की दी हुई सूचना से मैं खुश हो गई।

कुछ नई जगह जाने का उत्साह-उत्सुकता और कुछ इसलिए भी कि यहां के दोगले वातावरण से मैं तंग आ गई थी।

और तो और शादी के उम्मीदवार मेहमानों के सामने जो गलतबयानी उन्होंने की थी उसने तो मुझे आसमान से उठा कर जमीन पर पटक दिया था...

इसके अलावा भाई-बहनों के प्रपंच... दुराव... उनकी छलनाएं... चोरी-छिपे जो चाहते कर लेते और भले बने रहते। मैं बुरी थी क्योंकि प्रपंचों में विश्वास नहीं करती थी, छलावा मेरे वश का नहीं था, दुराव मैं रख नहीं सकती थी...

इसीलिए हर कोण से मैं अभीगी-अलिखी थी...

मेरे लिए कहा जाता :

'मेरा मग़ज़ मजबूत नहीं है... मेरी स्मृति में कोई बात ठहरती नहीं...'

इन सभी बातों की काट थी मेरे पास, बस मैं उसे जाहिर नहीं करती थी।

मेरी हमउम्र लड़कियां बहुत आगे निकल गई थीं। प्रारम्भिक कक्षाओं में मैं लगातार असफल होती रही और मां अपने रुतबे के बल पर मुझे अगली कक्षा में चढ़वाती चली गई थी। ताकि मेरी निगाहें अपने हमउम्रों में शर्म से नीची न हों...या मेरे मन में हीनता का कोई भाव न पैदा हो...

लेकिन हीनता किस बात की ? पढ़ाई की डिग्रियां बटोरना ही तो एकमात्र जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। मुझे इस बात का कोई गिला नहीं था कि पढ़ने-लिखने में मेरा मन नहीं लगता था... पढ़ाने वाले अगर किसी को लड्डू गोपाल मिलेंगे तो कौन पढ़ना-लिखना चाहेगा ?

अब मैं वनस्थली भेजी जा रही थी। मुझे इस बात का कोई सदमा नहीं पहुंचा कि मैं घर से अलग की जा रही हूं या भाई-बहनों का साथ मुझसे छूटने जा रहा है... वैसा मेरा-उनका साथ था ही कितना जिसके छूटने की पीड़ा होती...

मेरे वनस्थली जाने की तैयारियों में घर के सभी लोग जुट गए।

मां ने कोई कोर-कसर नहीं रखी। जैसे बेटी को ससुराल भेज रही हो—नए-नए कपडे, नया बक्सा, नया बिस्तर। एक-एक चीज दहेज की तरह जोड़ी गई ताकि वहां जाकर मुझे किसी तरह की कमी महसूस न हो...

शायद मां ने यह भी सोचा हो कि मेरे ठाट-बाट, मेरी सज-धज देख कर वहां की लड़कियां मेरे रौब में आ जाएंगी। मेरे आसपास मंडराती रहेंगी... मैं उन्हें देख कर, उनमें शामिल होकर मन पर लगी हुई खरोंच की पीड़ा भूल जाऊंगी।

जैसे-जैसे मेरे जाने के दिन क़रीब आते गए अम्मा भी मेरी और बहनों की देख-रेख छोड़ कर मेरी ही हाजिरी में ज्यादा वक्त बिताने लगी।

लेकिन अपनी बहनों का रुख मुझे बदला हुआ लगा। शायद अपने-मेरे फ़ासले

भूल चुकी थीं वे, या कुछ समय के लिए उसे दरकिनार कर दिया। छात्राबास के कायदे-कानून मुझे समझाए जाते... मेरे भाग्य की सराहना भी की कि यह सौभाग्य उनमें से किसी को नहीं मिला और मैं उसे हासिल करके जा रही थी।

इस बात की साक्षी मैं भी हूं कि कामिनी और कालिंदी दोनों ने मां के सामने कहीं बाहर जाकर पढ़ने, छात्रावास में रहने का प्रस्ताव रखा था लेकिन मां ने कभी उस प्रस्ताव को तरजीह नहीं दी।

मुझे आश्चर्य इस बात पर होता रहा कि मेरी बहनें कभी बाहर जाकर नहीं पढ़ीं लेकिन उनके पास हर जगह की कैफियत थी, थोड़ी-बहुत जानकारी सबकी थी। वनस्थली की कुछ योग्य आचार्याओं के नाम भी उन्हें पता थे...

मैं जानना चाहती थी कि इतना सब उन्हें कैसे पता चला, लेकिन मैंने पूछा नहीं कुछ...

जिस तरह तारे आसमान के चंद्रमा को घेरे रहते हैं उसी तरह कुछ दिनों तक मेरी बहनें मुझे घेरे रहीं...

मां से ठुनकते हुए भी मैंने उन्हें सुना :

'मुझे भी भेज दीजिए न मां। वनस्थली जाकर मैं भी पढ़ना चाहती हूं। एकस्ट्रा करीक्युलम उनका वहुत अच्छा है, बहुत कुछ सीखने को मिलेगा और फिर पल्लवी दीदी अकेली नहीं पड़ेंगी...'

लेकिन मेरी मां पर इन बातों का कोई असर नहीं पड़ा और मेरी बहनों को भी मां का दिया हुआ बचपन का पाठ याद आ गया होगा कि ज़िद करने से कभी कुछ नहीं मिलता। और यह भी कि ज़िद औरत की जिंदगी का सबसे बड़ा अवगुण है।

बहरहाल, मुझे इस गुण-अवगुण से अधिक कुछ लेना-देना नहीं था। अभी तो मैं जा रही थी और न जाने की ज़िद का भी सवाल नहीं उठता था इसलिए मैं मेहमान-घर में जाकर सो गई। मेहमान-घर में इसलिए क्योंकि मेरा कमरा कबाड़-खाना बना हुआ था, बिखरे हुए कपड़े-लत्ते...साथ ले जाने की वस्तुएं... बक्से...और भी पता नहीं क्या-क्या, किस-किसके सामान। ऐसा हमेशा से होता आया है हमारे घर में और मैं अपना कमरा छोड़, मेहमान-घर में पनाह पाती रही हूं। अभी तो मां के एक-एक रिश्तेदार मुझसे मिलने आए थे।

एक-एक दिन कट रहे थे। घर में धमाचौकड़ी की धूम थी। वह शायद घर के आंगन में सोने की मेरी उस मौसम की आखिरी रात थी। मेरा दिल रह-रह कर हौलदिल हो रहा था। कभी धड़कनें एकदम से बढ़ जातीं, कभी हथेलियों में ठण्डा पसीना चुहचुहा आता...

· अकेले घर इससे पहले कभी नहीं छोड़ा था। अब एक अजनबी जगह पर जाना था। पहली संतान थी इसलिए कुछ तो खातिर हो ही रही थी। मां के आदेश पर

गरम-गरम दूध-जलेबी और बादाम के हलवे का नाश्ता मुझे नित्य मिला करता। दूध के गिलास में मलाई की मोटी परत न हो तो दूध मेरे हलक के नीचे नहीं उतरता था...

अब सभी आसाइशों की कमर टूट जाने वाली थी। भाई-बहन के बीच होने वाली लड़ाइयों की किच-किच भी खत्म हो जानी थी। एक तरह का सन्नाटा ही छाया रहेगा, यह सोच कर मेरी हौलदिली बढ़ती जा रही थी।

मेरे बाद वाला भाई अक्सर मुझी से उलझा रहता था। अब मेरे जाने के बाद किससे उलझेगा, मैं सोच रही थी और मेरी आंखें भर आ रही थीं हालांकि मैं जानती थी कि मेरा वह जिद्दी भाई मेरे बाद नौकरों पर हुकूमत चलाएगा... पढ़ने से जी चुराता हुआ घुड़दौड़ में भाग जाएगा।

वह जो चाहेगा, वही करेगा। मां से शिकायत कर उसकी उम्मीदों पर पानी फेरने वाली मैं अब नहीं रहूंगी यहां...

मैं तो थोड़ी-बहुत मेहनत करके किसी तरह अंग्रेजी बोलना भी सीख गई थी किंतु उसको अंग्रेजी का अक्षर ज्ञान भी नहीं हुआ था अब तक।

उसका समय काटने का बेहतरीन तरीका था नौकरों के क्वाटरों की खाक छानना, उन्हीं के बच्चों में घुल-मिल कर उनके साथ खेलना। उन्हीं के घर बनने वाले खाने में से मांग कर खा भी लेना...

घर में इधर-उधर रुपये-पैसे नजर आते तो उठाकर ड्राइवरों, चौकीदारों को दे आता। मेरे ख्याल से वह चौकीदारी या कलपुर्जों की जानकारी इस तरह हासिल करता जैसा आगे चलकर वही उसका व्यवसाय बनना हो।

घर की अच्छी से अच्छी चीज कई बार उठाकर यूं ही दे आया था उन्हें। हमारा एक बूढ़ा चौकीदार पंजाब का था। मिठाइयां उसे बहुत पसंद थीं, मलाई वाले दूध पर तो जान छिड़कता था...

मेरे घर में कई गाएं थीं उन दिनों, अब भी हैं। उनका दूध औंटा कर लोहे की जाली से दबा रखा रहता था। मेरा भाई केशव उसी में से गिलास भर दूध-मलाई उसे छिपा कर दे आता।

अम्मा यह सब जानती थी लेकिन कभी कुछ बोलती नहीं थी। देख के अनदेखी और सुन कर अनसुनी कर देती थी। क्योंकि मेरे इस भाई के हजार खून उसके लिए माफ थे। प्यार से उसे बाबू कहती थी और हम लोग भी अक्सर उसे उसी नाम से पुकारते थे।

अम्मा के चुप रह जाने का एक और कारण हो सकता होगा। शायद उसे मालूम था कि बाबू मानने वाला तो है नहीं, बेकार कलह बढ़ाने से क्या फायदा...

मेरी मां की कमजोरी था मेरा यह भाई—केशव यानी बाबू... मेरे लिए मां का कितना प्यार था, यह प्रश्न मैं अभी अनुत्तरित ही छोड़ दूं तो बेहतर... कभी कुछ

अनुभव हुआ ही ऐसा याद नहीं आता। न तो मैं उनके प्यार की आंच का ही अनुभव कर पाई हूं, न रोश ही ताप का ही... बात बाबू की है।

बाबू की शिकायत कोई नहीं कर सकता था। मेरे मामाजी भी नहीं जो मां के उतने ही लाड़ले थे और हमारे यहां रहकर अपनी पढ़ाई पूरी कर रहे थे।

मामा एक तरह से हमारे संरक्षक थे और सच पूछिए तो हम उनसे भय भी खाते थे। मां ने भी उन्हें हर तरह के अधिकार दे रखे थे। मामा एक ओर हमें प्यार से थपथपाते तो दूसरी ओर गाल पर तमाचा भी जड़ सकते थे। हमारी गलतियों की तरफ उनका ध्यान बराबर बना रहता था। लेकिन बाबू को वह भी कुछ नहीं कह सकते थे...

मां को किसी से यह कहते हुए उन्होंने सुन लिया था :

'कड़े व्यवहार से बच्चों का दिल छोटा हो जाता है, उनके विकास में बाधा पड़ती है...'

और बस, उनके दिल में बाबू को लेकर एक स्थायी नरमी पैदा हुई जो शायद अब तक बनी हुई है। बाबू की कोई गलती देख मामा की जुबान कभी नहीं खुली...और इन सबका नतीजा यह निकला कि बाबू बड़ा तो हुआ, एक अच्छा इंसान नहीं बन पाया।

फिलहाल बात मैं अपनी कर रही हूं। अपने वनस्थली जाने की। घर मामू और मौसियों से खचाखच भर गया था। जैसे मेरा वनस्थली जाना कोई समारोह हो। हर बात को समारोह बनाने की कला भी शायद मेरी मां से ही विकसित होकर हम तक पहुंची है। अपने कमरे में पनाह नहीं मिली और मैं बगल वाले मेहमान घर में जाकर सो गई थी।

छत की शहतीरों को गिनते-गिनते ही मेरी आंख लग गई थी। कुछ नया अनुभव करने के अधैर्य से मेरी आंखों के पपोटे बोझिल थे। नए स्थान, नई तहजीब, नई स्थितियों की झुरझुरी मैं अपने शरीर में अनुभव कर रही थी और इन अनुभवों के साथ ही मैंने स्वप्नों की दुनिया में प्रवेश किया था।

वहां मेरी सहेलियां थीं, उनके स्वप्नों को लगाम देने की ताक में बैठी कुछ अक्खड़ बूढ़ियां भी नज़र आईं जिनके कंधे ऊंचे और वक्ष चौड़े थे। उनकी आंखों में दर्शन की लपट नजर आ रही थी, जीवन का रहस्य था... उनके काले चेहरों पर अपूर्व-सी चमक थी-आबनूसी...

मैं सपने में ही सोचने लगी, 'अब मुझे इन्हीं के बीच रहना है... काली-डरावनी हैं तो क्या हुआ... यही तो मुझे ज्ञान की दिशा देंगी...' मैंने झुक कर उन्हें प्रणाम किया...

कोई कह रहा था, 'तुम्हारे सामने प्रधानाध्यापिका खड़ी हैं, उन्हें प्रणाम करो...'

मैं हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई। यह याद ही नहीं रहा कि मुझे झुक कर उन्हें प्रणाम करना था।

मुझे लगा कोई छायामूर्ति मुझे धीरे से छू रही है। पैरों में हल्की गुदगुदी भी हुई...

मिचमिच करके मैं आंख खोलूं इससे पहले खटाक की आवाज हुई... क्या किसी ने दरवाजा बंद किया ?

आंखें मलती हुई मैं कमरे के अंधकार को चीर कर देखने लगी कि आखिर माजरा क्या है।

इसी समय मेरे चेहरे पर गरम-गरम सांसों का सैलाब उतर आया।

मुझे लगा मैं उठी नहीं हूं अभी, शायद सपना अभी खत्म नहीं हुआ और यह भी उसी सपने का एक हिस्सा है...

मैंने अपने होशोहवास संभाले, पहचानने की कोशिश की। यह गरम हवा कहां से आ रही थी, यह सामने का आकार किसका था। कौन इस कमरे में आकर दरवाजा बंद करने के बाद मेरे चेहरे पर झुका था।

छोटे मामा थे शायद। मेरी मां के लाड़ले छोटे भाई। उम्र में मुझसे थोड़े ही बड़े थे। बहुत छोटे थे तब नानी जी मां की गोद में इन्हे डाल कर स्वर्ग सिधार गई थीं। हर छुट्टी पर छोटे मामा आ जाया करते थे। हम भाई-बहनों से उनका लड़ना-झगड़ना चलता रहता।

शायद इस मामा को हमसे ईर्ष्या भी थी क्योंकि जितनी सुख-सुविधाएं हमारे लिए मुहैया थीं उतनी उन्हें हासिल नहीं थीं। मनोरंजन के जितने साधन हमारे पास थे, वे उन्हें सपने मे भी नहीं मिलने वाला था।

नानी के पेटपोछना बेटे थे, बहन की गोद में डाल कर मां स्वर्ग सिधारीं, जितनी तवज्जोह की जरूरत एक बालक को होती है वह तो नही मिल पाई। थोड़े बड़े हुए तो संगति बिगड़ गई। गलत लोगों के साथ रहने से गलत ही संस्कार पड़े। मेरी मां की भी ममता मातृहीन बालक के लिए अंधी बन गई थी, बहकते हुए कदम सही रास्तों पर कौन लाता ? बचपन के पड़े गंदे संस्कारों को ठीक कौन करता ?

मां मेरी ममता की अंधी और दूसरे मामा अपने कारोबार मे व्यस्त... यह मेरा छोटा मामा छुट्टा सांढ़ बन गया था।

बंद कमरे में उसे अपने सामने पाकर मैं सकते में जरूर आई, मेरा हृदय भी निस्पंद होकर जोर-जोर से धड़कने लगा था। मन हुआ जोर से चीख मारूं, लेकिन चिल्लाने के लिए मेरा मुंह खुले इससे पहले उसने मेरे मुंह में रूमाल ठूंस दिया। मेरे होश गायब होने लगे। हिचकियां बंध गईं। चेहरा झक् सफेद हुआ और मेरी आंखों

की पुतलियां ऊपर चढ़ने लगीं।

वह डर कर भागा। लेकिन मैं पलंग पर जड़ हो गई।

चौदह वर्ष की उम्र में इस पहले अनुभव ने मन में एक भूकम्प ला खड़ा किया। एक ऐसी गंध मेरी नाक में समा गई जिससे चाह कर भी अब छुटकारा नहीं था मेरे लिए। आज भी वह गंध मेरे जेहन में उतनी ही ताजी है।

मैं देर तक पड़ी-पड़ी सोचती रही, 'यह सत्य था या स्वप्न' इस तिलिस्म की बात मैं किससे पूछूं, मुझे बताने वाला कौन था ?

मां के पास इस तरह की बात सुनने का समय कहां होगा, और किसी तरह समय खींच भी लाया जाय हो मां सुनेगी कैसे...

कुछ समझ में नहीं आया। फिर किसी आवेश में उठी मैं, कमरे से बाहर निकल कर अम्मा के पास गई। धक्का मार कर उसे जगाया।

पसीने से मैं नहा उठी थी और पीपल के पत्ते की तरह मेरी देह कांप रही थी। आवाज भी गले में आकर फंस गई थी।

आंख मलती हुई अम्मा उठी। पूरी तरह जागे इससे पहले ही उसने हाथ बढ़ा कर मुझे समेटने की कोशिश की।

'क्या बात है बच्चे... रात का पिछला पहर होने को है, आप इस समय... यहां...' आगे उसने कुछ नहीं कहा, शायद भांप गई थी।

'अम्मा...' मैंने दोनों बांहें अम्मा के गले में डाल दीं और निढाल-सी उसकी गोद में गिर पड़ी।

मैंने किसी तरह अम्मा को बताया कि मेरे कमरे में छोटा मामू घुस आया था और दरवाजा बंद करके...

पहले तो लगा अम्मा पर गाज गिरी हो, फिर उसका चेहरा स्थिर हो गया, जैसे कुछ हुआ ही न हो, 'सो जाओ बिटिया, कोई बुरा सपना देखा होगा, जाओ...'

मैं गुस्से में/फूट पड़ने को हुई। चिल्लाने के लिए मुंह खोलने ही वाली थी कि अम्मा का रूखा-खुरदरा हाथ मेरे मुंह पर आकर दब गया। कानों तक मुंह लाकर फुसफुसाई :

'चुप रहो... खबरदार जो मुंह से आवाज निकाली...' अम्मा का चेहरा इतना विकृत हो चुका था कि मैं डर-सी गई। वह कह रही थी, 'सच-सच बताओ मुझे कि यह सब सच नहीं है...'

'लेकिन यह सच है अम्मा।' मैं रोने लगी।

अम्मा की आंखों से लपटें फिर लपलपाने लगीं। उसने मेरा हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचा, 'यह बात किसी से कहना मत... हल्ला भी मत मचाना। भगवान ने तुम्हारी रक्षा कर ली... आज कितनी बड़ी दुर्घटना टली है वरना, घर के आश्रितों

से ही घर को आग लग जानी थी...'

अम्मा की बात या उसका भावार्थ, कुछ भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था लेकिन इतना मन में स्पष्ट होने लगा था कि जो कुछ भी अभी कुछ समय पहले हुआ था, वह नितांत अनुचित था, घृणित था, बुरा था...

एक कड़वा कसैला-सा स्वाद मेरे मुंह में तैर आया।

अम्मा मुझे लेकर दूसरे कमरे में गई। वहां उसने मेरे सभी कपड़ों को ध्यान से देखा... मुझे सूंघा... परखा... मुझे आगे-पीछे करके निहारती रही।

'क्या कर रही हो अम्मा ?' मैंने पूछा।

'कुछ नहीं... याद रखना, किसी से कुछ कहना नहीं है... आंसू पोंछ लो, आज के बाद फिर रोना भी नही, सुन लिया न...' बार-बार अम्मा अपने कान पकड़ रही थी और आंखें ऊपर चढ़ा कर भगवान को याद करते हुए दुआएं भी मांग रही थी... 'लाख-लाख शुक्र है मेरे मालिक... मेरी बच्ची बच गई। गुनहगारों को तुम्हीं समझना मेरे... आज, अगर... तेरी कृपा इस पर न हुई होती तो यह अबोध बछिया कहां जाती...इतना बड़ा कलंक लेकर... इसके भविष्य का क्या होता...'

मैं फिर भी भौचक बनी रही। मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था कि मेरे आसपास क्या हो रहा है। केवल गहरी सांसें मेरे भीतर से बाहर तक मचलती हुई आ-जा रही थीं।

मैं उस समय भी जानती थी अम्मा बड़ी धर्मभीरु हैं। छोटे मामू उसे कलयुग की असली प्रतिमूर्ति दिखाई पड़ रहे होंगे... और उस एक दिन की उस घटना ने कितना परिवर्तन ला दिया होगा घर-बाहर के माहौल में।

अम्मा के पहले का शिकंजा मेरे भाई-बहनों पर इतना गहरा होता गया कि उनके आसपास चिड़िया भी पर नहीं मार सकती थी... मजाल क्या थी कि धूप की छाया भी उन पर पड़ती...

पिता की अंदर हवेली में क्या हुआ, मैं नहीं जानती। लेकिन दूसरे दिन मेरा प्रस्थान मुल्तवी कर दिया गया।

मेरे मन में भय, चोर बन कर घुस गया था... न जाने की खबर पाकर मुझे राहत ही मिली, संभलने के लिए कुछ समय तो चाहिए था, अम्मा ने कहा था।

उस घटना के बाद मैं खुद भी अपने अंदर एक खास तरह का परिवर्तन अनुभव करने लगी। एक नफरत का भाव जैसे मेरे अंदर जड़ें जमा कर बैठता जा रहा हो।

अम्मा ने मना किया था इसलिए मामा की वह हरकत मैंने किसी को नहीं बताई। मां से कुछ कहने का सवाल ही कहां उठता था। एक तो मां के सामने पड़ने की हिम्मत ही नहीं थी मुझमें दूसरे मां से दूर रह कर भी मैं भयभीत हो रही थी।

अब तक के सोचे-समझे सारे उत्साह पर पानी फिर गया जैसे।

मामू किसी से कुछ कहे-सुने बिना ही सुबह वाली गाड़ी से चले गए थे। बात चिड़िया के पूत तक भी नहीं पहुंच पाई... लेकिन अपने आप से उसे छिपा रखने का कोई तरीका तो नहीं था।

वह घटना मेरे जीवन की एक अभेद्य वृत्ति बन कर मुझमें ही समा गई थी...अम्मा पर मैंने उस बात की प्रतिछाया देखी थी। उसका चेहरा धुआं भरे बादलों-सा मटमैला और काला पड़ गया था। एक रात में वह अपनी उम्र के बीस वर्ष जैसे पार कर गई हो। आंतरिक घुटन ने उसे मौन बना दिया था। किसी से बात कही जाने लायक नहीं थी इसलिए उसी के अंदर घुमड़ती रही और अम्मा पत्थर हो गई... सफेद... पीला... स्याह पत्थर...

यह हमारी मजबूरी थी कि मां से वह बात कहने की हिम्मत किसी में भी नहीं थी। अम्मा में भी नहीं।

मां की भी अम्मा ने कितनी सेवा की। कभी कुछ करने नही दिया... आलस्य तो अम्मा को छू भी नहीं गया था। दिन भर हमारे ही कामों में जुटी रहती। सुबह स्कूल की तैयारी करने में व्यस्त, शाम को हमें सजा-संवार कर बाहर भेजना फिर रात्रि का खाना-पीना... सोने तक... हमेशा मैंने अम्मा को व्यस्त ही देखा था। एक के बाद एक कामों का ऐसा क्रम बंधा रहा कि जिंदगी ने उसे चैन से बैठने ही नही दिया कभी।

पिता उसकी श्रमशीलता की प्रशंसा करते, मां भी उसे डांट-फटकार कर प्यार से समझातीं कि थोड़ा सुस्ता ले। अम्मा कभी कठोर हसी हंसती, कभी कोमल मुस्कान बिखरे देती... दोनों ही स्थितियों में उत्तर उसका एक ही था... काम... और काम...

मां की वह अपनी सहेली रही सारी जिंदगी। सगे-संबंधी भी क्या सेवा करेंगे जो अम्मा ने मां की या पूरे परिवार की की है। अम्मा हम सबको प्यार करती थी तो दूसरी ओर गलती करने पर दण्ड देने का अधिकार भी उसे था।

जान-बूझ कर अम्मा कभी पिता के सामने नहीं पड़ी... इसमें और कुछ नहीं पिता के प्रति अम्मा के मन का अदब था...

उन दिनों अम्मा का ध्यान पूरी तरह मेरी ओर कैन्द्रित था... वह पूरी कोशिश कर रही थी कि किसी तरह मामा का मेरे घर में आना-जाना बंद हो जाय...'विष के दांत बाढ़ पर आ जाएं तो उन्हें तोड़ने में देर नहीं की जानी चाहिए'... वह कहने लगी थी।

लेकिन इशारों से बात खुल नहीं रही थी और मां की मोहनिद्रा भंग करने का कोई उपाय उसके पास नहीं था।

मां, जमाने की रफ्तार से बहुत अलग-थलग,.. दूर पड़ गई थी। पढ़ी-लिखी

जरूर थी लेकिन प्रखर बुद्धिमत्ता का उसमें निरंतर अभाव रहा। वह काला को सीधा मुंह काला कहने में हिचकिचाती थी। उसकी ममता-मुग्ध दृष्टि में वे सभी बेदाग थे जो उसके नजदीकी...अपने थे...

मां की यह कमजोरी मैं जानती थी, इसलिए बहुत कुछ जानते-समझते हुए भी किसी की चुगली मैंने मां से नहीं की।

शुरू-शुरू में एक-दो बार किया तो मां ने कान नहीं दिया... बचपन का एक वाक़या याद आने लगा है...

बहुत छोटी थी मैं... मां के साथ किसी के घर गई थी। कई लोगों के बीच बैठ कर मैंने वहां ढेर सारे गुलाबजामुन खा लिए। मां ने इशारा किया कि बस करूं। मैंने खाना बंद कर दिया। सहेलियां जिद करने लगीं कि 'एक और खा लो'। मैंने फटाक से कह दिया, 'मां खाने को मना कर रही है।'

मां बहुत शर्मिंदा हुई और घर आकर मुझ पर खासी फटकार पड़ी। मैंने तो सच बात कही थी, मुझ पर फटकार क्यों पड़ी, इस बात पर मुझे बहुत गुस्सा आया। मैने कई दिनों तक मां से बात नहीं की, ठीक से खाया-पिया नहीं।

अम्मा ने मुझे बहुत समझाया कि मैं जाकर मां से माफी मांग लूं। किंतु मैं दीवार की तरह सीधी खड़ी रही कि मैंने किया क्या है कि माफी मांगूं। खाया-पिया भी नहीं। भूखे पेट सोने चली गई।

लेकिन अम्मा भला कब सोने देती। वह जाकर रसोई से खाना चुरा लाई और अपने हाथ से मुझे खिला दिया... मैंने भी चुपचाप खा लिया क्योंकि भूख के मारे पेट में चूहे दौड़ रहे थे, न खाती तो नींद भी न आती... और अम्मा किसी को बताने थोड़े ही जा रही थी कि हमने खाना खा लिया था।

इसीलिए तो हम सब बच्चे मां से अधिक अम्मा के नजदीक थे। हम पर नजर पड़ते ही उसकी आंखों में ममता के बादल छा जाते थे और उसकी कठोर देहयष्टि भी मलमल की तरह कोमल हो जाती थी...

हम भाई-बहनों का महाभारत अम्मा ही संभालती थी... भाई... बेटा था न... बारी-बारी सबको छेड़ता ही रहता... मुझसे तो जान-बूझ कर भिड़ता... उसकी बदसलूकी से परेशान भी थे हम सब। कभी कपड़े उठा कर फेंक देता, घूंसा दिखाता... कभी-कभी जमा भी देता। हम चीखते-चिल्लाते... सारा घर सिर पर उठा लेते।

हंगामा सुन कर कोई आता तो उल्टी हमारी ही शिकायत लगाता। हमारी कोई सुनता भी नहीं। मैं इससे भी खार खाए बैठी रहती। जब भी मौका मिलता उसकी घुंघराली जुल्फें मुट्ठी में भर कर खींचती...

फिर तो कमरा अच्छी-खासी युद्ध-भूमि बन जाता। ऐसे माहौल में हमारे पास

फटकने की हिम्मत किसी और में नहीं थी। एक अम्मा ही थी कि गाज की तरह हम सब पर टूट पड़ती, हमें एक दूसरे से अलग करती... पिता से शिकायत करने की धमकी बेशक देती रही हो, शिकायत उसने किया कभी नहीं।

पिता से हम बहुत डरते थे। मैं तो उनके सामने जाती भी नहीं थी।

मेरा घर परम्परा-सांस्कृतिक संस्कारों के बल पर समाज में मर्यादा की दृष्टि से देखा जाता था। मेरे घर में लड़कियों की आचार संहिता पर इस सदी ने अपना प्रभाव नहीं डाला था। बदलाव की धूप हमारे घर तक नहीं आई थी और न ही मेरे कोई सामने ऐसा कोई निर्णायक क्षण आया था कि मैं इस दिशा में सोचूं या कुछ करूं।

एक अजीब वातावरण में मैं बड़ी होती जा रही थी। काल के अदृश्य बिखरी-फैली चौसर पर कसीदा काढ़ती हुई उसकी गोटियो पर मोती के अक्षर टांकती हुई या टांकने की झूठी कोशिश करती हुई।

मा ने पिता से कुछ नहीं कहा... हम बहनो को कुछ नहीं बताया। मैं तो वैसे भी अलग-थलग सबसे दूर हुई रहती थी... बाकी सबकी गुटबंदी थी। सबके अपने-अपने राज़ थे। कोई मुझसे कुछ बताता नहीं था।

वे सब आपस में बात कर रहे होते... मैं बीच में आ जाती तो सबको साप सूंघ जाता। सबके सब चुप कि उनके मुंह में जबान ही न हो।

मैं अपने ही भय से पानी में चंद्रमा की कापती परछाई की तरह अपने कमरे में लौट जाती जैसे शेर, शिकारी के ताम-झाम देख कर अपनी माद में घुस जाता है।

जंगल जैसी हृदय में फैली हुई अपनी अस्त-व्यस्त विचार वीथियों से लिपट कर रोती हूं। समूची सृष्टि मेरे लिए बिना किसी पद चिह्न की सड़क बन गई है।

मैं खड़ी होती हूं तो अदेखी सुइयां मेरे तलुओं मे चुभती हैं और मैं भविष्य की किसी प्रकाश लहर का पीछा करने भागती हूं। मेरे लहूलुहान पैर अपने ही निशान छोड़ते आगे बढ़ने लगते हैं...

कितनी उपेक्षा, कितनी अवहेलना सही है मैंने। बचपन की कई बातें मन में उभर कर मुझे आज भी समाहित करने लगती हैं।

अक्सर याद आता है... उस दिन बहनें बाजार जा रही थीं... पहले ही बता चुकी थीं कि मुझे साथ नहीं ले जाएंगी। अपने सूने एकांत मे सबसे अपने आंसू छिपाती अपने आंचल में समेटने लगी थी कि अरविंद कमरे में दाखिल हुआ।

खुशबू सना एक पत्र निकाल कर उसने मुझे थमा दिया और तेजी के साथ कमरे से बाहर हो गया।

अरविंद अपने माता-पिता सहित कुछ दिनों से हमारा मेहमान था। उसकी बहन

भी साथ थी जिसके रिश्ते के लिए वे आए थे।

अरविंद का पत्र खोल कर मैंने पढ़ा और असमंजस में पड़ गई। इससे पहले मुझे किसी ने प्रेम पत्र नहीं लिखा था। उस पत्र में उसने अपने आपको शब्द ब्रह्म में घुला कर मुझे समर्पित कर दिया था...

मैं सोचने लगी, अरविंद ने अपने प्रेम की सूचना मुझे दी है या विवाह का प्रस्ताव रखा है मेरे सामने ?

कुछ देर मैं यू ही निस्तब्ध सोचती रही फिर मेरी समझ में कुछ नहीं आया। मन ने सोचने से भी इनकार कर दिया तो 'मियां की दौड़ मस्जिद तक' की तर्ज पर मैंने अम्मा को बुलाया और उसके हाथ में पत्र पकड़ा दिया...

अम्मा लिफाफे को उलट-पलट कर देखती रही और मैं अपना असंतोष जाहिर करती हुई बुड्बुड़ाती रही :

'पता नही क्या हो गया है इस अरविद को... इत्र मे डुबो कर चिट्ठी दे गया जैसे मै उसकी माशूका हू। पता नही क्या समझता है अपने आपको... जब देखो तब एकदम सामने आकर खड़ा हो जाता है... चुहलबाज़िया करता है, सीढ़ियों पर खड़ा होकर रोशनदान से कमरे के अंदर झाकता है... एकटक मुझे घूरता रहता है। यह बदसगुनी मेरे ही साथ क्यो होती है। अम्मा, मेरी और बहनें भी तो है, उन्हें कोई प्रेम पत्र क्यो नही लिखता... उनके साथ लोग छेड़खानियां क्यों नहीं करते ?' मेरे गले में एक बड़ा-सा लम्प आकर अटक गया...

'अरविद बुरा लडका नही है रानी...' अम्मा समझाने लगी।

'नहीं है तो मुझे पत्र क्यो लिखा।'

'पता नही, क्या लिखा है, मैं तो यह पढ़ नहीं सकती। तू ही पढ़ के सुना न...' अम्मा चिरौरी करने लगी।

'धत्...' मुझे शरम आने लगी। फिर मैने अपनी शिकायत जारी की, 'ऐसे गंदे लोगों को मां घर मे रहने की इजाजत कैसे दे देती है।'

'मैंने कहा न बेबी, अरविद बुरा नहीं है।'

'फिर उसने मुझे पत्र क्यो लिखा। अर्पणा, कामिनी या मेखला को क्यों नहीं लिखा ?'

'छिः छिः अर्पणा बेबी कितनी छोटी है। कामिनी-मेखला को भी खत लिखने वाले एक दिन आएंगे। अभी तो बच्चे तुम्हारी ही उम्र है। हमारे जमाने में तो सोलह बरस की लड़की दो बच्चो की मां हो जाती थी।'

'इस घर में आने वाला हर आदमी मेरे कमरे में ताक-झांक करता है, अकेले में मुझे पकड़ना चाहता है, मुझे अच्छा नहीं लगता यह सब।'

'अच्छा तो बच्चे मुझे भी नहीं लगता।' अम्मा के बूढ़े-सिकुड़े हुए चेहरे पर बल पड़ गए। वह बोल नहीं पाई कुछ। लेकिन जिन नजरों से उसने मुझे देखा, लगा

कि मुझे खींच कर वह अपने वक्षस्थल में छिपा लेना चाहती है।

मैं खुश हो गई। मुझे एक बार फिर लगा, अम्मा मुझे सचमुच प्यार करती है, इतना प्यार वह किसी और को नहीं करती।

अम्मा ने मुझे हाथ पकड़ कर पलंग पर सुला दिया और धीरे-धीरे मेरे सिर पर थपकी देने लगी।

दूर कहीं ढोलक बज रही थी। अम्मा से पूछा तो पता चला सुम्मी के घर ढोलक बज रही है। सगाई का सामान लेकर उसके ससुराल वाले आए हैं, उसकी गोद भरी जानी है।

सुम्मी मेरे पिता के ड्राइवर की बेटी थी। मेरी ही हमउम्र... पर खिली हुई। मेरी तरह नहीं कि हंसने-बोलने पर पाबंदी, चलने-फिरने पर पाबंदी। बड़ी सुघड़ लड़की थी, शर्मीली और सुंदर भी। जहां जाती, ताजे फूल की तरह महकने लगती।

मुझसे बात करने के लिए सुम्मी हमेशा लपकती थी, वार-त्योहार कभी घर में आती तो मुझे ही देखती रहती। मेरे उतारे हुए कपड़ों में भी कितनी सजी-धजी लगती। लेकिन पहरे तो मुझ पर बैठे थे। कभी टहलने के बहाने मैं उसके घर की ओर रुख भी करती तो हाहाकर मच जाता। फिर भी मैं छिप-छिपाकर उससे दो-चार बातें कर ही लेती थी। हमें मिलने की छूट नहीं थी, लेकिन हम मानसिक रूप से सहेलियां तो थे ही।

मुझे याद आया, उसी दिन सुम्मी के बाप ने हमारे मुनीम़ जी से छोटा-सा शामियाना लगाने की स्वीकृति मांगी थी... तब मुझे सूझा ही नहीं था कि यह ताम-झाम सुम्मी की शादी या सगाई का भी हो सकता है।

अब मैं आंखें बंद कर पलंग पर पड़ी सोने की कोशिश कर रही थी। अम्मा मेरा सिर थपक रही थी और सुम्मी के घर मजीरों की टुनटुन पर ढोलक की थाप पड़ रही थी।

ऐसे में सोना क्या संभव था ?

मैंने अम्मा को बहला-फुसला कर किसी तरह उससे पीछा छुड़ाया और चुपचाप जाकर छत पर उस जगह खड़ी हो गई, जहां से सारा नजारा सीधा दिखाई पड़े।

जाने-अनजाने अनेक चेहरे दिखाई पड़े। सुहाग गाने वालियां शायद बुलाई गई थीं। फटेहाल कपड़े, अस्त-व्यस्त सजावट लेकिन क्या गला पाया था। गाते-गाते उनके चेहरों से भी सुहाग टपकने लगा था।

कुछ बड़ी-बूढ़ियां थीं, मुंह में दांत नहीं थे लेकिन आंखें ऐसे नचा रही थीं जैसे सारी दुनिया की जवानी उन्हीं पर आकर बिखर गई हो...

औरत-मर्द के बीच भी छेड़छाड़ चल रही थी। यही तो मौके होते हैं जब पराई

लुगाइयों को देखने की मनाही नहीं होती।

थोड़ी देर बाद मेरी नजर सुम्मी के चेहरे पर आकर टिक गई। मुझे लगा डाल से लटकते हुए फल की तरह सुम्मी के झुके हुए चेहरे पर कोई ख़ुशी नहीं थी।

सुम्मी की आंखें काले मेघ की तरह भरी हुई थीं।

'उसका मंगेतर उम्र में उससे बीस साल बड़ा है न, इसीलिए।' अम्मा होती तो तपाक से कहती।

मैंने सोचा, सुम्मी उदास है क्योंकि उसे अपने माता-पिता का घर छोड़ कर किसी अजनबी के साथ चले जाना होगा...'

जो भी हो, ख़ुशी के इस मौके पर सुम्मी का उदास चेहरा मेरे सामने एक प्रश्न चिह्न की तरह खड़ा हो गया और मैं उसका अर्थ ढूंढ़ने की कोशिश करने लगी।

खड़े-खड़े पता नहीं कितना समय बीत गया... मैं अपनी ओर से पूरी तरह बेख़बर थी...

सामने सुम्मी के घर जुटे मेहमानों में दारू का दौर शुरू हुआ। हल्ला-गुल्ला, मारपीट, चीख-पुकार, हंसी-ठट्ठा... मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें ख़ुशी थी या दुख या आपस में वे लड़ रहे थे...

अचानक बिजली चली गई। चारों ओर अंधेरा घुप्प... कहीं कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। मेरा मन अंधेरे में और टिकने का नहीं हुआ। विवश पैरों मैं अपने कमरे की ओर मुड़ी तो लेकिन मेरा मन भी उन्हीं लोगों की तरह तितर-बितर हो आया था।

ऐसा लग रहा था पूरे माहौल पर किसी ने सन्नाटा खींच दिया हो। मैं भी सन्न्नाट् थी, पता नहीं सुम्मी के लिए या अपने लिए...

दूसरे दिन पूरी कोठी में शोर मच गया :

सुम्मी किसी से प्रेम करती थी। यह शादी करना नहीं चाहती थी। उसने पहले भी माता-पिता से कहलवा कर शादी के लिए मना किया था लेकिन घर-परिवार में लड़की की बात कौन सुनता है। किसी ने उसकी बात गम्भीरता से नहीं ली...

उस दिन गोद में सगाई का सामान लिए भैरो मंदिर गई आशीर्वाद लेने तो लौट कर ही नहीं आई।

कहां चली गई कोई बताने को तैयार नहीं, इतने लोग तो साथ गए थे। किसी की आंख से ओझल भी नहीं हुई फिर किस धरती में समाई, कहां गई।

लोग कह रहे थे, उसे कोई भगा ले गया। पर कैसे... आने-जाने का रास्ता तो वही है, किसी की तो नजर पड़ती, कोई तो उसे आते-जाते देखता।

बहरहाल, सुम्मी के घर में तो हाहाकार मच ही गया था। सुम्मी के भागने की खबर पाते ही उसकी मां धड़ाम से गिर कर बेहोश हो गई।

सब लोग कितने खुश थे सुम्मी के ब्याह से। उसकी मां हमारी अम्मा से कितनी

बातें बता गई थी, कितनी खुश थी। स्वप्न में भी किसने सोचा था कि रंग में इस तरह भंग होगा।

पर नियति को कौन रोक सकता था... उसने तो सबको पत्थर बना दिया था...सुम्मी की बड़े पैमाने पर खोज हो रही थी।

लोग कह रहे थे, 'लड़की न लौटी तो क्या मुंह दिखाएंगे बिरादरी में... गरीबों का धन तो उनकी इज्जत ही होता है, जब वही न रहे तो जिंदगी बेकार है... हाय-हाय... सुम्मी ने किसी का तो ख्याल रखा होता...'

कुछ लोगों का मत इससे भिन्न था :

'सुम्मी का बाप भी तो उसकी मां को ऐसे ही उठा लाया था, उसके तो फेरे पड़ रहे थे, फेरों से उठा लाया डंके की चोट पर... अपने पर बीतती है तब पता चलता है, क्या गुजरी होगी सुम्मी के नाना-नानी के दिल पर। वक्त सबका बदला ले लेता है...

'काल किसी को बख्शता नहीं... घटनाओ पर इसी तरह आच्छादित हो जाता है... पानी पर जमी काई जैसी...'

मैं सोचने लगी, यदि सुम्मी की तरह कोई मुझे भी भगा ले जाता तो सारा झंझट ही साफ हो जाता। मुझे कितना मज़ा आता।

पिता धरती कुचलने लगते, मां धरती की छाती फाड़ उसी में समा जाती... अम्मा ज़हर खाकर मर जाती। नाते-रिश्तेदार आए मेहमान विपरीत वातावरण देख थोड़ा हक्के-बक्के रहते फिर वापस लौट जाते... पंचेन्द्रियों को धुंध के पीछे छोड़ कर अपने ढीले पड़े, लटके चेहरों पर अपशगुन और व्यंग्य भरी मुस्कामें चिपकाए कोई और घर तलाशने।

मिश्राणियां जो रसोई में मददगार साबित होने आतीं, नेग के रुपये न मिलने के कारण पतीले में पकते भात की तरह खदबदा कर, मुंह से गालियां झाड़ती अपने-अपने घर चली जातीं...

रुपयों की थैली पकड़े मुनीम जी बरामदे की रेलिंग पकड़े सूने आंगन की शून्यता निहारते रह जाते।

भाई-बहनों के कलेजे में आग लग जाती। मेरा घर से भागना विधाता का करारा व्यंग्य मान लिया जाता जो आग की लपट की तरह एक छोर से दूसरे छोर तक सबको बेधता-छेदता निकल जाता...

बदनामी के डर से चुहिया बना मेरा परिवार भय से जर्जर मेरे वापस आने की आशा में छटपटाता हुआ ऊपर-नीचे चक्कर काटता... कितना मज़ा आता...

लेकिन मुझे भगाता कौन ?

मेरे हृदय में अक्सर इस तरह की बातें सोच कर निराशा का चांद डूबने लगता और आशा का सूरज उगता दिखाई देता।

मेरी मां को लोक निंदा का भय बेशक था लेकिन जब हुई तब निंदा की परवाह की नहीं। पिता की मृत्यु के बाद तो उसने दुनिया-समाज, सबको भुला दिया।

'दुनिया क्या कहेगी ?' कोई कहता तो वह खीझ पड़ती :

'और कितने दिन दुनिया की चाबुक चलेगी मुझ पर... मैं नादान नहीं, नन्हीं बच्ची भी नहीं हूं कि अब भी मुझे किसी से डरना पड़े...' तुनक कर कहती।

अम्मा मेरे इंतजार में बैठी हथेली पर तम्बाकू मल रही थी उस दिन सो मलती रही।

मैंने खुद ही जाकर झटपट हाथ-मुंह धोए और पलंग पर जाकर लेट गई।

चूने का चम्मच ढूंढ़ती हुई अम्मा ने सिर उठाया तो उसकी नजर मुझ पर पड़ी और वह बम के गोले की तरह फट पड़ी :

'सच-सच बताओ, कहां निकल गई थीं ? मैं सोच रही थी कि तुम सो गई हो...'

मैं चुप पड़ी रही ताकि अम्मा यह समझे कि मैं सो रही हूं।

लेकिन अम्मा कहां मानने वाली थी। उसने झिझोड़ कर मुझे जगा दिया और बड़बड़ाने लगी।

मेरे सामने कोई रास्ता नहीं था, अंत में हार कर अम्मा के सामने मैंने अपना गुनाह कबूल किया, तब जाकर वह शांत हुई लेकिन मन का गुस्सा उतर चुका था और नींद उसकी पलकों पर उतरने लगी थी। अम्मा का बड़बड़ाना बंद नहीं, कम जरूर हो गया था।

मैं सोचती रही, अम्मा के चलने का समय अब आ गया है। बुजुर्गी की झुर्रियां बढ़ने के साथ उसे त्वचा के रोग भी लग गए थे। पूरे देह पर चकत्ते इस तरह नजर आते जैसे चांदनी के बीच में किसी दीवार की आड में खड़े पेड़ के पत्तों की छाया पड़ रही हो।

'मुझे भी अब सोना चाहिए।' मैंने अपने आपसे कहा। खिड़की-दरवाजों पर पड़े झिलमिल परदों के पार आसमान के आंगन में बादलों की ज़मात आ-जा रही थी... वहां और कुछ रखने हेतु तिल भर की भी जगह नहीं थी...

अचानक बिजली कौंधी और उस कौंध ने लाकर मुझे फिर यादों की वादी में पटक दिया।

कुछ ही क्षणों में मेरी दृष्टि परिक्रमा करती-करती एक ही स्थान पर बार-बार रुकने लगी जहां मामू की धूप से झुलसी, पालक के पाले की काया और बौने अरबिंद का प्रेम निवेदन रुक गया था। ये दो स्मृतियां मुझे आजाद नहीं कर पा रही थीं और मेरी शिराओं-धमनियों में तनाव पैदा करने के लिए पर्याप्त थीं।

मैं अपने एकाकीपन से कितनी तंग आ गई हूं। पर इस समय मेरे पास करने को कुछ और है भी नहीं...

धीरे-धीरे अपने पलंग से उठ कर कोठी के सामने वाले लॉन में जनाने भाग की ओर एक कुर्सी पर बैठ कर मैं जिए-देखे जीवन की जुगाली करने लगी हूं।

फिर इस नतीजे पर पहुंची कि एक न एक दिन वह समय आएगा जरूर जब मेरे रिसते घावों पर काल अपने घिसे-पिटे नुस्खे लगाएगा।

औरतों की गुलामी के दिन भी एक दिन बदल ही जाएंगे क्योंकि अगर ऐसा नहीं हुआ तो राष्ट्र सुदृढ़ कैसे होगा ?

यदि स्त्री मेरी तरह सास-नन्द और बहू के किस्सों में ही उलझी रही तो उसे नजात कैसे मिलेगी ?...

किसी ने कुएं में कूद कर जान दे दी तो क्या बात बनी ?

किसी ने अपने देवता बने पति की चिता पर चढ़ कर आग लगवा दी, तो क्या हुआ... बेशक, राष्ट्र का आधा अग कैंसर से ग्रसित हो गया...

औरत क्या आज भी मरदों के लिए ज़र-जमीन ही रह गई है ? जमीन की तरह उस पर अपना दखल जताने के लिए मर्द क्यों बेजार रहता है ?

अगर इस दखली से औरत आजाद न हुई... जुर्मों के दंश से दहकती ही रही तो चाहे देश में कल-कारखानों के जाल बिछ जाएं खुशहाली नही आ सकती... नई पौध पनप नहीं पाएंगे...

मैं अपने पिता के घर आ गई हूं, लेकिन जानती हूं यह मेरी समस्या का अंत नहीं। प्रारम्भ भी ठीक से कहां है ?

जिस दिन आई थी उस दिन बेशक, यह लगा था कि शायद मेरी सभी समस्याएं सुलझ गईं... मुसीबतें कट गईं...

मैं खुश थी... बाग़-बाग़ हुई बहनो से मिल कर...

मैंने उन्हें गले लगाते हुए कहा :

'इस घर का एक कटा हुआ टुकड़ा थी मैं जो भेज दी गई थी। अब वापस आ गई हूं... तुम्हीं से जुड़ने... अपना ग़म सदा के लिए भूल जाने... मेरी बहनों, आज तुम मुझे यह बताओ कि क्या कभी तुममें से किसी के साथ मैंने कोई दुर्व्यवहार किया ? बड़ी बहन होने के नाते कोई पंगा लिया है ? किसी तरह के जुल्म तुम पर ढाए हैं... तुम सबकी गोपनीय बातें क्या कभी मेरे होंठों पर आई हैं ? क्या मैंने कभी उन्हें उजागर किया है ?...'

इसी तरह के प्रलाप मैं करती गई और मेरी तीनों बहनें ऐसी चुप्पी साधे खड़ी रहीं जैसे वे पथरा गई हों या उन्हें काठ मार गया हो...

उनकी खामोशी ने मेरी आंखों से एक परदा हटा दिया और मैं देख सकती थी कि मेरी बहनों की खामोशी में मेरा स्वागत नहीं था...

शायद अब इस घर में वे मुझे गज भर जमीन देने को भी तैयार नहीं थीं।

मझली बहन कामिनी का विवाह हो चुका था। मेरे बाद वाली मेखला अब तक कुंवारी थी। उसके कई रिश्ते आए थे, अच्छे से अच्छे लोगों ने उसे मांगा था लेकिन कुछ ऐसा जुगाड़ बनता गया कि बात पटी नहीं... कहीं-कहीं तो स्वयं मेखला ने पागलपन का ऐसा स्वांग भरा कि आने वाले बिना कुछ कहे-सुने भाग छूटे...

यह तो बहुत बाद में पता चला कि वह किसी और से विवाह करना चाहती है, जिसे घर-परिवार कभी स्वीकार नहीं करेगा।...

बहरहाल, बेशक अपने पिता के घर आकर मुझे सम्मान या स्वागत न मिला हो लेकिन मेरे मानस में शांति थी।

अपना अधिक समय मैं अपने 'पपीज़' (कुत्ते के बच्चों) के साथ बिताने लगी हूं।

उन्हें नहलाना-धुलाना, खिलाना-पिलाना, उनके प्यार में निहाल होते रहना... ईश्वर का आभार मानना कि लाख-लाख शुक्र है उस भगवान का कि कम से कम जानवर तो मुझे प्यार कर रहे थे। मेरे आगे-पीछे घूम रहे थे... मुझे कभी अकेली नहीं छोड़ते, न मुझसे उल्टे-सीधे सवाल पूछते थे...

मेरे घर की हवा... यहां का पानी... दूर-दूर तक फैले हुए लॉन, उन पर उगी हुई तराशी गई घास... उस घास पर पड़ने वाले सूर्य की पहली किरण से अंतिम किरण तक का दायरा, फिर शाम को सूर्यास्त बेला से ही रातरानी के पेड़ों से बिखरने वाली खुशबू...

पंछियों का मधुर संगीत... कपोतों की गुटर गूं... कोयल की कूक, पपीहे की पीपी... मौसम के आने-जाने के साथ आम की मंजरियों पर गूंजते भौरों का संगीत ...फूलों पर फड़फड़ाती रंग-बिरंगी तितलियां और सारा का सारा समय मेरा अपना...

किस नरक से उठ कर आ गई थी मैं इस स्वर्ग में... वहां तो सांस लेने पर भी पहरे बिठाए गए थे और यहां मैं हाथ-पैर फैला कर जहां चाहूं चौड़ी हो सकती हूं... घास पर लोट लगा सकती हूं, पिछवाड़े आम के पेड़ पर लगे हुए झूले पर पींगे मार सकती हूं...

अगर मेरी बहनें मुझे खुली बांहों में भर लेतीं, स्वीकार कर लेतीं तो मेरी खुशी में कई गुना इजाफा हो जाता... लेकिन तब शायद इतनी खुशी संभालना मेरे लिए मुश्किल हो जाता... मेरा तो संतुलन ही बिगड़ जाता, इसीलिए सोचती हूं जो हुआ अच्छा ही हुआ। अब कम से कम अपने एकांत में अपना और अपनी जिंदगी का विश्लेषण मैं सही-सही कर पाऊंगी। आगे की जिंदगी को एक तरतीब देने की बात

सोचूंगी...

मैं अपना अधिक से अधिक समय अपने कुत्तों के साथ बिताती हूं। क्योंकि उनसे मुझे अजहद प्यार मिलता है। मैंने उन्हें नए-नए नाम दिए हैं। खाने की मेज पर खाने के लिए जाती हूं तो ये आकर मेरे पैरों से लिपटने लगते हैं। मैं उन्हें प्यार से गोद में उठा लेती हूं तो मुझे किसी न किसी की झाड़ पड़ जाती है। जाकर दुबारा हाथ धोना पड़ता है फिर भी मैं अपने 'पेट्स' को अपनी आंखों से ओझल करना नहीं चाहती।

अम्मा या अन्य नौकर-चाकर के लिए कुछ खास फर्क नहीं पड़ा है, जैसे मैं पहले रहती थी, वैसे ही अब भी हूं लेकिन मां के चेहरे पर नजर पड़ते ही तनाव साकार होने लगता है...

मां से पूरी सवेदना मुझे मिली है, बहनें अंदर से कुड़बुड़ाएं चाहे जितना, कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। अधिक से अधिक उपेक्षा करेंगी लेकिन जो उपेक्षा सह के मैने अपने तथाकथित घर से बाहर कदम रखा था, उससे अधिक उपेक्षा तो नही कर सकतीं।

मेरे लिए इतना ही पर्याप्त था।

मेरे यहां आने का विरोध नाते-रिश्तेदारों में हुआ जरूर होगा... मुझ तक जितनी बातें पहुंच पाई उनमें कुछ खास नहीं था... इसमे कहीं मेरी मां का दबदबा भी था।

मां ऊपर से शांत थी, तनाव कभी-कभी उसके चेहरे पर झलक जाता लेकिन अंदर ही अंदर उसने माहौल की कुंजी इस तरह घुमाई की कोई भी अप्रिय बात, प्रसंग, मुझ तक फटक भी न पाए... कि मैं अपने एकात में मुक्त रह सकूं... मेरे दिलो-दिमाग पर पड़ी हुई खरोचे एक-एक करके मिटती चली जाएं... और मै जितनी जल्दी संभव हो एक नार्मल स्थिति तक आ जाऊं...

मेरे हक में भी यही है। मैं मां की उपलब्ध कराई सारी सुविधाओं को भोग कर अपने लिए किसी एक रास्ते की बात सोच रही हूं। कम से कम मेरा दग्ध, क्षत-विक्षत मन इतना स्वस्थ हो जाए कि शांत-स्थिर चित्त से मैं अपने भविष्य का नक्शा बना सकूं...

आखिर जिंदगी को कोई न कोई किनारा तो देना था मुझे।

वक्त कभी किसी का इंतजार नहीं करता, फिर मेरा ही क्यों करता ? वक्त के साथ दूसरों के व्यवहार बदलते हैं और यह बदलाव मैंने भी देखा है...

इस समय जो विरोध चल रहे हैं बात उसी की करूंगी... भविष्य पर रौशनी इसी से पड़ेगी...

मेरे कुत्ते बीमार हैं, उन्हें लेकर डाक्टर के पास जाती हूं तो मुझे गाड़ी नहीं

मिलती। कभी मिलती है तो मेरा जम कर विरोध होता है। मुझ पर इलजाम है कि मैं फिजूलखर्च हूं, कुत्तों पर बेसाख़्ता खर्च करती हूं...

मां के पास शिकायतें आती हैं... मौक़ा मिल जाए तो मुझ ज़लील भी किया जाता है...

मां हल्दिया चेहरे से मेरी ओर देखती भर है। कुछ कहने-सुनने में शायद खुद को असमर्थ पाती है।

कभी-कभी अचानक उठ कर भरी महफिल से किसी एकांत कोने में काठमारे की तरह जाकर दुबक जाती है।

हो सकता है उसके अंदर खीझ पैदा होती हो, वे आत्मधिक्कार भी करती हों लेकिन इसकी जिम्मेदारी मैं अपने सिर नहीं लूंगी। बहरहाल, कभी-कभी मां के किसी एकांत कोने में दुबक जाने से घर में हलचल तो मचती है लेकिन मुझे कोई कुछ कहता नहीं...

कहता भी तो जवाब था मेरे पास—आज मैं जो कुछ हू या बना दी गई हूं उसकी जिम्मेदारी अकेले मुझी पर तो नहीं है...

मां मेरी कमजोरी किसी पर जाहिर होने नहीं देना चाहती लेकिन मुझी से हर बार कोई न कोई भूल हो जाती है कि मेरी कमियां उजागर हो जाती हैं... लोग मेरा मज़ाक उड़ाते है और मां का मन कहीं दहकने लगता है।

मेरे पास इसका भी कोई इलाज नहीं... न मैं लोगों को मजाक करने, न मां को दहकने से रोक सकती हूं...

मेरी नियति आखिर क्या होगी ? क्या दुबारा मुझे उसी नरक में भेज दिया जाएगा... मुझे कुछ पता नहीं और जो पता नहीं उसके बारे में मैं सोचना भी नहीं चाहती।

केशव

मेरी मां आपको मेरा परिचय दे चुकी हैं और आगे की बात शायद उन्होंने मेरे लिए ही छोड़ी है, लेकिन आप जानते है अपने बारे में कुछ कहना कितना मुश्किल होता है... मैं अपने विषय में क्या कहूं ? फिर भी जब मन बना लिया है तब कुछ कहूंगा जरूर।

पहली बात तो आप यही समझ लें कि मेरी कोई पहचान नहीं... मेरा कोई स्थायी पता भी नही। परिवार बेशक है लेकिन उस परिवार से मेरा कोई वास्ता नहीं ... मैं नितांत अकेला हूं...

महाभारत के पात्रों में से किसी एक का दुर्भाग्य लेकर मैं आकाश से घिरा हूं, इस धरती ने मुझे झेला है और किसी मां कही जाने वाली औरत के अभिनिवेश में मैं पाला-पोसा गया हूं। कम से कम मेरा प्रारम्भिक पालन-पोषण या यूं कहूं कि सूत्रपात वहीं हुआ है।

मैं अपंग होकर ही जन्मा हूं। किसी अशुभ घड़ी में कर्दप ऋषि की पत्नी की तरह, कुवेला देख कर किसी की पत्नी कहे जाने वाली मां की खोल में औरत ने उत्तेजित होकर पिता से पुत्र-देने का वरदान मांगा होगा और मैं उसकी कोख में प्रवेश कर गया होऊगा।...

देवपुरुषों को शायद यह अच्छा नहीं लगा होगा... तभी क्रोधित होकर उन्होंने मुझे लंगड़ा होकर इस दुनिया में आने का अभिशाप दे दिया।

देवी-देवताओं के प्रकोप से अंग विच्छिन्न होकर जीना उतना बड़ा अभिशाप नही यदि जिस्म का शेष भाग अपनी आयत में रहे। मेरे साथ वैसा भी नहीं हुआ।

पैर की तरह मेरा दिमाग भी पंगु जैसा ही है जैसे किसी ने... समय-सारिणी के मुताबिक आचरण करते हुए कीलें ठोक-ठोक कर उसे हमेशा के लिए घायल कर दिया हो।

कहीं कोई भयंकर गलती अवश्य हुई है, चाहे धरती पर या देवपुरुषों के देवलोक में... मेरे पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि मैं इस सच्चाई का पता लगा लूं... लेकिन मेरा मन जो कह रहा है उससे मैं विमुख भी कैसे हो जाऊं ?

अगर ऐसा न होता तो मेरे पिता की सुवर्ण मंदिर के शिखर पर चढ़े हुए कलश जैसी पावन काया में से निःसृत अपावन बीज, धरती-सी मां की कोख मे अंकुरित्त हुआ पौधा, आज जाने किस अधर्म की खाद-मिट्टी में परवरिश पाकर, एक पौधा

क्या पूरा पेड़ बन कर मेरे रूप में खड़ा न होता...

ऐसे किसी पेड़ की बात आपने सुनी है जिस पर फूल आया ही न हो, बस सीधे एक फल लग गया हो ? मैं एक पुत्र का पिता होने की संज्ञा भी पा चुका हूं, और मेरी पत्नी ?

वह पुत्रवती कहलाती है... उसकी कुक्षि में एक दीप जलता दिखाई पड़ता है।

जिस व्यक्ति को कभी पति बनने का एहसास ही न हुआ हो उसके पिता बनने की कल्पना आप कर सकते हैं ? और यह गौरव पाकर क्या मुझे प्रसन्न हो जाना चाहिए ?

अगर चाहिए तो मैं हो नहीं पाया। मैं तो उस दुनिया में रह ही नहीं पाया जिसे लोग मेरी दुनिया कहते हैं और जिस दुनिया में मैंने रहना शुरू किया या आज रहता हूं, उसे लोग आदमियों के रहने लायक जगह मानते ही नही। उनके लिए वह जगह कीड़े-मकोड़ों वाली है... और आप सच मानिए उन कीड़े-मकोड़ों की तरह जीने वालों में जाकर मुझे लगा था कि मैं भी एक जीवित प्राणी हूं, मुझमें जान है और मैं 'रिएक्ट' कर सकता हूं...

वहां, मेरे वंशवृक्ष का कोई इतिहास नहीं है, वहां कोई अतीत भी नहीं मेरा, मैं पूरी तरह सुरक्षित हूं। मेरे पुरखों के पास सभी कुछ था, भरा-पूरा इतिहास और जीता-जागता अतीत। तो क्या वे असुरक्षित थे ?

पता नहीं... मैं उस पचड़े में पड़ूं भी क्यों... इतिहास या अतीत जिसे होना हो मुबारक रहे... मैं तो वर्तमान में भी खुश रह सकता था... लेकिन वह वर्तमान भी मेरा अपना कहां है ?

जिन लोगों के बीच मै अपनी पहचान बना पाया हूं जिसके लिए मुझे अपने कहे जाने वाले, हज़ारो लानतें भेजते हैं, उनके बीच कभी-कभी सुना है लोग कहते हैं :

'मेरा लहू ऊंचा है... मैं ऊंचे कुल का हूं।'

अब लहू कैसे ऊंचा होता है, मैं नहीं जानता। मेरे पिता का लहू ऊंचा था या नहीं, यह मैं किससे पूछूं। मां की परिभाषा पाने वाली उस औरत का लहू मुझसे जरूर मिलता होगा क्योंकि उसकी कोख में उसी के लहू से मेरा निर्माण हुआ था... इस हिसाब से वह भी ऊंचे लहू की औरत है...

लेकिन मेरा लहू अब शायद पानी हो चुका है, क्योंकि मैं उस ऊंचे सत्संग में नहीं हूं जहां उच्चता फलती-फूलती है। इसीलिए मुझे अपने खून का सही बोध भी नहीं हो पाता...

मेरे पितृव्यों ने देश के इतिहास को नया मोड़ दिया था। लेकिन इस बात का सही मूल्यांकन कहां हो पाया। उनको सही पहचान भी कहां मिली... उनके यथार्थ स्वरूप को किसने पहचाना ?

शायद यह मेरा कर्तव्य था कि मैं आज के युग को उनके आख्यानों की व्याख्याएं देकर वर्तमान की कड़ी से जोड़ देता लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया...

मेरे दिमाग की सारी ताक़तें शरीर भर में व्याप्त हो गईं और मेरा शरीर फूलता ही चला गया... मेरी मां इन दो अतिवादी परिस्थितियों से जूझती रही...

उसका पति छोटी अवस्था मे ही रंगीन पतंग की तरह ऊंचे आसमान तक पहुंच गया था और मैं झरने के पानी की तरह पाताल के खड्ड में उतरता ही चला गया।

मां की अंगुली छुड़ा कर जब मुझे सबसे बड़े और बढ़िया कहाए जाने वाले स्कूल में दाखिला दिलाया गया तो मां कहलाने वाली औरत ने एक ठण्डी सांस ली थी जैसे उसे कुछ क्षणो के लिए आराम आ गया हो...

मैं भी नहीं जानता था कि कुछ देर आराम का हासिल उसके अनंत तनावों का प्रारम्भ था।

मैं जानता हूं उस समय चंद पलों का जो सुकून उसने हासिल कर लिया था वह कुछ ही देर बाद समाप्त हो गया होगा। नहीं तो मंदा जरूर पड़ गया होगा...

काल के प्रवाह में फसी मेरी वह मां, आज जब मेरे उद्दाम चरित्र के चर्चे सुनती है तो उसके पैरो तले की रेत खिसक जाती है। उसकी छाती धड़धड़ा कर फटने लगती है।

मेरी मा, लगता है मेरे प्रति अपनी संवेदनशीलता अब खो चुकी है...

मैं अपने बडो के उज्ज्वल अतीत और विनाश के बीच की कड़ी हूं।

मैं उस काल क्रमशील घटनाओं के कुचक्रों का दस्तावेज हूं। नाश के बाद पुनर्निर्माण के विषय में मौन धारण करना जीवन की मुखरता से अधिक पीड़ादायक होती है।

मैं एक खण्डित... भयावह संधिकाल हूं जिसमें पीड़ा-प्रपीड़ाओं के अलावा और कुछ नहीं है... उसे भोगने में मैं किसी से पीछे नहीं, अपनी मां से भी नहीं क्योंकि मेरी मां मेरे हर कर्म... हर शब्द से आज भी उतनी ही शिद्दत से प्रभावित होती हैं...

फिर भी मैं यह नहीं कह सकता कि मैं अपने इस तथाकथित परिवार का प्रतिनिधि हूं... कि महत्वपूर्ण मुद्दों पर मेरी राय मांगी जाती है, कि मुझसे कुछ पूछा जाता है... मेरी इच्छा-अनिच्छा का सम्मान होता है।

मेरे शब्द अपना अर्थ खो चुके हैं... मेरे वाक्यों का बाहरी या भीतरी कोई संदर्भ नहीं होता...

लेकिन यह सच है कि मैं न्याय और अन्याय दोनों के ही अर्थ ढूंढना चाहता

हूं। ढूंढ़ता रहता हूं। है न मज़ेदार बात। लोग मुझ पर हंसते हैं और मैं उनकी हंसी का मजाक उड़ाता हूं।

लोग कहते हैं मैं व्यंग्य में बोलता हूं, कोई सीधी बात मेरे मुख से निकलती ही नहीं। मैं सीधी भाषा एकदम भूल गया हू।

शायद इसीलिए मैं किसी से मिलता नहीं और दूसरे भी मुझसे मिलना पसंद नहीं करते। कुछ कहते-सुनते भी नहीं लोग... मुझे देख कर फड़कते हुए कुछ कहते-सुनते होठ एकबारगी चुप हो जाते हैं... मेरी मां भी मेरे सामने चुप ही रह जाती है...

कितने ही दिनो से मैं अपनी मां का झुर्रियो वाला सिकुड़ता हुआ चेहरा नहीं देख पाया हूं... देखने की इच्छा भी नहीं जागी। शुरू से ऐसा ही होता आया है।

दिशाहारा... जड हो गया हू शायद... मां और स्त्री के बीच के भेद मेरे लिए लुप्त हो गए हैं... जहा मां की पवित्र, ममतामयी मूर्ति होनी चाहिए वहा केवल एक जुगुप्सा है जख्मी होकर लथपथ...

अंतर के प्रशस्त प्रागण मे बिखरी हुई वक्रोक्तिया रह गई हैं, धीरे-धीरे सुलगती हुई... सुलगन के इस रिसते हुए धुए से एक तरह की विषैली गैस की गंध निकलती रहती है... मन धू-धू कर जलता है...

मेरे जीवन की सभी सीमाओ के पार तक कटुता फैल गई है... ऐसी कटुता, जिसने आसमान और जमीन के बीच आकर बसे हुए ब्रह्माण्ड मे भी भूकम्प ला दिया है...

अपने दो अन्य भाइयो के साथ मैं विद्यालय मे पढ़ने जाने लगा था। उनमे से एक भाई को मेरा नाम बहुत पसंद आया। उसने बालसुलभ ज़िद के साथ मा से मेरा नाम मांग लिया और मा ने दे भी दिया, यह सोचे बगैर कि वह मेरा नाम था, उस पर सिर्फ मेरा हक़ था...

अब नए सिरे से पहचान शुरू हुई, उसकी मेरे नाम से और मेरी उसके नाम से... आज भी अपना नाम मुझे अपना नहीं लगता... मै उस नाम को कभी स्वीकार ही नहीं कर पाया...

भाई के नाम पर मां ने कई पाठशालाएं खोलीं, कितने ही वजीफे देना शुरू करवाया... वह मेरा असली नाम था।

और मेरा नाम केवल मेरा ही बन कर रह गया... मेरे दुर्भाग्य ने उसके विस्तार की सभी राहें अवरुद्ध कर दीं...दरअसल वह नाम मेरा तो था ही नही।

भाई का तथाकथित नाम चल पड़ा, धीरे-धीरे दौड़ने लगा। आगे चल कर इसी नाम पर अनेक नए कारोबार शुरू किए गए... बहुत विस्तार हुआ इस नाम का...इतना कि हमारे इस्टेट के सारे कारोबार इसी नाम से चलने लगे।

यह बात मेरे दिल को लगी, मन में इसका ज़हर भी फैला पर मैंने अपनी प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की...

सबसे पहले इस ससार मे मैं आया, पुत्र होने का सवाब प्रारम्भ मे मुझे मिला और फिर छिन गया। जीवन की घुड़दौड़ मे पहला होते हुए भी पीछे रह गया और दोष मेरे पैर को दिया गया, मेरे पैर में कमी जो थी, मै अपंग था...

मेरा विद्यार्थी जीवन भी कम पेचीदा नहीं था... रोज कोई न कोई ऐसा वाकया घटित हो जाता जो मुझे अपने खिलाफ साजिश ही लगता...

कक्षा मे हमेशा देर से पहुचता इसलिए चुपचाप जाकर पीछे वाली बेच पर बैठ जाता। मेरे ही जैसे कुछ और बैक बेचर थे जो मेरे आने से चहक उठते... बस, गुस्ताखियो के दौर शुरू हो जाते...

मुझे याद है स्कूल जाने के पहले दिन ही एक लम्बा-चौड़ा भाषण सुनने को मिला था। उसमे कई नियमो का उल्लेख था.. घर मे मा और स्कूल मे हेडमास्टर...बस एक ही बात पर दम साधे रहे। और वह बात थी भाषण में दिए गए नियमो का सख्ती से पालन..

पहली बात थी, साफ-सुथरा होकर समय से स्कूल आना... कभी देर न करना, कक्षा की या स्कूल की लडकियो से छेडछाड न करना.... कॉपी-किताब साफ रखना, स्कूल मे मिला हुआ होमवर्क नियमित रूप से कर के लाना... और इसी तरह की कुछ अन्य बाते..

लेकिन अपना आलम कुछ और था। मैने तो नियम-कायदे मे बध कर रहना सीखा ही नही था, बल्कि अनजाने मे कभी किसी नियम का पालन हो जाता, कभी समय से कही पहुंच जाता तो मुझे अपने आप पर ही खीझ पैदा होने लगती। हजार झूठ बोल कर उसे छिपाने की कोशिश करता, जाने कितने बहाने बनाता...

किसी नियम की पट्टी मैं अपने आप पर चस्पा नहीं कर सकता था और अपने आसपास के लड़कों मे डीग हांकता :

'नियम भी तोड़ने के लिए ही बनाए जाते है, यार ! इसमें ऐसी क्या बात हो गई।'

लड़कियो से छेड़छाड़ की मनाही थी। न चाहते हुए भी मैंने इसका पालन किया। यह मेरी नियमों के प्रति फर्माबरदारी नहीं थी, कोई नहीं जान पाया उन दिनों की दरअस्ल लड़कियों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया ही नहीं। मैंने उस दिशा में कोई रुचि भी नहीं ली। व्यावहारिक स्तर पर भी मैंने उनसे बातचीत की पहल नहीं की...

लोग कहते हैं मेरी विवाहिता अनिंद्य सुंदरी है... कई बार मैंने गौर किया है,

मां उसे अपलक निहारती रहती हैं, फिर एक लम्बी सांस खींच कर चुप रह जाती हैं।

नाते-रिश्तेदारी मे भी मेरी पत्नी के सौंदर्य के चर्चे हैं, चाची-ताइयों, भाभियों-बहनों को आपस में बात करते सुना है, पर मै यह नहीं समझ पाया कि आखिर उसमें ऐसा क्या है जिसे सौंदर्य की परिभाषा से सजाया-सवारा जाता है।

लोग कहते हैं सुदर होने के साथ-साथ वह आकर्षक भी है लेकिन उसके आकर्षण का जादू आज तक मुझ पर नही चला। आप मानेंगे नही लेकिन सच्चाई यही है कि मैंने उसे ठीक से देखा भी नही, देखने का मन ही नहीं किया।

मुझे बहला-फुसला कर बार-बार उसके सामने लाकर छोड देने की कोशिशे की गईं। अलग-अलग तरीको से लोगों ने उसके आकर्षक पहलू मेरे सामने बार-बार रखे, कुछ सीधे, कुछ सकेतो मे लेकिन मैं तो मैं ही रहा। सभी बाते सिर के ऊपर से ऐसे गुजर गई जैसे रपटीली जमीन पर से सभी तरल पदार्थ बह निकलता है।

मेरी दिलचस्पी तो लडको को छेडने मे थी। कक्षा मे पीछे वाली बेच पर बैठ कर जब मै अगल-बगल या आगे की बेच पर बैठे लडको को छेडता तो आसपास की लडकियां घूर-घूर कर मुझे देखा करती।

मैं जानता हू, तब भी जानता था कि देखने जैसा कुछ मुझमे नही है फिर भी लडकियो की टकटकी मुझमे लगती और उनकी नजरो का ताप मेरे आसपास बैठने वाले लड़के लूटते थे।

मुझे कुछ न होता हो ऐसी बात नही थी। मेरी कनपटिया झनझना उठती, कान के दोनो पोर लाल हो जाते लेकिन यौवन की ऊष्मा या खुमार से नही। शर्म की झेप से... मुझे लगता मेरी ओर इनकी नजरे मेरी कमियो को ढूढने के लिए घूमी हैं और मैं उनके सामने निर्वसन होता जा रहा हू...

मैं पुरुष था जरूर लेकिन मुझे अपने पौरुष पर विश्वास नही था। मुझे यह कभी लगा ही नही कि मैं मर्द होने के नाते कभी किसी औरत को संतुष्ट कर पाऊंगा...किसी सर्वथा अनजान औरत से तो मैं बातचीत भी करना पसद नही करता था। शायद इसीलिए मैं इस विवाह के खिलाफ़ हो गया था।

लेकिन मेरी किसने सुनी, मुझे त्राण कहां मिल पाया... मा-बहनो की चिकनी-चुपड़ी बातो मे आखिर आ ही गया न।

मा कहती :

'मेरे होते हुए तुम्हें, किस बात की चिंता है... तुम विवाह करो, बहू और होने वाले बच्चो की जिम्मेदारी तो हमारी है...'

बहनें पीछे पड़तीं :

'हां, कह दो न भाई, मुझे अपनी होने वाली भाभी बहुत अच्छी लगती है... क्या नूर है उसके चेहरे पर...'

मैं, बहनों की बातों पर ध्यान नहीं देता। मां से वही घिसा-पिटा वाक्य दोहराता :

'पर मां, मैं कितनी बार कहूं कि मुझे विवाह नहीं करना...'

'तेरी आवारगी के चर्चे तो मेरे पास आते हैं न... मैं जानती हूं तू ब्याह क्यों नहीं करना चाहता...' मां चिढ़ने लगतीं, भला-बुरा भी कहतीं, 'बीड़ी-शराब पीने लगे हो, आवारा-नीच लोगों के साथ घूमना-फिरना शुरू कर दिया है तुमने...रात-रात भर घर से गायब रहते हो...मैं सब समझती हूं, बहू आएगी तो तुम्हारा भेद खुलेगा...'

इस तरह बक-झक करते-करते हाथ पीठ से बांध कर बेसब्री से कमरे में टहलने लगतीं। उनके गले की नसें तन कर सांप की तरह ऐंठने लगतीं...

कभी-कभी मुझे लगता, वह मेरी मां नहीं साक्षात् नीलकण्ठ है और अनन्य सर्पो की माला उसकी गर्दन में झूल रही है गहनों की तरह।

तिलमिलाहट तो बहुत होती लेकिन मैं चुप रहा जाता। उस समय तक मैं अपनी मां से डरता था। उसके सामने कुछ ऐसा कहने में मुझे संकाच होता जिससे उसके नाराज होने का खतरा हो, क्योकि उस समय तक मैं मां को तो अपना आश्रय मानता था...

मुझे विश्वास था कि और कोई मेरी बात सुने, न सुने मां जरूर सुनेगी, मुझे सबसे वेहतर समझेगी और बात किसी बुरे नतीजे तक पहुंची तो मेरा साथ भी देगी। कोई समस्या मेरे सामने आई तो झपट कर उसे ओढ़ लेगी। मैं किसी जंजाल में फंस गया तो मुझे बाहर निकालेगी।

बात एकदम उल्टी हो जाएगी यह बात मेरे दिमाग में कहां आ पाई। जहां तक मेरे विवाह का सवाल था मां मुझे समझने के विपरीत एक तरह से जिद पर ही आ गई कि मुझे विवाह करना चाहिए और यह कि जो अपूर्व सुंदरी उसके हाथ लग गई थी उसे किसी भी मूल्य पर वह छोड़ेगी नहीं।

और बस... हो गया मेरा विवाह...

आ गई वह अपूर्वा मेरी पत्नी बन कर।

जिन लोगों के बीच पला-बढ़ा, जिनके सान्निध्य में मैंने इस संसार में आंखें खोलीं, जिनसे मुझे अपनत्व की उम्मीद थी, वही एक-एक कर मेरे प्रति उदासीन होने लगे और वह जिसे किसी ने अब तक देखा भी नहीं था सबकी आंखों का तारा हो गई।

मुझे उससे ईर्ष्या नहीं थी। ईर्ष्या बराबर वालों के प्रति हो सकती है। मुझे आश्चर्य हुआ यह देख कर कि मेरे घर-परिवार के सभी लोग धीरे-धीरे मेरी पत्नी के निकट आते जा रहे थे... सबका प्यार, सबकी संवेदना उसे यूं ही बिना प्रयास मिलती गई। और तो और घर की मिल्कियत पर भी मां की जगह उसका अधिकार दिखाई पड़ने लगा।

जो भी घर में आता उसकी नजर उसी नबोढ़ा को ढूंढ़ती। उसके आसपास लोग ऐसे चक्कर काटते जैसे गुड के आसपास मक्खिया...

मेरे सगे भाई-बहन जिनसे मुझे कोई खास लगाव नही था उसके परम प्रिय बन गए। सांझ होते ही देवरो के अनुनय पर वह उनके सिर मे तेल लगाती देखी जाती या ननदो को और अधिक सौंदर्यबोध कराते हुए सुनी जाती...

घर में जड़ी-बूटियो और औषध उबटनो का दौर शुरू हो गया था। कई-कई दिनों के परिश्रम से उन्हे तैयार किया जाता, उनके परीक्षण होते फिर उनका सेवन होता।

अपने गहने-कपडो से सजा-सवार कर वह अपनी ननदो का शृगार करती। उन्हे देखती-सराहती और दूसरो की वाहवाही लूटती। आने-जाने वालो के प्रति इतना विनीत आदरभाव दिखाती कि लोग कृतज्ञ हो जाते .

मै क्या हू... मेरे मन मे क्या गुजर रही है, यह उसकी चिता का विषय नही था। वह तो घर के माहौल को खुशगवार बनाने ओर सबधो की आपसी शृखलाओ को मजबूत करने मे जुट गई थी।

घर-बाहर, नाते-रिश्तेदारो मे वह ऐसी छाई जैसे दीवार के सहारे उठी हुई बेल पूरे घर पर छा जाती है। जिस तरह घटाए पूरे आसमान को छाप लेती है।

मेरा सम्पर्क उससे नाम मात्र को था और इसकी कोई चिता भी उसे नही थी।

देर रात तक सबके बीच बैठी वह नक्षत्रो मे पुण्य नक्षत्र-सी, ऋतुओ मे वसत-सी, और रातो मे साक्षात् पूर्णिमा दिखाई पडती .. भीड उसके आसपास जमी रहती, जो सच कहू तो मुझे कहीं खटकता था, इसलिए नही कि मुझे उसकी बडी जरूरत रहती, या मैं उसके लिए मरा जा रहा था, बल्कि इसलिए कि शायद मुझे उससे ईर्ष्या होने लगी थी जिसका कोई औचित्य मेरी समझ के बाहर था।

मैं कभी घर जल्दी आ जाता तो अपने कमरे के बिस्तर पर उसकी प्रतीक्षा की जगह नींद का आह्वान करता, या उसके आते ही घटा बन कर उस पर बरस पडने की तैयारी करता लेकिन ये मौके मुझे कम ही मिल पाते। उसका पदार्पण अक्सर मेरे सोने के बाद ही होता। उसके चेहरे पर उमड आया भय मैंने देखा तो नही लेकिन अदाजा लगा सकता हू कि वह भयभीत ही रहती होगी और गुडी-मुडी होकर अपने आपको फर्श पर वैसे ही फेक देती होगी जैसे घने अरण्य मे किसी वनदेवी का नाम लेकर कोई मुद्रा फेक देता है।

अपनी बहू को पाकर मेरी मा पर हरियाली आ गई थी। बहनो के लिए वह एक सहारा साबित हुई और छोटे भाई के लिए एक वरदान...

भाई की आदते बिगडने लगी थी, जब वह घर आई थी। पढाई-लिखाई छोड़

कर क्लबों में अड्डा जमाने लगा था... आधी-तिहाई रातें बिता कर लौटता या शायद पार्टियों में अधिक जाने लगा था। उसे लेकर देर रात गए मां मंझले के साथ कानाफूसी करती रहतीं। मैं तो किसी लायक ही नहीं था इसलिए मुझसे सारी बातें छिपा ली जातीं। यह मेरी गुस्ताखी थी कि आधी-तिहाई बातें जोड़ कर मैं पूरी बात बना लिया करता। किसी से बेशक कहूं न, लेकिन बातें तो मेरे पेट में परत-दर-परत बैठती जाती थीं।

कई बार मैं देर से घर आने के कारण छोटे भाई की फजीहत का गवाह भी बना। क्योंकि एक बार मां के दिमाग में गुस्सा चढ़ जाए तो वह आगा-पीछा आज भी नहीं सोचती, जबकि उनके क्रोध की आग अब इतनी नरम पड़ चुकी है... लेकिन अब, वही मेरा छोटा भाई न जाने किस अज्ञात डोरी से बंधा हुआ सरेशाम घर लौट आता।

मुझे नहीं मालूम कि दिन में वह कहीं जाता भी था या नही। लेकिन मुझे इसकी परवाह भी कब थी...

सब लोग कहते :

'घर मे उजाला आ गया है। अंधेरे का कतरा-क़तरा प्रकाशित हो उठा है इस घर का...'

लेकिन मुझे कही कोई अतिरिक्त रोशनी का क़तरा कभी नजर नहीं आया। बल्ब या ट्यूब अगर सौ पावर की थी तो रोशनी उतनी ही आई।

बल्कि यूं समझ लीजिए कि मेरे हृदय का अंधकार उसके आने से और भी गाढा होता चला गया जिसे सूर्य का तीखा बेध कर प्रवेश करने वाला शर भी भेदने में असमर्थ रह गया...

अपमानों, प्रवंचनाओं और लांछनाओं के ज्वालामुखी मेरे हृदयरूपी तहखाने में फूटते ही रहे। मैं सोचता रह गया कि जो भाग्यश्री मेरे साथ बंधी चली आई है उसका उचित बंटवारा तो मेरे घर वालों में हो गया और मैं टापता ही रह गया...

दिल को जलाने के लिए यह ज्वाला कम नहीं थी। इसने यह सोचने का कभी मुझे वक्त ही नहीं दिया कि मैं पति हू और इस नाते मेरी कुछ जिम्मेदारियां भी हैं, भले ही निभाने के लिए नहीं, सिर्फ दिखाने के लिए...

वैसे भी पति की भूमिका निभाने के लिए मेरे पास क्या था ? न कोई काम, न पैसा, न जाग्रत पुरुषार्थ जो पत्थर को फोड़कर पानी निकालने या हथेली पर सरसों उगाने का दम भरते हैं... और ये बातें तो बाद की हैं, मेरे पास तो मर्द होने का दृढ एहसास भी नहीं था। स्त्रियों को रिझाने-खिझाने की कृष्ण-कलाएं भी मेरे पास नहीं थीं।

मैं जानता हूं यदि मुझमें राम का स्वांग भरने का चातुर्य होता तो मेरी धर्मपत्नी

सीता बन सकती थी जिसे मैं बड़ी आसानी से अपनी सम्पत्ति मान लेता... तब शायद उसे देख कर मेरे दिल में कुछ हिलोरें उठतीं या अपनी आकांक्षाओं में मैं हल्का कम्पन महसूस करता... कोई अदृश्य आकर्षण मुझे उसकी ओर खींचता... पिता बनने की व्यग्रता मुझमें जागती...

लेकिन ऐसा कुछ तो नहीं हुआ।

क्या हुआ, कैसे कहूं ?

दबंग किस्म के यार-दोस्त कहने लगे :

'यार, परिणीता तो तेरी है, और मौज मार रहे हैं दूसरे ! तेरी तो उसे परवाह भी नहीं।'

इस तरह की बातें सुन कर एक अजीब तरह की निरीहता मैं अपने अंदर महसूस करने लगता लेकिन जाहिरा तौर पर फिस-फिस करके हंस देता। उन्हें दिखाने के लिए, जल्दी-जल्दी उनसे पिण्ड छुडा कर घर का रुख करता लेकिन घर वापस आने के बजाय रास्ता बदल कर पुरानी छूटी-टूटी मैत्री के खण्डहरो मे अपने आपको धकेल देता। या पुराने किले के खण्डहरों में जाकर खो जाता।

समय गुजारने के लिए या कुछ ऊटपटाग सोचने के लिए यह स्थान सचमुच अच्छा है... इन खण्डहरों पर गहराती हुई रात उतरती और मै अपनी जिंदगी की वीरानियां समेटे बेसुध बैठा रहता...

कभी-कभी एहसास होता भीतर ही भीतर कुछ टूट रहा है... इस तरह अलग-अलग टुकड़ों में जीना कोई अच्छी बात तो नहीं थी... अजीब-सा लगता लेकिन समझ नहीं पाता मुझे क्या करना चाहिए...

कभी यह भी लगता कि एक-एक कर सबने मेरा त्याग कर दिया है... शायद मेरी पत्नी को अपनाने के लिए ऐसा करना उनके लिए आवश्यक हो गया था...

कभी किसी सामाजिक पर्व-समारोहों के अवसर पर लोग मुझे मेरी पत्नी के साथ देखना चाहते थे...

मैं लाचारी में उत्तर देता :

'कहीं आना-जाना उसे पसंद नहीं।'

यार-दोस्त ज़िद करते :

'यार, कम से कम हमारी भाभी का चित्र ही दिखा दो हमें।'

मैं अपनी जेबें ऐसे टटोलता मानो अभी चित्र निकाल कर दिखा दूंगा, यह जानते हुए भी कि इसकी कोई संभावना नहीं थी, फिर भी कंधे उचका देता :

'भूल गया यार, कपड़े बदले न, लगता है पर्स भी वहीं छोड़ आया...' फिर उन्हें प्रोत्साहित करता, 'घर आ जाना मिलवा दूंगा। वैसे भी नई बहू को देखने लोग घर ही आते हैं...'

वे मेरी शक्ल निहारने लगते और मैं एक गरम, लम्बा निःश्वास अपने अंदर ही दबा लेता। कभी-कभी यह दबा हुआ उच्छ्वास ऐसे बाहर निकल पड़ता जैसे रेल

के ठहर जाने पर इंजन का धुआं भभके से ऊपर उठने लगता है।

पत्नी से बात करना भी मुझे नहीं आता। किसी ने कभी सिखाया भी नहीं, इस दिशा में ज्ञानवर्द्धक कोई पुस्तक भी नहीं मिली पढ़ने को। अपनी समझ में जैसा आया, वैसा कुछ कहने की कोशिश की तो पत्नी का झुंझलाया हुआ स्वर ही उत्तर की जगह सुनने को मिला।

उसके खीझने का अर्थ ढूंढ़ते समय कई बार मुझे लगा शायद मेरा ही स्वर स्वामित्व भरा या कठोर हो गया होगा... अतः बुरा मानने की गुंजाइश कहां थी ?

मैं तो स्वय ही पके हुए उस फोड़े की तरह हो गया था जिसे छूते ही मवाद बहने लगता है।

लोग कहते हैं कि अरवी घोडे भी बार-बार हतोत्साहित किए जाने पर गधे वन जाते हैं। मेरी हालत उनसे कुछ बेहतर तो नहीं थी। मेरा तो मानना यह भी था कि उत्साहित किया जाय तो गधे भी घोड़ों की तरह पेश आ सकते हैं। आखिर शावासी देना भी तो अपने में एक वड़ा सलीका माना जाता है।

अर्जुन से कही बडा योद्धा था कर्ण, लेकिन बार-बार की भर्त्सनाओं, अपमानों और वर्जनाओं ने उसका हियाब तोड़ दिया और अंततः वह अपने से बेहद कमजोर आदमी के हाथों मारा गया।

मै कर्ण से अपनी समानता नहीं कर रहा हूं। मैंने तो केवल उसके लांछित पक्ष को लेकर ही अपनी बात कही है।

लगता है आडे-टेढे बूढ़े, मुंह में दांतों की पंक्तियों की तरह मैं किसी विविधा के बीच से गुजर रहा हू... मेरे लिए सुख और दुख के अर्थ खो गए हैं।

आप क्या कहेंगे अगर मैं पूछूं कि अजगरवृत्ति से रहना क्या अपने में एक तपस्या नहीं है ? यह बात अलग है कि मैं 'तप' का अर्थ भी नहीं समझ पाऊंगा।

विद्यार्थी जीवन से लेकर अब तक मैं तंग ही होता आया हूं।

मुझे याद है अक्सर लड़के मुझे बाथरूम में जा पकड़ते... खाते-पीते घर का लड़का था, शरीर थोड़ा स्थूल था, लड़के जहां से चाहे पकड़ कर मुझे खींचते। मेरी मांसल छातियां पकड़ कर झकझोर देते। पिता का नाम ले-लेकर मुझे व्यंग्य करते, उल्टा-सीधा कहते...

और मैं चुपचाप उनकी सभी बाते सह जाता।

उन वीभत्स क्रिया-कलापों का वैसे तो मेरे मन पर कुछ खास असर नहीं होता था। मन से मैं कभी खिन्न नहीं हुआ लेकिन इतना अवश्य हुआ कि मैं ऊपर से सबसे दूर भागने लगा।

मुझमें कुछ ऐब थे जरूर, जो मेरे लिए न सही, दूसरों के लिए प्रभावी थे—एक

तो मैं 'पैसे वालों' का बेटा था और ऊपर से पढ़ने में कच्चा। शैतान लड़कों को मुझे छेड़ने में कुछ अधिक आनंद आता... और मैं इसमें सहायक भी था क्योंकि कभी मैंने इसका खुला विरोध नहीं किया, न किसी के सामने जबान खोली।

एक बार कुछ लड़के पकड़ कर मुझे किसी जंगल की ओर ले गए। वहां जाकर उन्होंने मुझे निर्वस्त्र कर दिया...

मैं अकेला क्या करता। मुझ अकेले के सामने वे चार। पिस्तौल दिखाते हुए एक कड़का :

'स्साले, हम तुझे छोड़ेंगे नहीं...'

'अगर सही-सलामत वापस जाना चाहता है तो अपनी बीच वाली बहन से हमारी दोस्ती करा दे... क्या नाम है उसका...'

'कामिनी...' तीसरा बोला।

कामिनी के लिए मेरे मन में स्नेह का सागर लहरा रहा हो, ऐसी बात नही थी। फिर भी उनका आशय समझ कर मैं गुस्से से कापने लगा। मेरी दांती भिच गई।

'बोल वचन देता ?' पिस्तौल वाला चिल्लाया।

'छोड़ दे यार' शायद दूसरे को मुझ पर दया आ गई थी, 'ले आएगा न अपने साथ... क्यों बे ?'

मैं टुकुर-टुकुर उसका चेहरा देखता रहा। आवाज नहीं निकल रही थी।

'अपना दोस्त बना कर हमे घर ले चलना...आगे की बात हम समझ लेंगे...

'बोल, ले चलता है...'

'आज नहीं, फिर किसी दिन।' बड़ी मुश्किल से मेरे बोल फूटे....

'अगर धोखा दिया साले, तो गोली मार दूगा, इतना समझ ले तू...'

एक की पकड़ ढीली हुई तो मैं जाकर जल्दी-जल्दी अपने कपड़े पहनने लगा।

पता नहीं कहीं खटका हुआ, कोई आता दिखाई पड़ा या क्या बात हुई, मोटी-मोटी दो-चार गालियां देते हुए वे वहां से फरार हो गए, उसी हाल में मुझे छोड़ कर...

फटी पैंट और तार-तार हुई शर्ट पहन कर मैं किसी तरह रास्ता खोजते-पूछते घर आया...

मां पेन्हाई गऊ की तरह आंखों में अबोले आंसू भरे एकटक सड़क की ओर निहार रही थीं।

झुटपुटा होने वाला था, शायद इसीलिए उन्होंने मुझे देखा नहीं। मैं झटपट अपने कमरे की ओर भागा। फटे वस्त्र बदल कर मैं शीघ्र ही बाहर आया।

अभी तक मां ज्यों की त्यों पत्थर बन, बेजान-सी वहीं खड़ी थीं...

'मां।' अपने आप ही मेरे मुंह से निकल गया।

मां किसी तंद्रा से जाग पड़ी हों जैसे। मेरी आवाज पर उनकी नजर घूमी।

ऊपर से नीचे तक मुझे भरपूर नजर से देखा। आंखों की पट्टी खोल कर गांधारी ने अपने पुत्र दुर्योधन की तरफ ऐसे ही देखा होगा, उसकी काया को पूरी तरह फौलादी बनाने के लिए... कि वह अस्त्र-शस्त्रों की बौछार, फूल की तरह सह जाय... उसे कोई पीड़ा न हो, कोई चोट न पहुंचे, कि वह अमर हो जाय।...

पातिव्रत्य के प्रभाव से ग्रस्त गांधारी क्या कर पाई ? भावी को बचाना उनके वश मे नहीं था। होनी प्रबल होती है। दुर्योधन के कुछ अंग ढके रह गए थे और अपने से कम बहादुर आदमी द्वारा वह उन्हीं अंगों पर प्रहारित हुआ...

'तुम कहां थे अब तक... स्कूल बंद हुए अब से आठ घण्टे बीत चुके हैं।' मां की आवाज मौत की तरह स्पंदहीन थी।

मैं असमंजस में पड़ गया कि मां को क्या उत्तर दूं। अपनी हार और लज्जा की कहानी कैसे सुनाऊं।

मेरी करुण कहानी सुन कर उनका अहंकार क्षत-विक्षत ही नहीं होगा, उनके समस्त शरीर पर करारा तमाचा लगेगा जो उन्हें जड़ों से हिला देगा।

मुझे धिक्कारने या भला-बुरा कहने के बजाय वह स्वयं को ही कोसने लगेंगी...पीपल के पत्ते की तरह कांप-कांप जाएंगी।

मैं तो मार खाकर आ गया था। मेरे परिधान फट चुके थे। मेरा बदन लहू-लुहान था। मैं भयभीत था। मेरी आंखों में भय की चीत्कार अवश्य प्रमुख रही होगी। मैं साहस जुटा कर मां को कुछ बताने में पूर्णतः असमर्थ था...

और फिर सत्यबयानी इतनी आसान तो नही होती।

मेरी धूल धूसरित काया पर टंगे साफ-सुथरे वस्त्र मां को किसी मोग़ालते में रखने वाले नही थे... मेरा उतरा हुआ चेहरा भी उनसे कुछ न कुछ कह ही गया होगा...

लेकिन इस तरह की गतिविधियो की प्रतिक्रिया मे जबान कब खुलती है।

प्रश्न मां के होंठों से टकराए जरूर पर बाहर नहीं निकल पाए। मुंह में आकर ही जम गए जैसे। होंठ जो बंद रहे सो बंद ही रहे।

मैं भी किस मुंह से मां से कहता कि मार खाकर, इज्जत गंवा कर घर लौटा हूं। मैंने चुपचाप सिर झुका दिया।

मां की नजर में ममता उमड़ी थी। मेरे लिए सहानुभूति भी उनके मन में थी, यह मैं जानता था, लेकिन मैं यह भी जानता था कि मां किसी भी मूल्य पर यह मानेंगी नहीं कि मैं औरों के मुकाबले कमजोर हूं। और एक मिनट को अगर वह मान भी लें तो उनका अहं यह बात स्वीकार नहीं कर पाएगा।

उन्होंने एक पल फिर मेरी ओर देखा और अपने मन-तन की निर्बलता को पूरी तरह झुठलाती हुई वहां से एकदम चली गईं।

मैं भी अपनी जगह से अंदर की ओर ही पलटा। देखा, आंगन में अम्मा धुले

हुए कपड़े फैला रही है...

दरअस्ल, मैं सबसे पहले अम्मा से ही मिलना चाहता था, मा तो मुझे यू ही मिल गई थीं रास्ते में...

और अब, जब अम्मा दिखाई पडी तो मुझे लगा, मेरी कैफियत लेने की जिम्मेदारी मा ने अम्मा पर सौंप दी है। इस तरह की परिस्थितियो के सामने खुद न पड कर किसी और को खडा करने की दिशा मे मेरी मा का कोई जवाब नही था...

सच्चाई तो यह समझ मे आती है मेरे कि मेरी मा ने सत्य से कभी साक्षात्कार करना ही नही चाहा। जब कभी इस तरह के कटु सत्य उनके सामने आए उन्होने दायित्वो का लबादा झटपट अम्मा पर डाल दिया ताकि जहर वही पिए और वह खुद विष के प्रभाव से बची रहे।

और अम्मा विषपायी बन कर सभी तरह का जरह-माहुर गटागट पीती चली गई थी हमारे एवज मे. इस बात का साक्षी मैं नही हो सकता कि अम्मा के शरीर मे उन विषो ने कितना प्रभाव डाला.

उस दिन अम्मा को सामने पाकर मैं कुछ आश्वस्त हुआ लेकिन दूसरी ओर मेरा जी मिचला रहा था। मुझे उबकाइया आती और होती जा रही थी।

यह पुराना हिसाब था मेरा। जब भी अनकही पीडा होती या मैं नर्वस हो जाता किसी कारण तो मेरा यही हाल हो जाता, उल्टियो पर उल्टिया होती, चक्कर पर चक्कर आते। उठ कर खडा होता या एक ओर से सिर घुमा कर दूसरी ओर रुख करता तो सामने की जमीन चकरी की तरह घूमती नजर आती। बीते हुए उस दिन के वीभत्स दृश्य, मेरी आखो को धुधला कर रहे थे।

अम्मा ने हाथ पकड कर मुझे अपनी ओर खीचा और गरम देह से सटा लिया।

मेरे मुह से एक कराह निकल गई।

मेरा बदन जगह-जगह से छिला हुआ था। अम्मा का स्नेहिल स्पर्श बडा आरामदायक लगा

अम्मा ने मुझसे कुछ पूछा नही। उसकी आखो मे प्रश्नो के कुछ लाल डोरे उभरे जरूर, आपस मे लपलपाए, उलझे और फिर स्थिर हो गए।

मैं जानता हू उसकी इस स्थिरता के पीछे असख्य विचारो और प्रश्नो से उसका मन कितना चीत्कार कर रहा होगा।

यह तो एक घटना थी जिसका जिक्र मैंने किया। बचपन से लेकर किशोरावस्था तक न जाने कितनी बाते हुईं और मेरा तन-मन बार-बार छलनी हुआ . अम्मा का वात्सल्य मरहम बन कर मेरे आघातो को सुकून तो देता रहा लेकिन मा की ममता में नहाने का गौरव मुझे कभी नही मिला और शायद इसीलिए वांछित आत्मदृढता मुझमें कभी नही आई।

कुछ अजीब लगता है लेकिन इन्हीं अपमानों और दुर्भावनाओं के बीच मेरी स्कूली शिक्षा समाप्त हुई। और यहां मां ने कोई कसर उठा नहीं रखी... ट्यूटर रखे, स्कूल-कॉलेज के अध्यापकों-प्राध्यापकों को संदेश भेजे...

विश्वविद्यालय की अंतिम डिग्री भी मुझे मिल ही गई। लेकिन जैसे-जैसे उम्र और शिक्षा की सीढ़ियां मैं चढ़ा, मेरे और मां के बीच का फासला लगातार बढ़ता गया। हमारे संबंधों में भी अतर आता चला गया।

उन्हें मेरे कुशल-क्षेम की चिंता उतनी नहीं थी, जितनी मेरी आदतों, मेरे स्वभाव से वह पीड़ित रहने लगी है। मेरी निर्विचार स्थितियों से उन्हें निराशा भी थी।

मेरी मां ने अपनी सतानो के विषय में जो स्वप्न देखे थे, जो आकांक्षाएं संजोई थीं... अनंत उपचारों के बाद भी मर गए थे। अब उन्ही के शव कधो पर उठाए अपने जीवन-दर्शन के खोखलेपन का अनुमान वह लगाने लगी थी और निवेश में जो शेष था संभवतः उसी को सहेजने के लिए उन्होने मेरे विवाह की बात सोची थी...

लेकिन द्विविधाओ के निरतर थपेडो से मन इतना कमजोर हो गया था कि इस सोच ने भी सोई हुई खुशी की लहरों को जगाया नही वल्कि और कई प्रश्न उठ खड़े हुए...

मां ने एक दिन पिता से कहा :

'केशू की शिक्षा अब समाप्त हो गई, उसे किसी काम मे लगा दें... किसी कुशल-जानकार के साथ इसे रख दे तो यह काम भी सीख लेगा...' कहते-कहते मां अचानक रुक गई... क्या पिता पर अपनी बात की विरोधी प्रतिक्रिया देखी उन्होने...क्या उनका स्वर भर्राया हुआ था ?

पता नही क्यो मुझे लगा कि ऐसा ही कुछ हुआ होगा... और इसका कारण था...

यह जमाना वह था जब खर्च के नाम पर पिता, मां को पैसे दिया करते थे। हम भाई-बहनों की पढ़ाई-लिखाई से उन्हें कोई मतलब नहीं था, न उसके लिए अलग से कोई खर्च मिलता था...

मां और पिता का रिश्ता सौहार्द्रपूर्ण तो शायद कभी नहीं रहा लेकिन उन दिनों तलखी कुछ अधिक ही महसूस होती थी, वस्तुतः बात जो भी हो हमें मालूम नहीं थी।

हमारी शिक्षा-संरक्षण का भार पूरी तरह मां पर ही था। पिता का आशीर्वाद भरा वरदहस्त कभी हम भाई-बहनों के सिर पर रखा गया हो, हमें याद नहीं। यह जरूर याद है कि पिता के स्नेह की कमी हमने लगातार महसूस की है।

पिता ने मां के कहने से ही सही अपने किसी कारखाने की कोई योजना बनाई और उसमें मुझे रख दिया गया। मैं किसी को सौंपा नहीं गया। शायद पिता के सामने

अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण था, मैं था तो आखिर उनका बेटा...

कारखाने में मैं अपनी मर्जी का मालिक ही बना कर रखा गया। मैं नहीं कह सकता यह मेरे साथ अच्छा हुआ या बुरा। किसी के साथ रखा गया होता तो शायद सचमुच कुछ सीख-पढ लेता। अकेला था, मालिक था इसलिए आजाद रहा। जब मन किया चला गया, जितनी देर इच्छा हुई बैठा, फिर उठ कर दोस्तों के साथ हो लिया, मौज-मस्ती... खाना-पीना...गुलगपाड़ा...

पैसा सीधा मेरे हाथ में आने लगा था। मुझे महीने की तनख्वाह मिलने लगी बिना कोई काम किए... हिसाब मांगने वाला कोई नहीं, मैं मनमाना खाता-उडाता रहा...

उधर कारखाने के मुलाजिमों ने भी मुझे काम से दूर ही रखा। ऊपर से आगे-पीछे सलाम ठोकते ताकि मै उनकी शिकायत अपने पिता से न कर दू। 'मैं मूर्ख हूं या होशियार' इस तरह के प्रश्नो की उनके लिए अहमियत नही थी। मै उनके मालिक का पुत्र था इसलिए स्तुत्य था... बस...

कुछ ही दिनो बाद मुझे पता चलने लगा कि वहा पैसा ऐसे बहता था जैसे श्रावणी नदी का पानी और सभी सयाने उसमे हाथ धो-धोकर ठण्डे करते, उधर जेबे गरम होती रहती।

मै चुपचाप सारे तमाशे देखता रहता, बिना बोले, चेहरे का भाव ऐसा होता जैसे मैं कुछ समझा ही नही ..

डर उन्हें था कि मैं उनकी शिकायत पिता से कर दूगा, जबकि पिता के नाम से दहशत मैं खाता था। उल्टे डर मुझे था कि फैक्ट्री वाले मेरे अनियमित आने-जाने की खबर पिता को दे दे तो मेरा क्या होगा... मेरी उद्दण्डता, मेरी सुस्ती, कुछ न करने का नाकारापन, पिता कभी कबूल नही करेगे। किसी को कुछ भी पता नही चलेगा, चुपचाप मेरा वेतन बद हो जाएगा और उसके बाद...

पैसे का चस्का एक बार लग जाय तो पैसे बिना गुजारा नहीं चलता। 'अगर मेरी तनख्वाह बद हो गई तब क्या होगा' मैं सोचता और चेहरे पर पसीने की बूंदे गुथनी शुरू हो जाती। इसलिए मेरी तरफ से तो शिकायत का कोई प्रश्न ही नही था, न उनकी तरफ से हुआ और नतीजा यह निकला कि काम के नाम पर मैं गोबर गणेश ही रह गया...

आज का युग पैसे का युग माना जा रहा है लेकिन उस युग मे भी तो पैसे के बिना किसी का काम नहीं चलता था...

मेरी इच्छाएं सीमित थी, आज भी हैं... अपने गुजारे लायक पैसे तब भी मिल जाते थे, आज भी मिल ही रहे हैं। पैसे मैंने मांगे भी हैं, सबसे बड़ा पुत्र होने का अवसर का फायदा भी उठाया है। पिता स्नेह-सद्भाव न दे पाए हों लेकिन पैसे के लिए जब भी हाथ बढ़ाया पिता ने निराश नहीं किया...

पिता बूढे भी हुए, बीमार भी रहने लगे लेकिन मैने देखा कि उनकी इच्छाए शेष नही हुई थी। उनके जीवन की उपादेयता सबके लिए उतनी ही थी जितनी उनके स्वयं के लिए थी..

पिता मुझे हमेशा सामर्थ्यवान दिखाई पडे। लगता जैसे उनकी अदृश्य आत्मशक्ति उनकी देह का सचालन कर उन्हे स्फूर्ति देती रहती है...

पिता की आस्था हिंदू-दर्शन मे गहन थी। उनका आचरण उसी पर आधारित दिखाई पडता... पुरुपार्थ की उम्र मे उन्होने वही किया जो किसी भी गृहस्थ को करना चाहिए... आज वाणप्रस्थ की परम्परा लुप्त हो चुकी है। मेरे पिता जब वाणप्रस्थी हुए तब भी वह परम्परा नही थी, वरना शायद वह सब कुछ त्याग कर किसी जगल मे चले जाते। वही जाकर मनन-चितन करते। वहा के निहित एकात जुडे मन और वुद्धि से तर्कों से छूट कर मत्रसिद्धि के समक्ष अपना आत्मनिवेदन और स्वीकार रखते तो उन्हे शक्ति मिलती।

पिता की ओर ही मन भाग रहा है इस समय, इसीलिए मै भी उन्हे ही याद कर रहा हू और अपने अनुभव आपके साथ बाट रहा हू। अततः मेरे बारे मे कोई न कोई धारणा आपको ही वनानी है और जब तक आप मेरे अनुभचो से वाकिफ नही होगे, वह धारणा कैसे बनेगी ?

मेरे पिता की उम्र ज्यो-ज्यो बढती गई वे घर और बच्चो मे रुचि लेना छोडते गए..

यह बात उन दिनो की है जब मेरी पहली मा का लडका उनका विद्रोही बन गया था। अपने कुल, शील, आचार सबको चुनौती देकर वह घर से निकल गाव-गाव घूमने लगा था.

मेरी मा ने अपने विश्वास और प्यार की चादर से उसे ढकना चाहा लेकिन उसने कभी मेरी मा को मा रूप मे स्वीकार किया ही नही था..

मेरी मा को देखते ही उसके जबडे कस जाते

वह मा पर पक्षपात का आरोप लगाता, शब्दो के वज्रपात करता.... मुझको भाग्यशाली समझ कर मुझसे ईर्ष्या करता...

मेरी शादी हुए कुछ ही दिन बीते थे। घर मे लोगो का आना-जाना कम नही हुआ था, मेहमानो के लिए तो मेरे घर के दरवाजे वैसे ही दिन-रात खुले थे और अब तो शादी हुई थी... घर आने से किसको कौन रोकता ?

इस आवाजाही से मेरी पत्नी का सौंदर्य भी पीले चाद की तरह दीखने लगा था, मुझे उससे लगाव न सही, लेकिन जो था उसे मैं नकार तो नही सकता था।

जेठ की दोपहरी थी, सब लोग अपने-अपने कक्ष मे सिकुडे सिमटाए गर्मी की हुक्मउदूली के उपायो मे लगे थे। मेरी पत्नी भी वही कहीं रही होगी।

मेरा यह भाई धडधडाता हुआ आया और उसके कक्ष मे पहुच गया। असमय

अपने कक्ष में इस तरह किसी को आया देख पहले तो वह भौचक रह गई, फिर सिर पर पल्लू खींचते हुए उसने दृष्टि घुमा ली। लोक-लाज, सामाजिक नियमों का ज्ञान तो उसे कहीं अधिक था मुझसे...

वह कुछ आगंतुक से पूछे, कहे इससे पहले ही मेरा भाई मेरे बारे में पूछते-पूछते जाकर धम्म से पलंग पर बैठ गया।

नववधु के कमरे में अकेले-एकांत किसी परपुरुष का पहुंचना और उसके बिस्तर पर बैठ जाना... इस समाजवर्जित क्रिया को देख कर मेरी पत्नी ने ही स्थिति संभाली।

'क्या बात है भाई साहब,' वह बोली, 'इस समय आप यहां कैसे ? वह तो नहीं हैं यहां...'

ईर्ष्या, उद्वेग, उच्छृंखलता से जलती हुई भाई की आंखों को देख कर एक बार तो वह सुन्न पड़ गई फिर उसने अपना स्त्री धर्म समेटा, और मधुर तथा अनुशासित स्वर में दृढ़तापूर्वक बोली :

'कृपया यहां से तशरीफ ले जाइए इससे पेश्तर कि मैं... यहा आने का दुस्साहस दुबारा न कीजिएगा...'

'क्या कर लोगी ? मेरा तुम कुछ बिगाड़ नहीं सकती क्योंकि खोने के लिए मेरे पास कुछ है ही नहीं...'

मेरी पत्नी को हाथ से पकड कर एक ओर झटके से खींचते हुए उसने दरवाजा बंद कर दिया...

वह कुछ न कर पाई, बेबसी में रोती रही। खुद को धिक्कारती रही कि शायद उसी में साहस की कमी थी वरना चीख-चीख कर दोपहर की खुमारी से सारे घर को जगा देना था।

लेकिन ऐसा कुछ नहीं किया उसने। घुटती-रोती रही।

रात्रि को जब मैं कमरे में आया तो वह दुख और अपमान की पीड़ा से बेदम हो चुकी थी।

'इस तरह क्यो बैठी हो आज ?' मैंने धीरे से पूछा, 'मैं तो समझ रहा था अभी तुम्हारी रंगरेलियां नीचे की खत्म ही नहीं हुई होंगी।'

वह जल-भुन गई जैसे किसी ने कटे पर मिर्चें डाल दी हों। कहां तो वह पति से जेठ की शिकायत कर प्रेम-सहानुभूति पाना चाहती थी, कहां उस पर इधर से भी व्यंग्यवाणों की वर्षा होने लगी।

वह गुस्से में ऐसे फुफकार कर खड़ी हो गई जैसे प्यार की घड़ियों में सर्पिणी के जोड़े पर किसी के पैर पड़ गए हों।

'आपके अग्रज आए थे यहां !' वह बोली।

'तो क्या हुआ ?' मैंने भी सहज लापरवाही से चंद शब्द उसकी ओर फेंक दिए, 'तुमसे मिलने आया होगा। तुम सुंदर हो न, तुम्हारी नज़रों ने पूरे घर को बांध लिया

है... वह भी बंधा चला आया तो इसमें बड़ी बात क्या हुई ?'

वह और तिलमिलाई जैसे मैंने उसके चेहरे पर एसिड फेंक दिया हो। फिर एकदम से फूट पड़ी और हिचकियां ले-लेकर रोने लगी।

मुझे लगा जैसे मैंने सांप बन कर उसके स्वप्नो को डस लिया हो...

उसकी हिचकिया थमने को नहीं आ रही थी लेकिन मैं इस तरह की परिस्थितियों से घबराने वाला नहीं... हिचकियों से उसके कंधे हिलते रहे और मैं पलंग के किनारे बैठ कर इत्मीनान से जूते-मोजे उतारता रहा।

तम्बाकू और पान बहार की खुशबू अपनी ही सांसों से आती हुई अच्छी लग रही थी...

समझ नहीं पा रहा था, क्या करूं। रूठे हुए को मनाना मैं जानता नहीं था और आखों से बहते हुए आंसू भी कैसे पोछू...

पत्नी के कमरे मे आकर भाई का बोलना या बैठना मुझे बुरा नही लग रहा था। सौतेला था तो क्या हुआ, था तो मेरा भाई, एक पिता की संतान... अपने सगे-सौतेले भाइयो में मुझे कभी कोई अंतर दिखाई नहीं पडा...

कई बार मैं खुद ही पहल कर उनका सुख-दुख समझना चाहता हूं, और मेरे भाइयों ने तत्परता से मुझे स्वीकार न किया हो, मेरा तिरस्कार या त्याग भी नहीं किया है।

मेरे भाई के कमरे में आने या बात करने से मेरी पत्नी क्यों बेज़ार हो रही थी, यह बात मेरी समझ में सचमुच नहीं आई थी उस दिन।

मैं अपनी पत्नी से यह भी नहीं पूछ सका कि इसमें रोने की क्या बात है, और अगर वह रो रही है तो मुझे समझाए कि किसलिए रो रही है।

आंखे नींद के झोंको की शिकार हो चुकी थीं। मैंने पत्नी के रोने को अधिक तूल नहीं दिया।

कपड़े बदल कर हाथ-मुंह धोने चला गया फिर कब आकर सो गया, मुझे पता नहीं। उस रात मेरी पत्नी का क्या हुआ, मुझे यह भी नहीं पता...

घूम-फिर कर मुझे वक्त ही तो गुजारना था अब... कई बार आंखों मे नीद के झोंके इधर-उधर घूम गए थे।

अब सोचता हूं तो लगता है उस रात वह इसी तरह बुत बनी बैटी रही होगी।

गलती किसकी थी ? कहां हुई ? ये बातें मन में आतीं तो हैं लेकिन मेरे बोल नहीं निकलते।

उसका वजूद मौत की तरह बुझ-सा जाता है, मन ठण्डा हो जाता है।

मुझे फेरों के समय पण्डित द्वारा पढ़ गए मंत्र याद आते हैं जिन्हें मैंने दोहराया था। वे वचन याद आते हैं जो उस समय पति, अपनी नवोढ़ा पत्नी को देता है कि सभी आपदाओं, विपदाओ, भयों में वह उसकी रक्षा करेगा। अपने ही सोच में उसकी

भागीदारी रखेगा...

लेकिन यह बात मैं अपनी पत्नी को कैसे समझाऊं कि मेरे मन में तो हमेशा मेरा छोटा भाई घूमता रहता है जो शायद अपनी भाभी के आसपास मंडराता ही रहता है और उसे देखते ही मेरी पत्नी की दफ़नाई हुई खुशियां उसकी आंखों में वापस लौट आती हैं।

उन दोनो को खिलखिलाते मैंने कई बार देखा था, फुसफुसाहटे भी सुनी थी, खुशी से लोट-पोट होते देखा था, भाई को कत्ल कर देने की इच्छा भी मेरे मन मे बलवती हुई थी।

लेकिन ऐसा हो नही पाया कभी और मन का यह जहर मेरे तन मे पिघलता चला गया।

अब तो कुछ नही होता। इस तरह के कई झटके मुझे लग चुके हैं। उन्हे सहने के लिए मैने अपने आपको तैयार किया है...

कुछ गूजे आज भी मुझे बेखुद करने लगती है :

'भाभी... कहा रहती हो... जब घर आऊं तो मेरे सामने तुम्ही पडा करो... सारी थकान दूर हो जाती है तुम्हे देख कर...'

'भाभी, तुम्हारे हाथ का खाना लाजवाब है, कम से कम महाराज का बनाया हुआ खाना एक बार छू दिया करो...'

'तुम चाय की प्याली एक बार छू दो तो शक्कर की जरूरत नही पडती भाभी, कितनी महगी हो गई है चीनी...'

'मा के तो मजे हैं आजकल, जब से आई हो महाराज के हाथ का खाना छोड दिया है उन्होंने...'

मेरी बहने भी पीछे कब रहती। आखे नचा कर भाभी को देखती ओर मुस्कराती रहती :

'भूखे पेटों के लिए त्योहारी पकवान बना कर आई हो भाभी, अपने आपको बचा कर रखना।'

कोई तीज-त्योहार आता तो गहने-कपडो से लकदक मेरी बीवी पूजा करती, सिर से पैर तक झिलमिल चादर सिर पर डाल बायना देकर मा के पैर छूती... इतना बढिया प्रदर्शन कि देखने वाले मात खा जायं। खाने की मेज पर बैठे लोग उसके गुणो का कसीदा पढते, उसकी प्रशंसा मे काव्य रचना कर डालते...

इन सबके बीच बैठी मा निहाल होती रहतीं। उनकी परेशानियां, उनका दर्द, संघर्ष सब कुछ हवा होकर बीते कल की बात हो जाता। चेहरे पर इस सताप की एक भी लकीर नजर नही आती...

मेरी पत्नी छमछमाती हुई सबकी आवभगत में लग जाती, खाना परोसती, पानी देती, चाय-कॉफी का इंतजाम करती...

लेकिन उस महफिल में मैं नहीं होता, न मेरे लिए मेरी पत्नी के पास समय होता

बाहर के लोग इस बात को समझते नहीं होंगे, ऐसा मैं नही सोचता...

मैं यह भी नही मानता कि मेरी मां इससे अनजान रही। उनके गमों मे शायद एक ग़म इस बात का था कि मेरा दाम्पत्य जोड़ बेमेल था।

उधर बहने जवान हो चुकी थीं। उनकी शादियो की चिता भी मां को थी। मां को ही सारे मसले हल करने थे। मेरा मसला भी था, लेकिन मुझे लगता है अगर मेरे मसले पर विचार करते समय मा, मुझे सामने रखती तो उन्हे एक चिंता से मुक्ति मिल सकती थी।

मां के लिए मेरी पत्नी के कष्ट अधिक मायने रखते थे, और इसीलिए शायद उसे कष्ट देने मे मुझे मजा आने लगा था। मा यह राज समझ पाई या नहीं मैं जानना नही चाहता।

कहा की बात करते-करते एक बार फिर कहा भटक गया।

आइए, उस दिन के हादसे तक फिर चलते हैं...।

मेरी पत्नी उसी तरह लुटी-पिटी बैठी रही ओर मे नग-धडग पानी का लोटा उठा कर गटागट पानी पी गया।

सोने की तैयारी मे बिस्तर से लिहाफ सरकाया। बिस्तर मे घुस कर बत्ती बुझाने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि उस पर नजर पड गई। कुछ कहने के लिए शायद उसके होठ बुदबुदाए पर आवाज नही निकली।

मैने लेटे ही लेटे पूछा :

'आखिर मेरे भाई ने ऐसा क्या कर दिया ? कहा छू दिया तुम्हे कि तुम्हारी अस्मत बिगड गई ?'

घायल सर्पिणी की तरह वह फुफकार उठी :

'आप जैसे कायर पुरुष के लिए तो कहीं कुछ नही होता... पता नही क्यों वेदमत्र पढ़कर आपने पाणि ग्रहण किया। क्या हक़ था आपको मेरी जिंदगी बरबाद करने का...' वह फफक कर रो पड़ी।

मै प्रस्तरवत पडा रहा। वह रोती रही। नीद आखो पर लगातार हमला किए जा रही थी।

मैने समझौते के लहजे में कहा :

'अब रोना बद करो और सो जाओ, कितनी रात बीत गई है।'

'रात बीतने की फिक्र अब आपको भी होने लगी, सो जाइए आप !' रोते-रोते गिल-गिल करती हुई उसकी आवाज मेरे कानों में पड़ी।

मन एक अजीब-सी वितृष्णा से भर उठा।

एक दृश्य उभरा...

मेरे सभी भाई-बहन बैठे वीडियो देख रहे हैं। सबके बीच हंसती-विहंसती मेरी पत्नी बैठी है। परदे पर दिखाई पडने वाली अभिनेत्रियों से उसकी तुलना हो रही है। मेरी पत्नी निहाल हो रही है। सारा घर कहकहे लगा रहा है

उस तन्हा रात मे वे कहकहे मेरे शरीर के पोर-पोर से सुनाई दे रहे हैं।

मेरी सारी इद्रिया लुप्त होकर केवल मात्र एक इद्रिय—श्रवणेद्रिय मे बदल गई।

वह ऊघ रही थी और मैं सोने का अभिनय कर रहा था। जागते हुए भी बदस्तूर मेरी सासो के खर्राटे सुनाई पड रहे थे।

मेरी पलको से खिसक कर नीद कही विलीन हो गई थी।

मेरी वहन की सगाई हो गई। लडके वाले जमीदार हैं। मेरा होने वाला बहनोई अपनी मा की इकलौती सतान है, पर परिवार उनका सयुक्त है।

मरी मा ने छाट कर छोटा परिवार ढूढा था जहा के सदस्य कम हो, जहा मेरी बहन को बात-बात पर समझौता न करना पडे। और शायद इसलिए भी कि कई बहुए घर मे होगी तो उनकी तुलनाए होती रहेगी, फिर मेरी बहन शायद उन तुलनाओ मे कमतर साबित हो, रूप-गुण दोनो मे।

मेरी बहन का होने वाला ससुर किसी दुर्घटना मे मारा गया था।

एकाकी सूनी माग और कन्नी पाड की सफेद साडी पहन कर जब बहन की सास घर आई और बहन को उसने गले लगा लिया तब मेरी मा सतुष्ट हो गई।

उन्होने कहा :

'मेरी बेटी का भाग्य समुद्र से भी बडा है।'

मेरा होने वाला बहनोई, गोरा-चिट्टा कद्दावर जवान था। उसके दात होठो से बाहर झाकते थे तो क्या हुआ।

मा ने बहन से पूछा था :

'लडका तुम्हे कैसा लगा ? मर्दो की सूरत नही सीरत देखी जाती है। उसके चेरहे-मोहरे से तुम्हे अरुचि तो नही ?' मा के स्वर मे सहानुभूति थी।

बहन ने 'नही' मे सिर हिला दिया। मा के लिए यह उत्तर काफी था। उन्होने बेटी को निहाल होकर देखा, गोया पलको से उसे सहला रही हो। फिर एक निःश्वास छोड कर उठ गई थी। ऐसा लगा कि इस खुशी के अवसर पर उन्हे मन ही मन किसी बात की दहशत भी होने लगी थी। कहीं लड़की ने विचार बदल दिया तो सब गुड गोबर हो जाएगा।

मेरी बहन मेरी पत्नी की तरह अतीव सुदरी न सही पर देखने-सुनने मे बुरी नही थी और निश्चय ही किसी तीखे नाक-नक्श वाले के योग्य थी, लेकिन अब तो संयोग जुडता नजर आ रहा था और मेरी मां उस अंतिम क्षण तक भी शायद विश्वस्त

रहने वाली नहीं थीं। क्योंकि सुंदर-सुघड़ पति न हो तो इनकार करने का हक वह अपनी बेटियों को दे चुकी थीं। और मेरी बहन ने उनके प्रस्ताव का विरोध नहीं किया था। वह कर सकती थी... शायद इसीलिए कोई अपरिचित भय मां को अपनी चपेट में लेने के लिए मचल रहा था।

मां के शरीर का लहू शायद कोड़ा खाए हुए घोड़ों के लहू जैसा उनकी रगों में दौड़ रहा था। बहन के प्रति उनकी आत्मीयता बढ़ गई थी इसलिए जिम्मेदारी भी बढ़ी थीं।

उनके मन में शायद दो विपरीत कोलाहल थे—एक तो लड़का स्वीकार कर लिए जाने की अपनी खुशी का और दूसरा बहन की स्वीकृति, उसकी मानसिकता, उसकी सरलता का।

मां को शायद अपना विवाह याद आ रहा होगा जब उनके पिता-सी उम्र वाले मेरे पिता को उन्होने अपना पति स्वीकार किया था।

पारे की तरह बिखर जाने वाली समस्याओं को मेरी मां सहेजना खूब जानती हैं...

लेकिन बहन ने तो बड़ी तत्परता से विवाह की स्वीकृति दे दी थी। उसने भी वर की अपेक्षा घर ही देखा होगा। जो भी था मां के ऊपर पूरा दायित्व एकदम से ढुलक आया था...

उस दिन वहां से उठ कर वह बाहर वाले गोल कमरे तक आईं और बरामदे में खड़ी होकर बूढ़े मुनीम जी को उन्होंने आवाज लगाई जो चेहरे को हथेलियों में थामें कुर्सी पर बैठे-बैठे ऊंघ रहे थे।

मां की आवाज पर ऐसे खड़े हुए जैसे किसी ने तमंचे से तीर छोड़ दिया हो।

मां के करीब आकर खड़े हो गए। पान की पीक उनके मोटे होंठों से छूट कर बाहर ढुलकी आ रही थी। वह हाथ जोड़े देर तक खड़े रहे। उनकी दाढ़ी के सफेद बाल लू की हवा में पेड़ की आवारा डालियों की तरह हिलते-उड़ते, इधर-उधर होते रहे। मां की ओर उनकी प्रश्न भरी आंखें लगी हुई थीं।

मां वहां बुत् बनी खड़ी थीं। पता नहीं क्या पिघल रहा था उनके अंदर। या उन्हें याद नहीं था कि मुनीम जी को उन्होंने क्यों बुलाया है या अपनी बात कहने के लिए शब्दों का चुनाव कर रही थीं।

अचानक हुक्मनामे की तरह उनकी आवाज सुनाई पड़ी :

'आप तैयार होकर गुप्तचर की तरह मथुरा वाले जमींदार साहब के यहां पहुंचिए और सारे घर का, उनके रहन-सहन से लेकर व्यापारिक स्थितियों का, नौकर-चाकरों का, उनकी साख का पता लगा कर आइए। यह सब काम आप पूरी सावधानी से करेंगे ताकि उनमें से किसी को भनक भी न पड़े कि आप यहां से भेजे गए हैं।'

'बहुत अच्छा मालकिन'... मुंशी जी पान और सुरती की मिली-जुली पीक मुंह

में सटकते हुए आंखें चमकाने लगे... 'वह कुल तो सम्भ्रांत और सम्मानित सुना जाता है मालकिन, फिर भी मैं आदेश का पालन करूंगा। कल तड़के ही यहां से प्रस्थान कर शाम तक लौट आऊंगा...'

लेकिन मुंशी जी की पूरी बात सुनने के लिए मां वहां मौजूद नहीं थीं। उनका मन किन्हीं आगंतुक द्विविधाओं के कारण शिला की तरह भारी होने लगा था।

वे द्विविधाए क्या रही होंगी, मैं कुछ-कुछ अंदाजा लगा सकता हूं।

मेरी मां सोच रही होंगी :

क्या उनकी बेटी पराए घर जाकर अपने आपको उस परिवार के अनुरूप ढाल लेगी ?

क्या वह अपना पत्नी धर्म स्वीकार पति की प्रसन्नता और उसके सुख का कारण बनेगी ?

अगर उसने सास-ससुर को पूरा आदर न दिया तो ?

अगर उसने घर के कामों में हाथ न बंटाया तो ?

'फिर तो पूरा खानदान, भर्त्सनाओं का शिकार बन जाएगा... या कलंक लेकर मैं कहा जाऊंगी... मेरी मा अपने आप से कहने लगी होगी...'

इसी तरह की और भी अनेक बातें उलझ कर रेशम का गुच्छा बन गई होंगी...

मेरी बहन का विवाह धूमधाम से हुआ, उसे तो होना ही था। मेरी मां ने इस दौरान अपने आपको मशीनी यंत्र बना दिया था, दिन-रात किसी न किसी काम मे लगी रहने लगी थीं... किसी बात की कहीं कमी न रह जाए इस बात का पूरा जिम्मा स्वयं मां और उनके भाइयों यानी मेरे मामा लोगों ने ले लिया था।

सब होते-हवाते बहन की विदा का दिन भी आया।

मेरी मां अपलक अपने बेटी-दामाद को निहारती रही थी उस दिन। उनकी आंखों में अश्रु के लिए स्थान नहीं था, उनके मन में तो भविष्य की अबोली इबारतें मुखर हो रही होंगी... उनकी आंखों के सामने जो हो रहा था उसकी सुधि कहां रही होगी उन्हें...

और उनकी बेटी, या मेरी विदा होती बहन, उसे बोलना ही क्या था !

चलते समय आकर मां के सामने खड़ी हुई तो मां का गला जरूर भर्राया था जब वह उपदेश देने लगीं :

'बेटी, अब वे ही लोग तुम्हारे माता-पिता और वही परिवार तुम्हारा अपना है। पलट कर कभी किसी बड़े को उत्तर मत देना और तर्क-वितर्क के जाल में न पड़ना...

'जहां दिमाग या बुद्धि काम न दे वहां बंदर की तरह नकल करना सीख लेना, पति के साथ अपना भी ख्याल रखना... प्रेम जितना दोगी उतना ही मिलेगा...' इतना कहते-कहते मेरी मां का स्वर टूटने लगा था।

और मेरी बहन... सजी-सजाई लम्बी मोटर में बैठने के लिए मुड़ गई थी।

पीछे से कोई कहता हुआ सुनाई पड़ा :

'लक्ष्मी-नारायण की कैसी साक्षात् जोड़ी है, भगवान इन्हें सलामत रखें।'

मां के कान में भी यह बात पड़ी क्योंकि इस ख्याल से कि कहीं नज़र न लगे, वह थुकथुकाने लगीं। फिर बिछड़ती हुई भीड़ पर एक लम्बी नज़र डाली।

घर की ओर जाने वाली बगीचे की सीढ़ियों पर कई बार उतरीं-चढ़ीं। फिर विवाह के मंत्रों से गूंजते... अगर-धूप और चंदन में सुवासित उस स्थल की ओर मुड़ीं जहां हवन का अग्निकुण्ड अभी तक प्रज्ज्वलित था।

देर तक मेरी मां पनियाई आंखों से उन उड़ते हुए पतिंगों की ओर देखती रहीं...

उनके सोच का मीटर चालू था।

अभी-अभी वह पिता के साथ गठबंधन करके कन्यादान के चौक से उठी थीं। वड़े-वड़े अफसर, मंत्री, महामंत्री, राज्यपाल... सभी तो उपस्थित थे वर-वधु को आशीर्वाद देने।

विवाह से अधिक उनके लिए दर्शनीय वस्तु थी मेरी मां और पिता के बीच खिंची उपरामना की लक्ष्मण रेखा।

रिश्तों की कृत्रिमता प्रयास करके भी कहां छिपाई जाती है और यहां तो छिपाने का प्रयास भी नहीं था।

समाज सभी जगह अपनी आँखों मे एक पर्यवेक्षक बिठाए रहता है, ऐसे मौक़ों पर वही परीक्षक बन जाता है।

पर अब इन बातों की परवाह भी किसे थी। छिपाने लायक था भी क्या ? हमारे घर का इतिहास किसी से छिपा भी कहां था...

पिता इन बातों से ऊपर उठ चुके थे... और मां ? उनके मन की थाह मुझे कभी नहीं मिल पाई... आज भी नहीं... लेकिन इतना कह सकता हूं कि अपयश से विचलित होते मैंने उन्हें कई बार देखा है...

गंगा की गहराई मेरी मां में नहीं है। उनके मन के भाव वितृष्णा हो या प्रेम शीघ्र ही उनके चेहरे पर अक्स हो जाते हैं, फिर उन्हें छिपाने के लिए वह चाहे कोई बहाना ढूंढ़े। अपने विचारों को झटक कर हमें भ्रमित करने की वह कितनी ही कोशिश करें... हम उनकी असलियत अच्छी तरह पढ़ लेने में माहिर हो गए हैं।

उन दिनों हमारे परिवार में ऐसी ही बातें हो रही थीं जिनकी समाज निंदा करता है।

मेरी मंझली बहन से दोस्ती करने के लिए मेरे दोस्त मेरी ही गाड़ी में बैठ कर मेरे घर आने लगे थे।

घर के एक कोने से लगा हुआ फिर भी घर से नितांत अलग एक कमरा है। एनेक्सी जैसा... वही हमारी चौकड़ी का केंद्र बना जहां हम उठते-बैठते थे।

जिस दिन कुछ लड़के पकड़ कर मुझे ले गए थे और एक लड़के ने मेरी मदद की थी, एक तो वही मेरा दोस्त बन कर घर आने लगा था। हमारे साथ कॉलेज भी जाता था। उसकी नजर थी मेरी मंझली बहन पर। उससे दोस्ती करना चाहता था। सबसे अधिक वही घर आने वालों में था।

मुझे कुछ समझा-बुझा कर, लालच देकर वे लोग कहीं से कुछ लाने का बहाना करके बाहर भेज देते। मेरी बहनें उनके साथ अकेली छूट जाती थीं।

इसी शर्त पर तो उस दिन मैं उस दुराचारी अभियान से छूट पाया था। उसे मना भी किस मुंह से करता। उसने मुझे बचाया तो था।

जहां तक बहन से दोस्ती कराने का सवाल था मैंने यही सोचा था कि दोस्ती दो व्यक्तियों की मर्जी से होती है, अगर मेरी बहन नहीं चाहेगी तो अपनी मुक्ति का रास्ता खुद ही ढूंढ़ लेगी। मेरी तरह वह तो असमर्थ नहीं थी।

दोस्तों को अतिथिगृह में छोड़ कर जाने लगता तो अम्मा मुझे ग़ौर से देखती थी। एक दिन उसने मुझे टोका भी, लेकिन मैंने उसकी परवाह नहीं की।

अगर मैं अम्मा की बात मान कर घर बैठ जाता तो मेरे सामने मृत्यु-सी अनहोनी का डर था। अम्मा नाराज भी होती तो क्या कर लेती ?

उधर मेरी मां सबके सामने मेरी मुक्ति और बहादुरी के चर्चे करने लगी थीं। कहतीं :

'केशव हमारा अपने पिता की तरह ही मुक्त और बहादुर है। मौत की ललकार सुन कर भी बाहर निकल जाता है।'

बेचारी मां को क्या पता था कि मैं घर की आन गिरवी रख आया था...

यह स्थिति अधिक दिन टिकी नहीं। अम्मा और मां के चेहरे पर चिंता की रेखाएं दिनोंदिन स्पष्ट होने लगी थीं...

लेकिन मेरी गतिविधियों में कोई अंतर नहीं आया। मैं किसी न किसी बहाने, निकल ही लेता चाहे वह बहाना सैर-सपाटे का हो, चाहे अपने शिक्षकों के यहां जाकर पढ़ाई करने का हो या खेलने जाने का।

मैं महसूस करने लगा था कि मेरे चारों ओर धूर्त-लम्पट और लोभियों का समूह जमा हो गया है। मेरी दुर्बलताओं को वे समझ गए थे और उनका फायदा उठाते हुए मुझसे जो चाहते करवा लेते थे।

अपनी बहनों को मैंने उन्हीं के हवाले छोड़ दिया था।

मैं जानता था मेरी बहनें और लड़कों से भी मिलती हैं और सबको परख-परख कर पीछे छोड़ अपने अभियान में आगे निकलने में माहिर होती जा रही थीं।

अपना हित-अहित वे समझने लगी थीं। पढ़ने में अच्छी थीं, बुद्धि की प्रखर। इसीलिए घर के कड़े अनुशासन को नकारते हुए भी वे आगे बढ़ रही थीं। निर्भय होकर अपने जीवन के नक्शे आप बनाने लगी थी। न उन्हें किसी से परामर्श की जरूरत थी, न किसी के साये की।

मेरी बहनों में आत्मविश्वास बहुत था। इसीलिए वे आजाद थीं। परतंत्रता का कोई नियम उन पर लागू नहीं था।

मेरी मां को यह पता भी नहीं चल पाया कि कब उनके अनुशासन की पुरानी डोरियां कबंद से निकल गईं। मां कुछ कहने की स्थिति में भी नहीं थीं क्योंकि मेरी बहनों का स्कूल या कॉलेज का नतीजा कभी प्रथम से नीचे आया ही नहीं।

पल्लवी शादी कराके जा चुकी थी। बाकी थी मेखला, कामिनी और अर्पणा।

अर्पणा अभी छोटी थी। अपनी दोनों बड़ी बहनो का आदर्श सामने रख कर ही वह स्वतंत्रता की राह पर आगे बढ रही थी।

उसके विषय में मैं कुछ नहीं कहना चाहता। वह मेरी पत्नी की अनन्य भक्त है। मुझसे उसे जुगुप्सा है, मेरी पत्नी पर वह हर तरह से न्योछावर है, शायद इसीलिए मैं भी उससे नफरत करता हूं।

मुझे यह बात सबसे बुरी लगती है कि पत्नी से मेरा जब भी कोई विवाद होता है तो वह बीच में अवश्य कूद पड़ती है।

अब मियां-बीवी में कोई बात हो, उसे बीच में कूदने की क्या जरूरत है, लेकिन ऐसे हर मौके पर वह परछाईं की तरह उसके साथ डोलती रहती है। मेरे आरोपों से मेरी पत्नी को बचाने के लिए हमेशा तत्पर... जब मैं क्रोध में आकर ऊलजलूल, तीर की तरह चुभने वाली बातें कहता हूं, तो मेरे आक्षेपों से उसे बचाने के लिए वह मोटी दीवार बन कर बीच में खड़ी हो जाती है। मुझे भला-बुरा कहती है, मेरी भर्त्सना करती है...

मैं कहता हूं :

'तुम कौन होती हो मेरे और इसके बीच में आने वाली !'

'तुम अच्छी तरह से जानते हो मैं कौन होती हूं।' वह पलट कर गर्जना करती है, 'पशुओं की तरह चिल्लाओ मत... भाभी के ऊपर तुम्हारी धांधली मैं बिल्कुल चलने नहीं दूंगी। पागलपन की सीमा तक तुम अशिष्ट होते जा रहे हो... अपनी धौंस मां तक ही रखो, उनके रखवाले और भी हैं, तुम्हें समझ लेंगे। यहां तुम्हारी दाल मैं नहीं गलने दूंगी...

'तुम मेरे बड़े भाई हो लेकिन मेरे जितनी अक्ल भी तुम्हारे पास नहीं है... कुसंगति में रह कर तुमने अपनी इंसानियत खो दी है...

'अब तो तुम पीने भी लगे हो। जाने कहां जा-जाकर अभक्ष्य भक्षण करते हो और घर में आकर भाभी पर रौब झाड़ते हो, केशव भाई। तुमसे तो बेहतर हमारे घर के नौकर-चाकर हैं...'

उसके शब्द क्रोध की आंच में पिघलने लगते... उसकी आंखों से धुआं-सा निकलने लगता...

और मैं... निर्वाक उसे देखता रहता हूं। शांत खड़ी पत्नी पर नजर पड़ती है तो तन-बदन में आग लग जाती है। फिर तो मुंह में ऊलजलूल जो भी आता, बकता चला जाता हूं।

मन होता उसके बाल पकड़ कर दो हाथ लगाऊं लेकिन मैं यह भी जानता था कि वह शेरनी मेरे सिर का एक बाल भी नहीं बचने देगी।

दांत पीस कर मैं कहता :

'बड़ी वारसा बनती है तू... तू क्या समझती है मुझे कुछ पता नहीं, तू क्या करती है, किसके साथ जाती है... मैं बोलता नहीं पर तेरा कोई काला कारनामा मुझसे छिपा नहीं...'

वह बिजली की तरह एक दिन टूट पड़ी मुझ पर :

'कुछ भी करूं, तुम्हारी तरह खानदान की इज्जत मैंने कही गिरवी नहीं रखी। केशव भैया, बेहतरी इसी में है कि मेरा मुंह मत खुलवाओ, वरना पिता के इस्टेट से निकाले जाओगे और मां को शर्म से डूब मरने के लिए कहीं चुल्लू भर पानी नहीं मिलेगा... समझ रहे हो न...'

अपनी भाभी का हाथ पकड़ कर खींचते हुए उस दिन वह कमरे से बाहर हो गई।

कमरे में रह गया केवल मैं... अकेला...

अपने भविष्य से... अपने कर्मों से... अपनी बेलाग वाणी से... अपने भ्रमों से जूझता हुआ... भिड़ता हुआ और पराजित होता हुआ...

तटस्थ होने की चेष्टा करती हुई कभी-कभी मेरी मां भी ऐसे मौकों पर अवतरित हुआ करती हैं, जैसे उन्हें किसी से कुछ लेना-देना नहीं, बस ऐसे ही आ निकली हों...

कभी तपी हुई सुवर्ण प्रतिमा की तरह वह कक्ष के दूसरी ओर खुलने वाले बरामदे में बैठी दिखाई पड़तीं। बिना किसी अभिव्यक्ति के, गुमसुम...

उन्हें मेरे गुस्से का अंदाजा था। मुझे क्रोध में देखते ही उनके पांव थरथराने लगते। हाथ कांपते न होते तो शायद मेरे मुंह पर थप्पड़ मार देतीं...

ऐसा मुझे लगता। लेकिन मैं जानता हूं, कि उनका हाथ बचपन में भी हम भाई-बहनों पर उठा नहीं था...

अब, इस हाल में किससे क्या कहें !

उनका वश चलता तो अपनी बहू को प्रताड़नाओं की परछाई से भी बचा ले जातीं। लेकिन वह कसर वह उसके सिर पर हाथ फेर कर पूरी करतीं। अपना सारा प्रेम-वात्सल्य, सारी ऊर्जा अपनी अंगुलियों में भर कर उसके सिर पर उड़ेल देना चाहतीं...

मेरे लिए उनके मन में क्रोध होता, उपेक्षा होती, संदेह होता, अविश्वास रहता...

वह अपने आप पर शर्मिंदा होतीं। लेकिन उस शर्म का भी किसी के लिए क्या अर्थ था ?

हम भाई-बहनों की करतूतों का मेरी मां को कोई पता नहीं था। इसके दो कारण थे—एक तो यह कि अपने बच्चों के प्रति उनके मन में अखण्ड विश्वास था।

दूसरा और अधिक सुदृढ़ कारण यह था कि उनके पास अपने आपके लिए भी समय नहीं था।

सुबह से शाम तक मेरी मां अपनी महत्वाकांक्षाओं और इच्छाओं के वात्याचक्र में घूमती रहती थीं।

यश लोलुप उनकी आत्मा जाने क्या-क्या स्वप्न सजाती रहती।

घर-परिवार और बच्चों से उपराम होकर उन्होंने केवल हमारे पिता के प्रति अपना कर्तव्य निभाया था।

मेरी विमाता के पुत्र के क्षेम-कुशल के प्रति जागरूक रही थीं। लेकिन मेरे उस सौतेले भाई के लिए कुछ कर नहीं पाईं। क्या कर सकती थीं ? उनके हाथ में क्या था ? सौत के बच्चों पर मां के जीवित रहते सौतेली मां का क्या अधिकार रहता है ?

मेरे उस सौतेले भाई का मानसिक संतुलन बिगड़ता गया इसका कारण मेरे पिता स्वयं थे।

मेरे भाई ने अपनी परिणीता छोड़ दी। उसकी गोद में तब एक दो महीने की फूल-सी बच्ची थी।

लोग बातें करते थे खुले-खजाने कि इस तलाक में मेरे पिता का हाथ था।

मैं नहीं कह सकता कि विधर्मी बहू को मेरे पिता बर्दाश्त नहीं कर पाए या उसके कामोद्दीपक सौंदर्य को। इस रहस्य को दो ही व्यक्ति या तीसरा भगवान जानता है। मैंने तो बाप-बेटे में हमेशा बैर भाव ही देखा है।

मेरा भाई कान्हा यह कभी नहीं चाहता था कि उसकी पत्नी पिता के पास अकेले जाय। लेकिन वह जाती थी। और पति की शिकायतों के टोकरे भर-भर कर श्वसुर की सहानुभूति जीत लेती थी।

चतुर स्त्री थी मेरी वह भाभी। श्वसुर को अपने पक्ष में कर लेने का अर्थ बहुत कुछ हो सकता था।

वह समझ गई थी कि मेरे पिता यानी उसके श्वसुर अपनी स्त्री को छोड़ कर संसार की सारी मुसीबतजदा स्त्रियों के पक्षधर हैं।

सिर्फ अपनी स्त्री के लिए उनका अनुशासन कठोर था।

पिता को यह कहते हुए सुना था उसने :

'पत्नी का धर्म, कर्म, मर्म सब कुछ उसका पति है। पत्नी उस पहाड़ी नदी की तरह है जो कन्या रूप मे कितनी ही उछल-कूद करें अंततः समुद्र में अपना अस्तित्व खोकर ही सुखी हो सकती है.. पत्नी के आनन्द की आधारशिला उसका पति ही है। पति से भिन्न पत्नी का कोई अस्तित्व नही।'

वह चाहती तो पिता के इन वक्तव्यों की धज्जियां उड़ा सकती थी। वह उस युग की थी जिसने इन सिद्धांतो के प्रति आवाज उठाई है। ऐसी बातो को एक अस्वस्थ समाज की रुग्ण एवं अस्वस्थ मान्यता समझ कर अस्वीकार किया है। लेकिन ऐसा उसने किया नहीं। क्योकि ये बातें सीधी उससे कही नहीं गई थीं, और व्यर्थ का विवाद मोल लेने से उसके स्वार्थ की पूंजी उससे छिन सकती थी।

हमे मालूम तो नहीं लेकिन भाई की मुक्ति की पूरी क़ीमत उसे मिली होगी, हम जानते है।

अब रही मेरे पिता की बात। मेरी मां ने उनके निर्धारित सभी नियम माने थे, पर क्या वह सुखी हुई ?

आधुनिकता की इस आंच में मुझे तो स्त्री आज भी बड़ी कमजोर नजर आती है। उसके संस्कारो की बेडिया बड़ी सुदृढ़ हैं। उसकी कीलों से उसका मानस व्यथित है। वरना, मेरी पत्नी, बेहुला मेरे अत्याचार क्यों सहती।

स्त्री अपनी वास्तविक स्थितियों का आभास पुरुष को करा ही नहीं सकती। पुरुष के दम्भ, उसकी कामेच्छा, उसके स्वामीत्व की पीड़ा उसे सहना ही होगा।

जब इस तरह की बातें मेरे मन मे आने लगती हैं, तब मैं सोचता हूं कहीं मेरे अंदर से मेरे पिता ही तो नहीं बोल रहे हैं... मुझे दहशत तो होती है पर कहीं गर्व भी होता है, आखिर मैं उनका पुत्र हूं। कुछ संस्कार तो मेरे अंदर आने ही चाहिए।

आज से सौ वर्ष पहले एक संभ्रांत कुल में पैदा हुए मेरे पिता की भी यही पहचान थी।

अपने पिता की होनहार पहली संतान थे हमारे पिता... भरा-पूरा घर... व्यवसाय में उन्नति थी लेकिन महत्वाकांक्षा किसी में नहीं थी इसलिए उच्च कोटि के व्यवसायियों में आने की होड़ भी नहीं थी। अंग्रेजों का राज था।

लेकिन पारिवारिक वैमनस्य के कारण और कुछ धन से विरक्ति के कारण उनके पितामह ने अपनी जमींदारी-व्यवसाय का अधिकांश हिस्सा निर्धनों में बांट दिया।

उनके पुत्रों ने पिता की आज्ञा से नौकरियां कर लीं।

लेकिन तीसरी पीढ़ी में मेरे पिता ने फिर से खोई हुई सम्पत्ति वापस प्राप्त की।...

पिता ने विदेशों से व्यापारिक संबंध जोड़े। बाहर का माल कई गुना अधिक दामों पर बेच कर यहां के धनवानों में उन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली। बंधु-बांधवों को अलग-अलग काम पर लगा कर समाज में खोया हुआ साम्राज्य स्थापित कर लिया।

पिता के शासन-तंत्र में जो भी आया, माला-माल हो गया।

अथाह सम्पत्ति और कई प्रतिकूल स्त्रियों के स्वामित्व ने पिता को स्वभाव से रूखा बना दिया। मानवीय लगाव या संवेगों की बारीकियों से वह कट गए। वज्र की तरह कठोर बन गए मेरे पिता।

लेकिन किसी की याचनाओ पर पसीज जाते तो उस पर लाखों न्योछावर कर देते।

पूजापाट और कर्मकाण्डों में उनकी आस्था एकदम अधी हो गई। इन आयोजनों में दिल खोल कर धन लुटाते।

उस समय की कोई भी राजनीतिक पार्टी या नेता ऐसा नहीं था जिस पर मेरे पिता के दान का ठप्पा न लगा हो।

लोगों की नजर में मेरे पिता विलासी भी कम नहीं थे। कोई स्त्री अगर उनके सम्पर्क में आई, तो वह किसी दूसरे पुरुष की अंकशायिनी न बने इस बात पर विशेष ध्यान देते। किसी अजाने स्थान में प्रचुर धन देकर उसे भेज देते, उसके सुख-दुख का ख्याल रखते।

लेकिन मेरी मां उनके साथ कभी प्रसन्न नहीं रह पाईं। कदाचित वचन की बाध्यता ने ही उन्हें बांधे रखा, मन ही मन अपनी नारी देह को अवश्य ही वह अभिशाप देती रही होगी क्योंकि जब से मैं नीचे तबके की संगति में पड़ कर अपने पैत्रिक मंदिर में हरिजनों को लाकर हरिकीर्तन कराने लगा और उनके मना करने पर भी प्रश्नों के तीरों से उनकी अस्मिता को बेधने लगा तब से उन्होंने अपना पूजा-पाठ भी छोड़ दिया और वे नास्तिकता की सीमा तक भगवान के नाम से जी चुराने लगीं।

एक दिन हैरान होकर उन्होंने मुझसे पूछ ही लिया :

'वह कौन है जिसे तुम मंदिर में लाकर भजन गवाते हो ?' मां के स्वर में हताशा जैसा मैंने कुछ महसूस किया था।

'एक भला आदमी है,' मैंने कहा, 'क्यों मां, उसमें भी आपको कोई आपत्ति है ?'

'आपत्ति तो है बेटा, क्योंकि सुना है वह हरिजन है, और उसका इस तरह हमारे मंदिर में आकर...'

मैंने मां की बात काट दी :

'हरिजन, हरिचरण में ही आकर बैठेगा... और कहां जाएगा, और वह मंदिर हमारा नहीं भगवान का है जिसके द्वार सबके लिए खुले रहते हैं...'

'उसके साथ तुम्हारा उठना-बैठना हमारे कुल...'

मैंने फिर उनकी बात काट दी और उनका वाक्य पूरा कर दिया :

'कलंक है, यही कहना चाहती हैं न आप ? मैं यह बात आपसे पहले भी बता चुका हूं कि मनुष्य मेरे लिए मनुष्य है, उसे ऊंच-नीच की तुला पर मैं नहीं रखता...'

और भी बहुत कुछ कह गया... मां की बोलती बंद हो गई उस दिन, लेकिन वे बातें मैंने मां को दुख पहुंचाने के लिए नहीं कही थीं, मैं उन दिनों पूरे मन से उन बातों पर विश्वास करता था।

उज्ज्वल जाति के कहलाने वालों को बेहद नज़दीक से देख चुका था मैं। उनके मुकाबले वह मेरा दोस्त बन गया था। उसके भजनों में ऐसा कुछ था जो मुझे छू जाया करता था।

मैंने परख लिया था, पूछ लिया था.... वह दारू नहीं पीता था, मांस-मछली नहीं खाता था... जुआ नहीं खेलता, चोरी नहीं करता था, मेहनत की कमाई खाता था... मर्यादा की भाषा बोलता था... साफ-सुथरा रहता था...

मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि सिर्फ इसीलिए कि एक आदमी नीच कुल में पैदा हुआ है इसलिए वह नीच है, उससे नफ़रत करो।

शायद मेरा स्वर बहुत कठोर हो गया था। मां हथेलियों में मुंह छिपाकर एकदम से रो पड़ी थीं। मां का इस तरह 'अपसेट' होना मुझे उलझा गया।

मैंने कोई ऐसी अजूबा बात नहीं कही थी कि मां बुरा मान जातीं। तमाम बचपन हम भाई-बहन उन्हीं की नसीहतें सुन-सुन कर बड़े हुए थे कि जाति जन्म से नही पुण्य कर्म से निर्धारित होनी चाहिए, कि हमें मानवमात्र से प्रेम करना चाहिए, कि अच्छाइयों के ठेकेदार श्रीमंत ही नहीं होते, दीन-दुखी, ग़रीब भी हो सकते हैं।

यह भी समझातीं कि अच्छे-अच्छे वैष्णव मंदिरों में गांधी जी ने हरिजनों को प्रवेश कराया था...

और वही मां ऊंच-नीच का प्रपंच रच रही थीं। मेरे उस दोस्त का भजन कई बार सुन कर मां स्वयं उसकी तारीफ कर चुकी थीं।

मां की यह दोहरी नीति हमारी समझ से परे थी। जहां तक मैं समझता हूं अपनी मां से यह शिकायत हम सभी भाई-बहनों को रही है, मां कहती कुछ और, करती कुछ और हैं...

बहरहाल, उस दिन बक-झक करके मैं तो चला गया। दूसरे दिन सुबह उठ कर देखता हूं कि मेरे उस भजनिक दोस्त की पेशी मां के दरबार में हो चुकी है और वह पूरे स्नेह-सद्भाव से उससे पूछ रही हैं :

'कौन जाति के हो बेटा, गाना कहां सीखा, क्या करते हो...' शब्दों में स्नेह था लेकिन मानसिक धरातल पर जैसे कोई सख़्त जमीन पर फावड़ा चला रहा हो और उसका प्रहार सुनने वाले के दिमाग पर एक-एक करके खुदता जा रहा हो...

फिर भी उसका स्पष्ट स्वर मुझे भी सुनाई पड़ा :

'मेरा नाम रामदास है मांजी।मैं हरिजन हूं। एक बिजली घर में नौकरी करता हूं और एक भजन मण्डली का सदस्य भी हूं। गाना मैंने वहीं सीखा। आपके पुत्र ने भी उसी भजन मण्डली में नाम लिखवा लिया है। अपना-अपना काम समाप्त करके हम कीर्तन करते हैं। माता के जागरण में गाने जाते हैं। लोग हमें बुलाते हैं। यहां भी मैं केशव बाबू के आदेश पर ही आया। आप बड़ी भाग्यवान हैं मालकिन, इतने ऊंचे विचार वाले हैं केशव बाबू...

'आपके यहां भी तो कीर्तन है आज, केशव बाबू ने हम सबको बुलाया है...आपका आदमी गया तो मैं जल्दी आ गया वरना नहा-धोकर मुझे बाद में यहां आना ही था...' सहज व्यवस्थित उत्तर दे रहा था रामदास।

उसका कहना सही था। मैंने कीर्तन मण्डली को आमंत्रण दिया था।

उधर मेरे ही आदेश पर सुबह से ही मंदिर सजाया जा रहा था। फूलों और ताम्रपत्रों के बंदनवार टांगे गए थे... फूलों के झाबे, मिठाइयो की टोकरियां, धूप-बत्ती ...अखण्ड ज्योति की व्यवस्था भी थी...

मैं नहा-धोकर अपने आसन पर बैठा था। घर में पाठ-पूजा, हवन-कीर्तन जन्म से ही देखता आ रहा था लेकिन उस भजन मण्डली की सदस्यता अभी मैंने हाल में ही ली थी।

इस भजन मण्डली के सभी सदस्य वाल्मीकि बस्ती के थे। देखने में काले, आबनूस जैसे रंग और अनाड़ी-भदेस भाषा बोलने वाले।

उनके बीच बैठ कर मैं काले भेड़ियों में केसरी सिंह जैसा लग रहा था। उनकी पीली आखें, उससे भी पीले दांत, उस पर पहने हुए कोरे लट्ठे के बिना धुले कपड़े जिन पर थान की छाप नज़र आ रही थी, मैंने ही बनवाए थे बेचारों के लिए। बालों से उनके तेल टपक रहा था नींबू ठहर जाय ऐसी बल खाई हुई मूंछें...

तिलक लगा कर किसी मृतक को लेने आए यमदूत ही लग रहे थे, सबके सब। कम से कम मेरी मां को तो यही लगे होंगे।

यदि मैं उनके बीच न बैठा होता तो मेरी मां पूरे गर्जन-तर्जन के साथ उन्हें मंदिर ही नहीं, अहाते से बाहर निकाल बाहर करवातीं। यह भी संभव था उनकी आवाज पर मुग्ध होकर पूरे मनोवेग से उनके भजन सुनने लगतीं, उनकी प्रशंसा करतीं,

उन्हें खिला-पिला कर पूरे दान-दक्षिणा के साथ विदा करतीं।

लेकिन उनके बीच मुझे बैठा देख जैसे किसी भयानक स्वप्न से जाग पड़ी हों...

उनका अपना ज्येष्ठ पुत्र... उनकी सम्पत्ति, नाम और कर्म का अधिकारी, कहां भटक गया था... मां सोच भी नहीं सकती थीं। शायद उनके धैर्य का बांध टूट गया जैसे पानी रोकने के लिए बांधी गई पाली अयाचित आने वाले भूकम्प से ढह गई हो...

उसी दिन से मां ने मंदिर में क़दम रखना छोड़ दिया।

एक ही सत्य के कितने रूप हो सकते हैं ? कोई आदमी दोहरे मूल्यों में कैसे जी लेता है ?

मां की बड़ी उद्दात्त छवि थी मेरे मन में। बचपन में मां के दिए हुए कई भाषण याद आने लगे। मां के मर्म पर मेरी ओर से यह बहुत बड़ा आघात था। मैं उनका पुत्र उन्हें चुनौती दे रहा था, बगावत का आग़ाज़ मैं कर चुका था।

मेरी मां देवी नहीं, मानवी थीं। मानवीय दुर्बलताएं उनमें भी थीं, वह भी कहां तक छिपा सकती थीं। शेर की खाल ओढ़ कर सियार जंगल में कितने दिन सुरक्षित रह सकता है।...

अपना सुख मैं उसी भजन मण्डली में खोजने लगा था...

ऊंचे घरों के ऊंचे लोगों के स्वभावों का फेर-बदल देख कर मुझे सिद्धांतवादियों से घृणा होने लगी थी।

रामदास किसलिए मेरा मित्र बना... मैं अपने आप से तर्क करने लगा, क्यों ? इसको मुझसे क्या प्रयोजन हो सकता है ?

और मुझे लगा कि संगीत में मेरी अभिरुचि देख कर ही रामदास ने मुझे अपना मित्र बनाया है।

सचमुच, रामदास की आवाज में जादू था। संगीत का जैसे वरदान मिला हो उसे। शायद मैं भी उसी की तरह संगीतज्ञ बनना चाहता था। अभ्यास न सही, पर स्वर तो मेरे पास भी था।

और एक बार जब यह बात मन में आ गई तो मां के बदलते हुए सिद्धांतों का सम्मान मैं नहीं कर सकता था।

नतीजा यह निकला कि मैं खुले मन से रामदास के घर आने-जाने लगा। उसकी मां मुझे आदर और प्रेम से ओत-प्रोत कर देती। मैं निहाल हो जाता। शायद मैं इसी का भूखा था जिसका नितांत अभाव मेरे घर में था।

रामदास की मां विजन डुलाते हुए मुझे तैयार करके गरम भोजन कराती, आग्रह

से निवेदन करती...

जब रामदास का बाप मैले-कचरे की गाड़ी ढोकर वापस आ जाता तो वह भी मेरी आवभगत में लग जाता। ऐसा लगता जैसे मेरे रूप में भगवान ही पधारे हैं उनके घर।

इधर मेरी मां कहतीं :

'जैसा खाय अन्न, वैसा बने मन...'

पर मेरे लिए कहीं कोई फर्क नहीं था।

अपनी पत्नी से साड़ियां मांग-मांग कर मैं रामदास की मां और उसकी पत्नी के लिए ले जाता और वे मुझे हथेली के छाले की तरह रख कर मेरे अहं को संतुष्ट करतीं।

रामदास मेरे कीमती वस्त्रों में राजा-सा दिखाई पड़ता। और मैं उसके आंगन के कीचड़-मिट्टी में बैठ कर सफाई का मूल्य ही भूलने लगा था।

मेरी ही तरह थोड़े ही दिनों में मेरी मोटर भी फटीचर हो गई थी। रात-दिन, धोबी-जमादारों के बच्चे, उनकी बीवियां, सामान ढोते-ढोते मैं अपने घर की संस्कृति, भाषा, पहनावा, व्यवहार सभी कुछ भूलता जा रहा था।

मेरे अंदर शायद उन्हें किसी भले मजदूर के दर्शन हुए थे जिसके पास सब कुछ था। आवश्यकता पड़ने पर पैसे, वस्त्र, वाहन... तीन-चार और कभी-कभी पांच सितारा होटलों का भोजन भी।

मेरी पीने की आदत भी उन दिनों छूटने लगी थी।

मुझे तो यह भी भूलने लगा था कि मैं किसका पुत्र हूं। यह भी कि मैं किसी का पति या पिता भी हूं।

उन दिनों जगह-जगह से निमंत्रण आते और मैं रात-रात भर घर से ग़ायब रहता... उस भजन मण्डली के साथ रात्रि-जागरण में जाता, भजन गाता उनके साथ और सूर्योदय के साथ ही घर पहुंच पाता था वह भी पिछले दरवाजे से।

एक बार राखी पर घर नहीं आ पाया और बहनें इंतजार करती रहीं। सबसे बड़ा भाई मैं और मैं ही नदारद। कितनी देर इंतजार करके पंडित जा चुका था। उसे अपनी रक्षा बंधन का आरम्भ मेरी ही कलाई से तो करना था।

एक मैं था कि घर का छप्पन भोग छोड़ कर मैं सवेरे-सवेरे रामदास के घर पहुंच गया था।

रामदास और उसकी मां ने योजना बनाई थी कि इस बार रामदास की बीवी मुझे राखी बांध कर अपना धर्मभाई बनाएगी। और मैं अपनी हैसियत के अनुसार उसे दान-दक्षिणा-उपहार दूंगा। और जब कभी उसके ऊपर कोई मुसीबत आएगी मैं उसका रक्षा-कवच बन कर खड़ा हो जाऊंगा।

रामदास की पत्नी जीतन ने पहली बार मेरे सामने अपने मुंह से घूंघट हटाया।

मुझे झिझक तो जरूर हुई लेकिन फिर गर्दन अपने आप उठ गई। कानों के पास एक अपूर्व गर्मी मैंने महसूस की।

जीतन सुंदर कही जा सकती थी—छोटे क़द की, रंग गेहुंआ, मोटे-मोटे होंठ...और किसी शशोपंज से भरी बादामी आंखें...

मुझे लगा शायद वह झेंप रही है। शायद वह कुछ और सोच रही थी। एक-एक कर सभी अंगुलियों को झुलाते हुए उसने मेरी कलाई पर कलावा बांध दिया।

मैंने कुछ रुपये और डिब्बे में बंद तहाई हुई एक साड़ी उसे दी। उसने मेरे पैर छुए और उसकी सास ने मेरी बलैया लीं।

उसी दिन मैं उस मेहतर परिवार का एक मानिंद सदस्य बन गया। कुछ अजीब-सा मन हुआ था उस दिन। उससे पहले के कई रक्षा बंधनों के दृश्य मेरी आंखों में सुदर्शन चक्र की तरह घूम भी गए थे।

सुदर्शन चक्र इसलिए कह रहा हूं क्योंकि मेरी बहनों ने मेरी पत्नी को सच्चे मोतियों की बनी फुनगी वाली राखी बांधी होगी, मेरे पुत्र को बीच में बिठा कर बुआओं ने कई आकर्षक चीजें उसे दी होंगी। और पत्नी ने अपनी ननदों को बहुत कुछ मेरी ओर से भी दे दिया होगा।

एक बार को लगा मेरा माथा चकरा रहा है, मैं जड़ीभूत हो गया हूं। लेकिन फिर मेरे अंतर ने कहा :

'तुम किस चक्कर में पड़ गए हो, सोचना बंद करो। बिखरी स्थितियों को तुम संवार नहीं पाओगे... प्रश्न करने की सामर्थ्य भी तुममें कहां है... भागे रहो, इसी तरह...

'बूढ़ी रूढ़ियां और परम्पराएं तुम्हारे सामने दम तोड़ चुकी हैं। सामाजिक और पारिवारिक मूल्यों का आधार नई जिंदगी की चेतना से ढह गया है... सही-ग़लत के अंदाज का निर्णय काल पर छोड़ दो...

'संघर्ष से आहत होकर तुम्हारी चेतना ही मूर्च्छित होती रहेगी.... तुम भोले हो। तुम्हारे कुल और रिश्तेदारों की भीड़... पत्नी-पक्ष के लोगों ने भी तुम्हें क्या दिया ? अशांति और आलोचना के तुम पात्र बने रहे...

'इस परिवार को देखो, प्राण निकाल कर तुम्हारे क़दमों में रखने के लिए तैयार हैं हर सदस्य... और कुछ न सही, प्यार और सम्मान तो मिलेगा यहां से। अपना लो इसे, यह परिवार तुम्हारा हो सकता है... व्यर्थ के विद्रोहों से बचे रहोगे यहां...यही तुम्हारा वर्तमान है, इसे अपना बनाओ और जीना सीखो।'

आधे रास्ते जाकर बटोही जैसे चौंक कर वापस अपने घर की ओर मुड़ कर लौटने लगे ऐसे ही मैं अपने घर से वापस रामदास के घर लौट आया था।

वहां पहुंच कर भी कितनी देर अचेतन रहा मैं नहीं जानता। जब मेरी चेतना लौटी तो देखा एक कोई अन्य युवती सूप में चावल डाल कर फटक रही है।

उसकी गुदार कलाइयों में फंसी हरे रंग की चूड़ियों पर मेरी नजर पड़ी। मुझे लगा उसकी आयु बीस से ऊपर नहीं हो सकती।

उजला-मैला रंग। वर्षा के बाद आकाश जैसे साफ-स्वच्छ हो जाता है। शायद देर तक रोने के बाद काम में लग गई थी। सूजी हुई नीले कमल-सी उसकी आंखें अपनी कहानी बड़ी सफाई से दर्शक तक पहुंचाती नज़र आईं।

उसकी पूरी आकृति पर पीड़ा का अंतरंग उत्पीड़न लिखा हुआ था। मैंने भी दुख की उस अदेखी-असुनी आंच का ताप अनुभव किया। उसकी झुलसन मेरी आंखों में आकार पाने लगी।

मैंने अलगनी पर कमीज उतार कर टांग दी और प्रश्नों के फानूस लेकर रामदास की ओर उन्मुख हुआ।

'यह मेरी बहन झमकू है बाबू जी।' रामदास बोला।

झमकू ने सूप नीचे रखा। लटकती हुई आंखों से मुझे देखा और प्रणाम की मुद्रा में दोनों हाथ उठा दिए।

मैंने प्रति नमस्कार किया और आशीर्वाद दिया।

एक मुखरित जिज्ञासा मेरे सामने मंत्रबिद्ध खड़ी हो गई।

मैं रामदास की ओर मुखातिब हुआ :

'तुमने तो कहा था रामदास कि तुम अपने माता-पिता की इकलौती संतान हो ?'

'मैंने ठीक कहा था बाबू जी। पर यह मेरी बहन जैसी ही है... आपसे मिलने की इच्छा लेकर यहां आई है।' रामदास ने शब्दो को घुटकते हुए अपनी बात कही।

'पर मुझे कैसे जानती है यह...' मैंने अवाक् प्रश्न किया।

'गरीबो के सहायक-रक्षक हैं आप। आपकी कीर्ति कहां-कहां फैली है बाबूजी, यह आप क्या जानें। किसी से सुनी होगी आपकी दया-माया की कहानी। चली आई अपना दुखड़ा लेकर...'

मैं हतप्रभ कभी रामदास कभी उसकी बहन-सी को देखता रहा। घर में हर ओर से दुत्कारा जाने वाला मैं... कितना आदर था मेरा इस तबके में... कितना प्यार...यह सब मुझे घर पर कहां मिलता !

रामदास के कथन पर तत्काल कोई प्रतिक्रिया मैंने जाहिर नहीं की। शब्द और अभिव्यक्ति की कितनी कमी थी मुझमें।

सरस्वती को प्रसन्न करने के लिए मां ने एक मंत्र बचपन में सिखाया था। हम भाई-बहनों ने तोते की तरह रट-रट कर वह मंत्र कण्ठस्थ किया था। हर परीक्षा के दिन यह मंत्र दोहराते हुए हम स्कूल की तरफ जाते थे। कॉलेज जाने तक यह अभ्यास बन गया था।

यह बात दूसरी थी कि सरस्वती ने मेरी पुकार कभी नहीं सुनी। बेशक, मेरे

भाई-बहनों की कलम पर सवार उनके परचे स्वयं कर गई थीं वरना हर परीक्षा मे उन्हें प्रथम श्रेणियां कहां से मिलतीं।

काश, सरस्वती मेरी वाणी में प्रविष्ट हो जातीं और उस समय मैं कुछ कह पाता। लेकिन वह तो हमेशा की तरह रूठी रहीं। पहले मदद की होती तो मैं किसी काम का बन गया होता। पर मेरे तो न अपनी मा काम आई, न देवी सरस्वती मां। अब यह तीसरी, रामदास की मां ही मेरे लिए शेष प्यार का आखेट थी...

मैं सोचने लगा इस नीच कहलाने वाली जाति में कितने ऊंचे लोग रहते है।

मै अपनी कथा, या इस सम्पूर्ण 'रामायण' का अपना पक्ष आपको सुनाने बैठा हूं तो वात पूरी ही बताऊंगा।.. जो कुछ कहूगा सत्य ही कहूगा और सत्य के अलावा कुछ नहीं कहूंगा।

लेकिन एक बात का आप ध्यान रखे। मैं सत्यवादी हरिश्चन्द्र नही हू। झूठ भी वोलता हूं, लोगो को 'गोली' देने में भी माहिर हू। वैसे जो लोग यह कहते है कि झूठ वे कभी नही बोलते, आप क्या सोचते हैं वे सब सत्यवादी है ? अगर आप उन्हे सत्यवादी समझते हैं तो आप जानें। मैं अपनी नाक नही अड़ाऊंगा। लेकिन मैं ?

मैं झूठ बोलता हूं और जम कर बोलता हू। यह सोच कर कि यहां सच कोई नही बोलता, घर मे तो कोई भी हरिश्चन्द्र नहीं है, मैं सोचता हू झूठ जम कर बोलने मे नुकसान क्या है... जम कर झूठ वोलो और मज़े लूटो...

लेकिन ठहरिए, सच-झूठ का फलसफ़ा बाद मे।

वात मैं रामदास के बहन-सी की कर रहा था।

मेरी आखें उसका पीछा कर रही थी, इसलिए नही कि मैं उस पर आसक्त हो रहा था वल्कि इसलिए कि जो रामदास की बहन-सी है वह कैसी है और मुझसे क्या चाहती है ?

किसी को समझने की गहराई या अंतर्दृष्टि भी मुझमें नही है, लेकिन किसी के वारे मे सोच कर जो बात मैं कहता हूं, वह अक्सर सच निकलती है।

मुझे यह सोच कर ही झुरझुरी हो रही थी कि कोई मेरे सद्गुणों के कारण मेरी ओर आकृष्ट हुआ था।

मैं सोचने लगा, आखिर इस लड़की के सामने मैं सहज क्यों नहीं हो पा रहा हूं।

मैंने बहुत कोशिश करके अपने पर काबू रखा और मैं दावे से कह सकता हूं कि मेरे पेट मे मची खलबली का आभास रामदास या उसके परिवार को नहीं हुआ।

उस दिन कोई खास बात नहीं हुई लेकिन आने वाले कुछ ही दिनों में तस्वीर

साफ होने लगी।

रामदास के यहां मेरी आमदरफ्त बढ़ गई थी और वह जब भी मुझसे मिलती कोई न कोई फर्माइश जरूर करती। कभी कहीं जाने की, कभी कुछ खाने की; पहनने-ओढ़ने का ख्याल तो मैं खुद ही रखने लगा था।

जितना पैट्रोल मुझे घर से मिलता उससे कहीं ज्यादा खर्च होने लगा था। पैसा-रुपया ऊपर से। महीना पूरा होने से पहले ही मेरा जेब खर्च लेने-देने, खाने-उड़ाने में खलासा हो जाता।

बहुत सोच-समझ कर मैंने अपनी पत्नी का आश्रय लिया। आखिर उसके पैसे पर तो घर भर का अधिकार था। धनवान पिता की लाड़ली पुत्री है मेरी पत्नी, सबको देती रहती है... फिर मैं तो उसका पति था। उसका पैसा हमारा ही तो था...

शुरू-शुरू मे वह खुशी खुशी देती रही। शायद सोचती हो मैं इंसान बन कर पेश आऊंगा उसके साथ.... लेकिन जब मेरी मांग बढ़ने लगी तो उसने कसमसाना शुरू कर दिया।

आए दिन मेरी मागे बढ़ रही थीं और उसका तनाव दूना-चौगुना होता जा रहा था।

मुझे जब, जितना चाहिए अगर न मिला तो मैं भारी हंगामा खड़ा करने मे माहिर हो गया था।

मै जानता था बात छिपने वाली नहीं है और एक दिन मां के कानों तक बात पहुंच ही गई।

मेरी पेशी हुई मां के दरबार में और मेरी इतनी भर्त्सना की गई कि विद्रोह का ज्वालामुखी मेरे अंदर कण्ट्रोल से बाहर होने लगा।

दूसरों का लेहाज, थोड़ा-बहुत डर, मेरे अंदर शेष था जो उसी दिन समाप्त हो गया।

नंगई से तो शील-संकोच वाले डरते हैं न ? मेरी पत्नी ने मेरे लिए अपनी तिजोरी खोल कर अपनी सास को अपमानित होने से बचा लिया।

मेरी जेब की गरमी वापस आ गई।

उड़ाते-खाते, पता नहीं कितने दिन गुजर गए।

एक दिन अचानक लालजी नाना मुझे पकड़ कर बाहर वाले कमरे में ले गए और कहने लगे :

'बहू का पैसा जिस तरह तुम उड़ा रहे हो वह ठीक नहीं है केशव...'

मेरे तन-बदन में आग लगी जरूर लेकिन लालजी नाना का लेहाज शायद बाकी रह गया था इसलिए मैं फटा नहीं। बेहद सामान्य स्वर में मैंने निवेदन किया :

'दूसरे भी तो उसका पैसा लेते हैं नाना जी, उन्हें कोई क्यों नहीं कहता कुछ...मैं उसका पति हूं, उसके पैसों पर मेरा अधिकार है...'

'इसमें कोई संदेह नहीं !' उनका स्वर सामान्य ही था, 'लेकिन जो पैसा तुम ले रहे हो वह जा कहां रहा है, इसका पता तो चलना चाहिए... मेखला या विभूति ने जो पैसे अपनी भाभी से लिए हैं सभी जानते हैं वह क़र्ज है, अपना काम-धंधा चला कर वे वापस कर देंगे। और जितना तुम ले चुके हो उससे वे राशियां बहुत कम हैं केशव...'

'इतनी बातें आपको बता दी गई हैं...' मेरा मुंह कड़वाने लगा।

'देखो केशव, तुम्हारे परिवार की बेहतरी से बढ़ कर मेरी कोई और इच्छा नहीं। तुम्हारे कुल में स्त्री के पैसे पर रहना पाप माना जाता है। स्त्री का पैसा आदमी के मन को दुर्बल बना देता है। उसका शरीर क्षयग्रस्त हो जाता है।'

मुझे हंसी आ गई :

'आप चिंता न करें नाना जी, मैं तो हट्टा-कट्टा आपके सामने खड़ा हूं। आपकी बहू मुझे देने से इनकार नहीं करती, फिर आप क्यों परेशान हैं रुपये-पैसों के पीछे...'

लालजी नाना के शब्द विषाद से बोझिल हो गए :

'तुम अच्छी तरह जानते हो, तुम्हारी मां का दुख मुझसे देखा नहीं जाता... उसने बातचीत भी बन्द कर रखी है। फटी-फटी आंखों से शून्य में निहारती रहती है। शब्द उसके गले के बाहर नहीं आते... और बेटा केशव, इसके सबसे बड़े कारण तुम हो...'

मुझे इन बातों से इनकार नहीं था। लालजी नाना सत्यबयानी कर रहे थे। हल्की-सी अपराध की भावना मेरे अंदर आई भी, लेकिन मैं क्या कर सकता था।

मैं न तो कठपुतली संचालक था, न सबकी डोरियां मेरे अंकुश मे थी। लेकिन मौके को मैं हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। मन में एक चोर था, निकाल दिया...

'मां का दूसरा लायक बेटा विभूति है न नाना जी। देख रहा हूं आजकल सारा घर उसी के आगे-पीछे घूमने लगा है। मां के अनुशासन में रह कर वह मनस्वी हो रहा है। सारा कार्यभार संभालने लगा है...'

नाना जी के स्वर में हल्का रोष सुनाई पड़ा :

'इसका दायित्व भी तुम्हीं पर आता है। तुम ज्येष्ठ पुत्र हो। जब तुमने कुछ प्रमाण नहीं दिए तो तुम्हारी मां क्या करती ? सारा साम्राज्य तहस-नहस हो जाने देती ? पिता की सम्पत्ति किसी को तो संभालनी है न ?'

मैंने नाना जी को कोई उत्तर नहीं दिया। मैं जानता था मेरी मां मेरा प्रतिवाद करने का जोखिम नहीं उठाएंगी। एक-दो बार में उन्हें इतना कुछ मिल चुका था कि दुबारा उस ओर दृष्टि घुमाने का साहस भी वह नहीं करेंगी।

लेकिन मैं यह भी जानता था कि बच्चे मेरी मां को जवाब दें यह भी उनके

लिए असहनीय था। वह तर्क भी नहीं कर सकतीं थीं और न यह किसी भी तरह उन्हें समझाया जा सकता था कि वह जो सोच रही हैं सिर्फ वही सही नहीं है।

मेरे और उनके अंदर इतना बड़ा अंतराल आ गया था कि किसी भी तरह का संवाद अब संभव नहीं था।

मुझे मालूम था मैं अपनी मां की नजरों से उतरता जा रहा था और अब वह मंझले भाई विभूति की ओर उन्मुख हो चुकी थीं। जो मुझे करना चाहिए था वह सब मेरा भाई कर रहा था। हर तरफ लोग उसी को पूछते हुए घर मे प्रवेश करते उन दिनों।

और मैं, पूरी तरह पृष्ठभूमि में जा चुका था।

यही वह समय था जब मैं रामदासमय हो गया था।

आइए, एक मज़ेदार अनुभव सुनाऊं आपको।

प्रारम्भिक कुछ दिनों के बाद रामदास की बहन-सी कुण्डली मारे काले विषधर-सी मेरे कण्ठ में आ बैठी थी।

न मैं उसे उगल सकता था, न ही मुझे निगलने की युक्ति मालूम थी।

वह मेरी जंघाओं पर थापे मारती, मेरे कंधे पकड़ कर रोते-रोते लिपट जाती जब उसे लिपटना होता और कहती :

'बाबूजी, मेरे पति ने मुझे बहुत कष्ट दिए है...'

मैं उसे समझा-बुझा कर शांत करता। कुछ न कुछ लाकर उसे देता, घुमाने ले जाता....

एक दिन तो उसने कमाल ही कर दिया। आकर एकदम से लिपट गई और सिसक-सिसक कर कहने लगी :

'मेरा तो सर्वनाश हो गया बाबूजी, मेरे पेट में बच्चा है और मेरा पति कहता है यह बच्चा उसका नहीं है...'

'यह कैसे कह सकता है वह। तुम उसके साथ रहती हो।'

'साथ रहने से गर्भ नहीं ठहरता बाबूजी, उसे मालूम है। आप मुझे संभाल लीजिए, सहारा दीजिए मुझे बाबूजी। जन्मान्तर आपकी कर्जदार बनी रहूंगी।'

मैं भौचक रह गया। मेरी समझ में नहीं आया कि वह मुझसे क्या चाहती है। या इस स्थिति को कैसे निबटूं।

मैंने इधर-उधर ध्यान घुमाया। रामदास चुपचाप वहां से गायब हो गया था।

पास ही उसकी झुग्गी थी। वैसे काफी दिनों से मैं उसके यहां गया भी नहीं था, झमकू की झुग्गी से होकर ही वापस चला जाता था।

लेकिन उस दिन मुझे रामदास की जरूरत पड़ी। पर वह दूर-दूर तक मुझे नज़र

नहीं आया।

मुझे खामोश, पत्थरवत देख कर झमकू जार-जार रोने लगी, पास ही पड़े कपड़े धोने वाले डण्डे से अपना सिर कूटने लगी।

मैंने किसी तरह बीच-बचाव किया, उसे कुछ पैसे दिए, यह वायदा किया कि दूसरे दिन कोई दवा लाकर दे दूंगा या डाक्टर के पास ले जाऊंगा, जहां मामले को रफा-दफा कर दिया जाएगा।

इससे पहले भी वह रोई थी, मिट्टी की दीवारों पर सिर भी मारती थी, फिर आकर मुझसे लिपट जाती, मेरी हथेलियां चूमती। तरह-तरह के हाव-भाव से मुझे लुभाती, आलिंगन में बांध लेती... मेरी कमीज खींच कर उतार देती... मैं उठने की कोशिश करता तो प्यार से बिठा लेती। कभी नागिन की तरह फुफकारती :

'आज इस तरह नहीं जाने दूंगी बाबूजी...'

मैं कभी उसे झटक कर चला जाता, कभी मुझे अपने ऊपर क्रोध भी आता कि कहां आकर फंस गया हूं मैं... और कभी मैं उसके जाल में उलझ भी जाता।

अच्छे मूड में रहती तो छेड़ते हुए कहती :

'कैसे आदमी हो तुम बाबूजी, एकदम मिट्टी के माधव। अपनी मेम साहब को कैसे संभालते होगे...' फिर एक चिकोटी भरती :

'इसी बूते पर दोस्ती करने चले थे मुझसे।

'इतनी आसानी से पीछा नहीं छोड़ूंगी तुम्हारा... बीच मे छोड़ कर गए तो तोहमत लगा दूंगी... हंगामा मचाऊंगी। पुलिस क्या कर लेगी मेरा, उनसे तो हमारा याराना रहता है...'

मैं चुपचाप उसकी बात सुन लेता। उसे खुश रखने की कोशिश में लगा रहता। मौका देखकर उससे भागने भी लगा था।

उस दिन उसे पता नहीं क्या सूझी। जब मैं चलने के लिए तैयार हुआ तो उठ कर खड़ी हो गई :

'आज तो मैं तुम्हारे साथ चलूंगी बाबूजी, अभी, इसी समय, इसी गाड़ी में...'

'तुम मेरे साथ कैसे चल सकती हो, और कहां जाओगी ?' मैंने उसे समझाने की कोशिश की।

'मुझे छोड़ कर गए या यहां से ले जाकर कहीं बीच में उतारा तो यहीं, इसी वक्त जान दे दूंगी... तुम्हारा ही नाम लूंगी।'

मेरी सांसें उस दिन थम-सी गईं।

पाप-सी काली रात गहराती चली जा रही थी। हवा का कहीं नाम नहीं था जैसे प्रकृति भी सन्नाटे में आ गई हो।

किसी तरह मैंने अपने बेहोश होते मन को दिलासा दिया। हर तरफ से खुद

को संभाल कर मैंने उससे पूछा :

'आखिर तुम मुझसे चाहती क्या हो ? मैं तो बहन समझ कर तुम्हारे करीब आया। दोस्त समझ कर तुम्हारी मदद की लेकिन तुम तो लगातार पैंतरा बदलती चली गई हो।' मेरी आवाज में कुढ़न स्पष्ट थी।

वह निर्लज्ज होती चली गई :

'आजकल खून के रिश्तों में भी घालमेल होने लगा है बाबूजी। लगता है अपनी हथेलियों के अफसाने आप नहीं जानते। मुझ गरीब नाचीज से किस बहनापे की उम्मीद थी आपको...

'अब तो आपके सामने एक ही रास्ता है। मुझे इतनी दौलत दे दो कि मैं अपना जीवन सुख से बिताऊं और जिंदगी भर तुम्हारे नाम की माला जपती रहूं... इस बच्चे को जनम दूं, पालूं... तुम तो इसे कबूल करोगे नही...

'अगर इधर-उधर किया तो बाबूजी, तुम्हें किसी दीन का नही छोड़ूंगी...

'हां, एक रास्ता और है। तुम हमारी जाति मे मिल जाओ, मैला ढोकर मैं तुम्हारी रोटी का इतजाम कर दूंगी...

'तुम आदमी नहीं जाहिल हो बाबूजी, तुम्हारी मेमसाब बेचारी पता नहीं कैसे बरतती होगी तुम्हारे साथ।... मर्द हो न... पर मैं भी औरत हूं बाबू...'

उसकी कामांधता उस दिन असाधारण रूप से सुलग उठी थी। कभी नम्र हो रही थी, कभी बाघिन-सी फाड़ खाने को तैयार, कभी कुचेष्टा करती, ढिठाई से मेरा मुंह खरोंचती, मेरे बाल नोचती।

मैंने उसकी गुस्ताख़ियों की ओर ध्यान न देने का निश्चय किया :

'उस दिन तुमने बहन बनने का ढोंग क्यों किया झमकू ? तुम्हें भगवान का डर नहीं लगता ? कुकर्मों का वज़न आदमी को ले डूबता है...'

वह हंस पड़ी :

'तुम हो न डूबने के लिए। भगवान से तो हम माफी मांग लेते हैं। वह हमारी मजबूरी समझता है और बाबू कुकर्म हमेशा अमीर करते है। गरीब क्या करेगा, जिसे एक रोटी की तलाश में उम्र काट देनी पड़ती है।'

झमकू उस दिन चमारियों की माता चौमुण्डी बन गई थी। ऐसी रोबीली कि मैं ही सोचने लगा, इस औरत में आखिर मैंने क्या देखा ?

मैं डर भी गया था कि अगर कहीं चिल्ला-चिल्ला कर उसने अपनी जमात जोड़ ली तो मेरी खैर नहीं, और कहीं पुलिस आ गई तो सारी आबरू मिट्टी में मिल जाएगी... अंततः उसे साथ लेकर निकलने पर मुझे राजी होना पड़ा।

किसी तरह मनःस्थिति पर काबू पाकर मैंने कहा :

'चलो बैठो गाड़ी में और पहले ही तय कर लो कि कहां चलना है।' मैंने सोचा था थोड़ी देर इधर-उधर घुमा कर रामदास के घर इसे छोड़ आऊंगा।

अंदर ही अंदर मैं माथा पीट रहा था और ऊपर से उसकी खुशामद कर रहा था, किसी तरह मामले को पटाना था।

'देखो झमकू, तुम चिंता मत करो, जैसा चाहोगी तुम्हारा इंतजाम कर दूंगा...'

अब वह सच्चे मन से विहस पडी। उसने ठीक से साड़ी बाधी। मैं वहीं सिर झुकाए खडा रहा। पता नही कैसी-कैसी तोहमते मेरे ऊपर लग सकती थी और जिनसे मैं कम से कम थोड़े समय के लिए बाल-बाल बच गया था...

पहले मदिरो मे जाता था, कथावार्ता मे मन लगाता था। फिर मैं कीर्तन मण्डली से जुड कर इधर-उधर आने-जाने लगा। मेरी राते दिन पर दिन काली होती चली गई थी...

वह सगति मेरे घर वालो को रास नही आई।

धोबी-मेहतर, मजदूरो-कारकूनो के भगवान भी अलग होते हैं शायद। वहा भी मेरे भाग्य के हिस्से मे तोहमत ही आई।

उधर मेरी मा और पत्नी को अच्छी तरह समझा दिया गया था कि मैं बीच लड़कों के गले मे बाहे डाल कर घूमता हू। कि मेरी दिलचस्पी छोटे-छोटे लडको मे है, खोज-खोज कर उन्हे अपने साथ रखता हू उन्हे। कही लेकर जाता हू, उनसे पैर दबवाता हू, अपने साथ सुलाता हू और यह कह कर उन्हे भ्रम मे रखता हू कि 'मुझे नाटक मे' एक नौकर की भूमिका करनी है, अतः मैं अभ्यास करना चाहता हू कि नौकर का नाटक मैं सफलता से कर सकू। कि मेरी रुचि लडकियो मे नही लडको मे है..

मेरा कसूर यह था कि मैं अपने धोबी के छोटे-छोटे बच्चो को अपनी गाडी से स्कूल से घर ले आता और कभी-कभी घर से स्कूल छोड भी आता था। क्योकि मैं अपने अच्छे, बेहतरनी कपडे अपनी उम्र के, अपने नौकरो की सतानो को दे दिया करता था...

कही जा रहा हू अपनी गाडी लेकर... रास्ते मे किसी ने लिफ्ट मागी तो दे दी।

गरीब बच्चो को लेकर शहर से दूर घूमने निकल जाता था... प्रति मगलवार हनुमान जी के दर्शन करने मंदिर चला जाता, शहर के परकोटे की ऊची दीवारों को छोड़ किसी बगीचे मे पहुंच जाते..

कोई अमराई कही मिल जाती तो पेड़ से तोड कर आम खाते... फूल तोड़ने कोई नदी-नहर होती तो नहाते... पानी मे जल-क्रीड़ा करते... बहुत से लोगों को देखते, आपस मे कुछ-कुछ कहते-सुनते रहते। एक अजीब तरह का सुख मिलता...

एक सिहरन-सी होती। निरंतर सुख की अनुभूति से पुलकित होकर मैं घर लौट आता... मुंह लटका कर या सुजाकर ताकि मेरे सामने कोई मुंह न खोले।...

वे सारे सुख इस झमकू की बच्ची ने हड़प लिए थे। उसका हाथ पकड़ कर मैं उसे गाड़ी तक ले आया। कार का दरवाजा खोलकर मैंने उसे बैठाया, उसका दरवाजा बंद किया फिर घूम कर दूसरी ओर से अपनी सीट पर आकर बैठा :

'चलो, अभी रामदास के यहां चलते हैं, उसे भी साथ ले लें, फिर किसी अच्छी जगह चल कर बैठेंगे, कुछ खाए-पिएंगे।'

रामदास को साथ लेने पर वह राजी नहीं हुई। हार कर मुझे अकेले ही गाड़ी आगे बढ़ानी पड़ी।

रात तप रही थी। लू अभी बंद नहीं हुई थी। पेड़ के पत्ते जैसे झुलसने लगे थे।

अंधेरा मर्मर ध्वनि में जाने कौन-सा मर्सिया पढ़ रहा था...

इन लोगों की बस्ती से थोड़ी ही दूर एक बूढ़ा बरगद का पेड़ था। आसपास एक कच्चा चबूतरा शायद इन्हीं लोगों ने बनाया था, कभी-कभार बैठने के लिए, पंचायत बटोरने या हुक्का गुड़गुड़ाने के लिए।

उस दिन उधर से अचानक ढोलक की थाप और मजीरे की टुनटुन सुनाई पड़ी।

विलासिनी औरतें अल्हड़ता से अंगड़ाई लेती, कामकाज से मुक्त अपने-अपने चाहने वालों के साथ बैठी नयनों के बाण चला रही थीं... किसी के माथे का पल्ला सरका हुआ, किसी के वक्षस्थल आंचल मुक्त...

अचानक झमकू बोल पड़ी :

'अरे, मैं तो भूल ही गई... आज तो हमारा त्योहार है... खेतरपाल का रतजगा। मन्नत मान कर लोग यहीं आते हैं पूरी करने। इस बरगद की खोह में एक छोटी-सी मूर्ति है... वह मूर्ति मानव निर्मित नहीं है...

'हमारे पूर्वज इसी देवी को मानते थे... यहीं हमारे बच्चों के झडूले उतारे जाते हैं।' झमकू मगन हो अपने समाज की कहानी सुनाने लगी...

उसका गुस्सा ग़ायब हो गया था। लगता था वह सही मूड में आ गई है।

मैं चुप बैठा रहा, बोला नहीं कुछ। गाड़ी मैंने उसके कहने पर थोड़ी दूरी पर रोक ली थी। पेड़ के नीचे बैठी... बात करती उन औरतों में उदास कोई नहीं था। उद्दीप्त यौवनोन्माद की दीप्ति सबके चेहरों पर थी। शायद उन्होंने पी रखी थी।

'मेरे घर की स्त्रियों में और इनमें कितना अंतर था' मैं सोचने लगा, 'अच्छा पहन-ओढ़, खा-पीकर आराम से जिंदगी बिताने वाली कहां वे और कहां ये, मेहनतकश, गरीबी से संघर्ष करने वाली औरतें... फिर भी चिंतामुक्त, राग-रंग में आपादमस्तक डूबी हुई...

और वे... तरह-तरह की शंकाओं, अंदेशों की कंटीली बाहुओं में आबद्ध... बेबस...करुण... पुरुषों की कृपा पर जीने वाली...

झमकू उसी जंगल में उगे वृक्ष की एक डाल थी, जिसे अपनी हिफाजत अपने आप करनी पड़ती है...

मेरी टांग को अपनी टांग से वह दबाए बैठी थी।

मैंने जानना चाहा :

'अगर रामदास यही कहीं मिल जाय तो... क्या करोगी ?'

'जातीय समारोहों में वह नहीं जाता।' उसकी आवाज अलसाई हुई थी, 'उसने मैला ढोना छोड़ कर दफ्तर की चाकरी जब से शुरू की है, इस समाज से अपने आपको अलग समझने लगा है।

'भजन मण्डली के बाद तो वह और भी ऊंचाइयो पर चढ़ गया है। जहा-जहां भजन गाने के लिए बुलाया जाता है आप ही की तरह वाबू लोग उसे हाथोहाथ लिए रहते हैं। ऊंचे जजमानों में उसका उठना-बैठना हो गया है न, इसलिए...

'मैं तो अभी भी अपनी बिरादरी से जुड़ी हूं और जुडी रहूगी। गरीबों की बिरादरी है न... अब, ये लोग रात भर गाएंगे, नाचेंगे, ठर्रा पिएंगे और अगले दिन की चिंताओ से मुक्त हो जाएंगे। चलो न बाबू थोड़ी देर के लिए...' वह जिद करने लगी।

मैं अवाक्... लेकिन पल भर के लिए बुद्धि ने मेरा साथ दिया। उसका हाथ अपने हाथ में लेकर मैंने कहा :

'तुम जाओ झमकू... अपने जश्न में शरीक हो जाओ। मैं तुम्हें यहीं से देखता रहूंगा। फिर तुम जहां कहोगी हम चल पड़ेंगे... किसी से पहले कुछ कहे-सुने बिना मेरा वहां जाना ठीक नहीं होगा... और अभी मुझे तुम्हारे तौर-तरीके भी तो सीखने हैं...'

'सच बोल रहे हो बाबू ? तुम चलते तो मजा आ जाता।'

'चलूंगा न... पर आज नहीं। मै यहीं हूं, तुम जाओ। कुछ पियो, कुछ हंसो-बोलो...मैं सोचूंगा मेरी झमकू झूम रही है...'

मेरे स्वर में संसार भर का आग्रह था। मैं सोच रहा था कहीं वह बिदक न जाय... मैं झटपट गाड़ी से उतरा, दूसरी तरफ का दरवाजा खोला। मेरे ग्रह अच्छे थे। वह गाड़ी से नीचे उतरी और तूफान पीड़ित हवा की तरह चबूतरे की ओर निकल गई।

मैंने विराम की तरह एक लम्बी सांस ली। देह के स्वरूप को विस्मयाधिबोधक चिन्ह-सा बनाते हुए आकर गाड़ी में बैठा और घर की ओर जाने वाली सुनसान सड़क पर मुड़ गया।

गाड़ी के स्टार्ट होकर चलने में थोड़ी आवाज तो हुई। कई जोड़ी नजरें इधर घूमीं लेकिन उनमें सक्रिय होने का ताव नहीं था।

फिर भी दूर तक मुझे लगता रहा शायद कोई मेरा पीछा कर रहा हो। मैंने गाड़ी की रफ्तार बढ़ाई और क्रमशः उन्हें पीछे छोड़ते हुए आगे निकलता

गया...निकलता गया।

रात के डेढ़ बजे थे। घर का प्रमुख फाटक नौ वजे बंद हो जाया करता था। अतः बिना हॉर्न बजाए मुझे चौकीदार के जागने तक उसी तरह इंतजार करना था चुपचाप... सांस खींचे। गोया मैं चोर हूं और किसी घात में बैठा हूं कि मौका मिले और मैं सेंध मारूं।

क्या कर दिया था मैंने अपनी जिंदगी का।

उसी तरह गाड़ी में बैठा स्टियरिंग पर सिर टिकाए कितने युग बीत गए, मुझे नहीं मालूम...

उस रात मुझे भी नीद नहीं आई। लग रहा था जैसे शरीर की सारी शक्ति निचुड़ गई हो।

मैं मन ही मन डर रहा था। झमकू को वहीं ठहरने का वचन देकर मैं चोरों की तरह भाग आया था।

वह जाकर अपनी जमात में मिली या उल्टे पैरों उन्होंने उसे अपमानित करके वापस कर दिया। क्या यह देखने के लिए मुझे वहां रुकना चाहिए था ?

कितनी बार उसके हाथ का गरम-स्वादिष्ट भोजन करके मैं तृप्त हुआ था। जब भी गया उसने आगे बढ़ कर मेरा स्वागत किया, मेरे चरणों पर न्योछावर हुई...प्रेम से मोटी रोटी और छौंकी हुई गरम दाल खिलाई। इतना स्वाद मुझे अपनी हवेली के छप्पन भोग में कभी नहीं आया था...

कितने दिन तक यह सिलसिला चला। कितनी सेवाभाव से उसने मेरे हाथ-पैर दबाए, सिर सहलाया...

लेकिन खाने का सिलसिला अधिक दिन नहीं चल पाया। एक दिन मैंने देखा थाली में छोड़ी मेरी जूठी रोटी उठा कर उसने रोटियों वाली टोकरी में डाल दी। मेरा माथा भिन्ना उठा।

मैंने बहाने बना कर उसके यहां खाना बंद कर दिया। कभी पेट खराब होने का बहाना, कभी उपवास और कभी सिरदर्द का बहाना....

रामदास के यहां भी मैंने धीरे-धीरे खाना बंद कर दिया, क्योंकि मुझे लगा उसके यहां भी यही घालमेल होता होगा।

इसी से संबंधित कुछ बातें ज़ेहन में उभरने लगीं... दादी के जमाने की। इन स्मृतियों ने मेरी जुगुप्सा को धरातल पर लाने में मेरी बड़ी मदद की।

मैं उस परिवार में पैदा हुआ था जहां घर के लोग शूद्रों से बात करने के बाद भी नहाते थे। ताकि अपनी शुद्धि हो जाय। कई बातें तो मेरी आंखों के सामने तक घटित हुई हैं।

एक दिन दादी पूजा के आसन पर बैठी ही थीं कि धोबिन आ गई। दादी ने उसकी आवाज सुनी। कमरे में आए धूप के एक टुकड़े पर उसकी परछाईं गिरी। दादी ऐसे चौंकी जैसे उन्होंने कोई चुड़ैल देख ली हो।

वज्र कठोर स्वर मे उन्होने अपनी दासी को आवाज दी :

'कौन आया है री जुगली, कहा मर गई है तू... उससे कह दे इस घरी मेरे कमरे के सामने न आया करे...'

'वह तो आपके चरणो मे सिर झुका कर आशीर्वाद लेने आई है मां जी...' जुगली ने निवेदन किया, 'कल काशी अपने ससुराल जा रही है... गौना लेने उसका मर्द आ गया है।' दादी की सहारी आवाज सुनने के बाद भी जुगली नम्रता से पगी जा रही थी।

लेकिन मेरी दादी पैर के अगूठे से सिर तक बिजली के झटके मे आ गई थी। उन्होने आगे कुछ न कहते हुए भड़ाक से अपना दरवाजा बद कर लिया। सभवत. वह दुबारा नहाने स्नानघर की ओर चली गई होगी।

दादी के इस व्यवहार पर जुगली को मैंने केले के पत्ते की तरह कापते देखा था। कुछ-कुछ वैसा ही कम्पन उस समय मैं स्वय महसूस करने लगा था।

लेकिन मैं जानता हू शीघ्र ही में स्वस्थ और सहज हो लूगा। क्योकि युवा मालिक हू, नए जमाने का हू, इस तरह के ढकोसले मुझे हास्यास्पद लगते हैं. .

क्या हुआ अगर मैंने झमकू का बनाया खाना उसके साथ बैठ कर खा लिया। उसकी उन गरम मोटी रोटियो का स्वाद मुझे अपने व्यजनो मे कभी नही मिला था, न उतने स्नेह-सत्कार से खिलाने का आग्रह ही कभी अनुभव किया था। मिर्ची और सरसों के तेल मे बघारी चटपटी दाल, सब्जी, मोटे चावल और गुड़ की डली के साथ करारी लकडी के चूल्हे की, मिट्टी के तवे पर सिकी हुई रोटी उस खाने का स्वाद मैं शब्दों मे बयान नही कर सकता..

मुझे चटोरा समझा जाता है। मै स्वीकार करता हू, चटपटा खाना मेरी कमजोरी है।

गदी से गदी बस्तियो के ढाबो मे मैंने खाना खाया है। बता सकता हू कि कहा-कौन-सी चीज अच्छी बनती है। चाय पी है... उन्ही बिना माजे गए बर्तनो मे आमलेट बनवा कर खाया है... वहीं बैठकर लोगो के बीच सुनी-सीखी गालिया दी हैं जिनका उच्चारण हमारे समाज मे वर्जित है।

काल, स्थिति और उस समाज ने मुझे औघड बना दिया है।

मेरे घर के शौचालय तक मे जिनका प्रवेश निषिद्ध था मैंने उन्हें ही अपना बांधव बनाया... अपनी महलनुमा हवेली से उनके कच्चे घर मुझे फिरदौस की तरह सुहावने लगे थे।

आज, मेरी दादी और मेरे पिता भी दिवंगत हो चुके हैं और मैं दानों-रकावों

पर पांव जमाए खड़ा हूं और अपने आप से ही प्रश्न करता हूं :

जब उधर की कशिश इतनी ज्यादा थी तब मैंने अपना घर हमेशा के लिए छोड़ क्यों नहीं दिया ?

शायद इसलिए कि मेरी पत्नी थी, एक छोटा-सा बच्चा था, स्वयं मेरी मां थी...

लेकिन जिनकी मुझे परवाह नही उनकी चिंता क्यों ?

शायद इसलिए कि उन्हे लेकर एक अपराध भावना मेरे मन की गहराइयों में छिपी बैठी है।

यह सच है कि अनेक बार जब मैं अपनी कमियो के थपेड़े खा-खाकर आहत हो गया तो मैंने सोचा था घर छोड कर कही चला जाऊंगा, किसी ऐसी जगह जहां घर के लोग मेरी सूरत देखने को तरस जाय, जहां कोई हमसाया या पासवा न हो।

ऐसी धमकिया मैं मा और पत्नी को कई बार दे भी चुका था।

पर ऐश्वर्य की आदी जिदगी, आराम, सुविधा... छोड कर मैं कहा जाता, कैसे टिकता ? बस, हिम्मत ही जवाब दे गई।

जाऊ, न जाऊ की डोरी हाथ मे पकड मेरा मन जाने कितने दिन तो यूं ही झूलता रहा... आक्रोश से भरता रहा...

द्विविधा को थामे हुए अधिक दिन जीना सभव नही था।

घर छोड कर जाने मे एक खतरा और था। घर से मेरे अधिकार खत्म हो जाते। मा के जीवन भर तो ठीक था। उसके बाद अगर कभी वापस आता तो इस घर-परिवार मे मुझे पहचानने वाला भी नही था। और फिर पत्नी-सतान... उनका क्या होगा। मेरे भाई क्या उनका उचित ख्याल रखते ?

यदि मै साधु बन जाऊं ? मन सोचता। फिर खुद ही दहशत खाने लगता। एक साधु की त्यागमय कष्टकारक जिदगी जीने की क्षमता क्या मुझमे थी ?

कभी-कभी मन ललकारने लगता :

तेरा पुत्र धर्म क्या कहता है... पिता धर्म... पत्नी धर्म... समाज के प्रति तेरा कर्तव्य...सब कुछ छोड़ कर कौन-सा पुण्य कमा लेगा तू ?

लेकिन पाप-पुण्य जैसे शब्द मेरे कोश में कहां थे...फिर भी संस्कार तो थे...

मन कहता है :

'मनुष्य बन... कायरों की तरह मुंह छिपाकर भाग मत। घर-संसार चलाने के कुछ नियम होते हैं। पहले उनका पालन कर फिर अपनी आजादी की बात सोच...

'तूने सारे नियम-कानून-बंधन उछाल कर गड्डमड्ड कर दिया है। पहले उन्हें तरतीब दे... क्रमबद्ध करके देख कि गलती कहां हुई थी।

'अगर तुझे लगता है कि किसी ने तेरे साथ अन्याय किया है तो तू उसका मुकाबला कर... प्रतिकारियों का विरोध कर... लेकिन जो अपने हैं उन्हें तूने पराया क्यों मान लिया ?

'अपने पुत्र को अपना कहने में तुझे संकोच क्यों होता है ?

'शायद तू अपनी जिम्मेदारियों से डरता है इसलिए स्वच्छंदता की खोल ओढ़ लेना तूने बेहतर समझा...

'राग-द्वेष, प्रतिहिंसा, झूठ और स्वार्थ ने तुझे पूरी तरह आच्छादित कर लिया है। सच्चाई की ओर ये वृत्तियां तुझे नहीं झुकने देतीं। तू अंधा हो गया है...

'सारे संसार को अपने ही प्रतिबिम्ब में देख कर तू अपने दोनों ही लोक बिगाड़ रहा है...

'सबको अपना विरोधी समझ कर तू पैर बांध रहा है ?

'कल झमकू ने तुझे तमंचा दिखाया तो तू दुम दबा कर भाग आया वहां से, उसके सामने घिघियाया भी... कैसे शहद में लपेट-लपेट कर शब्द रख रहा था उसके सामने...

'कौन थी वह तेरी ? क्या बिसात है उसकी तेरे या तेरे परिवार के सामने ?

'अपने व्यवहारों पर विचार कर केशव... तेरी पत्नी बेहुला... क्या कसूर है उसका... कितनी अवमानना की है तूने उसकी ?

'अब भी कुछ नहीं बिगड़ा... समय है... जो हो चुका है भुला दिया जाएगा। कुल और मन में जो कलह मचा है, जो कोहराम हो रहा है उसे छोड़... अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए कुछ त्याग भी करना पड़ता है... तू बहुत कुछ खो चुका है इसलिए शायद तुझे यह त्याग कुछ ज्यादा करना पड़े, लेकिन कर दे...

'अगर तू अब भी नहीं संभला तो बचने वाला नहीं है... तेरा बेड़ा तो गर्क हो चुका है...'

मेरा माथा झनझना उठा। यह कौन मेरी भर्त्सना कर रहा था ? कौन मुझे अभिशाप दे रहा था... द्वंद्वों के बीच रगड़ कर मुझे पीस रहा था... चक्की के दो पाटों में पिसने के लिए मुझे दबा दिया है ?

शायद मेरी ही आत्मा मुझ पर लानत भेज रही थी...

लेकिन वह मेरी आत्मा ही सही, मुझे इस तरह कोसने का उसे क्या अधिकार था... क्यों वह मेरी मिट्टी पलीद कर रही थी। वह तो पहले ही से हुई पड़ी थी...

'कौन है तू...इस तरह क्यों मुझे जलील कर रही है ?' मैंने अपने आपसे ही प्रश्न किया। कमरे का अंधकार मुझे पूरी तरह निगल चुका था।

'कौन हूं मैं, तू अच्छी तरह जानता है मुझे...'

'बकवास बंद कर... मैं तेरा गुलाम नहीं....'

'गुलाम तो तू ऐसे निकृष्ट लोगों का बन चुका है कि तू चाहे भी तो तेरी पहुंच मुझ तक नहीं हो सकती। शुक्र कर कि मैं ही दयावान हो गई हूं तुझ पर...'

'क्यों भला ?'

'क्योंकि मेरी गोद में एक अबोध शिशु है जिसका बाप तू कहा जाता है... एक निर्दोष सुहागन है जो...'

'खामोश...' मुझे लगा, आगे मैं सुन नहीं पाऊंगा।

'यह भभकी जाकर झमकू को दिखाना। तू कितना गिर गया है रे, अपना ही सामना करने से डरता है ? कितना कायर हो गया है तू, डरपोक, नीच... तेरे लिए तो कोई भी गाली आज ओछी पड़ रही है।'

मैं सन्नाटे में अपनी ही आत्मा की आवाज सुन रहा था, और मुझे लथाड़ने में उसने कोई भी क़सर बाकी नहीं रखी :

'तू मूर्च्छाबद्ध है बेवकूफ... होश में आ जा। बच्चों की तरह व्यवहार करने की तेरी उम्र बीत चुकी है... तुझे यही शिकायत है न कि तेरी इच्छा-अनिच्छा का कोई ध्यान नहीं रखता... वे पूरी हुईं या नहीं इसकी परवाह नहीं किसी को...

'यह लकीर बहुत पुरानी हो चुकी है, यह पीट कर तुझे कुछ भी हासिल नहीं होगा। एक बार उठ कर खड़ा हो, पहल करना सीख। यह सोच कि इस बार शुरुआत तुझे करनी है। अरे मूढ़, अगर तू अब भी नहीं चेता तो फिर तुझे दूसरा अवसर मिलने वाला नहीं है...

'अपने विवेक को चेतन कर मूर्ख, अपने संस्कारों को खुरच... उन पर जमी काइयां हटा, उनका निर्मल रूप सामने आने दे। अपने कुल-खानदान पर गर्व करना सीख... अपनी मर्यादाओं की भाषा पर ध्यान दे...'

बड़ी देर तक हथौड़े मेरे सिर पर पड़ते रहे। कितना समय बीत गया मुझे ध्यान नहीं रहा। अंत में अपनी ही आवाज बड़ी कमजोर-सी लगी।

'इसके लिए मुझे क्या करना होगा ?'

'सबसे पहले जाकर अपनी पत्नी से क्षमा मांग... उसके बंधनों को स्वीकार कर उसी में रहना सीख... अपनी मां को जाकर प्रणाम कर। अपनी जिंदगी का एक नया अध्याय आरम्भ कर। अपने पुत्र को पिता का स्नेह दे...'

मेरे अंदर आक्रोश की एक विचित्र लहर दौड़ी और मैं गिरते-गिरते जैसे तन कर खड़ा हो गया :

'मुझे सीख देने की जरूरत नहीं है... किसी की क़ैद में रहना मुझे स्वीकार नहीं चाहे उसके बदले मुझे विश्व का साम्राज्य ही क्यों न मिल रहा हो। मैं जैसा हूं उसी तरह रहूंगा... तुम्हारी सीख मानने के लिए अभी पूरी जिंदगी पड़ी है... मौज-मजे के दिन तो गिने हुए हैं। अभी जीना भी है मुझे बहुत दिन... मुझे न किसी बात की

उतावली है, न जल्दी... समझ गईं..'

मैं अपने ही बिस्तर पर उठ कर बैठ गया। स्वर ऊंच से नीच तक आ चुका था लेकिन आक्रोश का औचित्य साबित करने के लिए ही सही कमरे में टंगा हुआ आदमकद दर्पण धरती पर दे मारा...।

शीशा कई टुकड़ों में विभाजित हो कालीन पर बिखर गया। धरती पर पड़ी प्रत्येक किर्च में अपना चेहरा एक विकृत हंसी हंसता हुआ मुझे दिखाई पड़ा...

कमरे के बंद दरवाजों की तरह ही मैंने अपनी आंखें बंद कर दीं और दूसरी सांस के आने तक मैं सो चुका था।

मेखला

मेरी मां ने एक रंगमंच का निर्माण किया है। वह अपने ही नाटक का मंचन करना चाहती थीं लेकिन अनेक मानसिक-शारीरिक विघ्न-बाधाओं ने उनकी यह इच्छा पूरी नहीं होने दी।

चिंतन-मनन का एक लम्बा दौर चला, फिर उन्होंने यह विचार प्रकट किया :

'क्यों न अपनी-अपनी कहानी अपने ही मुंह से कह दी जाय ?'

बात बेतुकी नहीं लगी, किसी ने आपत्ति भी नहीं की, अपनी बात कहने के लिए बाहर वाले की जरूरत भी क्या है ?

हर व्यक्ति, हर घर, हर परिवार क्या अपने आपमें एक सम्पूर्ण उपन्यास नहीं होता ?

विश्व के विस्तृत रंगमंच पर अपनी-अपनी भूमिकाएं निभा कर सभी लोग विलीन हो जाते हैं। कोई तो होनहार नहीं होता इसके अलावा, न कोई विकल्प होता है...

लेखन या भाषण.. इन दोनों ही कलाओं का आदि-अंत जाने बगैर मैं अपनी बात शुरू करती हूं क्योंकि मैं... मेखला... अपनी बात कहने के लिए बाध्य कर दी गई हूं।

बहरहाल, अपनी भूमिका निभाते हुए अपनी बात कह रही हूं और सच-झूठ का फैसला मैं पूरी तरह आप पर ही छोड़ती हूं... मेरी इस कहानी में थोड़ी भी रुचि आपकी जाग सकी तो मैं अपना श्रम सफल मानूंगी।

मैं अपने अर्द्धविक्षिप्त भाई की पीठ पर आई, उसकी छोटी बहन हूं। विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र की अंतिम डिग्री मैं लेकर वहीं पर कुछ समय अध्यापन भी करती रही हूं।

घर बैठना मुझे अच्छा नहीं लगता। स्वभाव से उग्र हूं और स्वतंत्र होने के कारण दाल की तरह उबलती रहती हूं।

उचित तर्क के बिना मैं किसी बात को सटीक नहीं मानती।

तर्क करती हूं इसलिए मेरा अहम् भी जाग्रत रहता है।

छोटे कद की दुबली-पतली सांवली-सी लड़की हूं...लोग कहते हैं : 'इसके चेहरे पर नमक है।'

लेकिन मेरे पिता ने मेरा नाम मिर्ची रखा था, लाल मिर्ची क्योंकि मुझे गुस्सा बहुत आता था...

अन्याय मुझे सह्य नहीं था, न करना या दूसरों को करने देना। अपने नजरिए पर मैं बात कर सकती थी, तर्क कर सकती थी और जरूरत पड़े तो लड़ भी सकती थी, दूसरों से...

मेरे पिता ने मुझे 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' का खिताव दे रखा था...

मैं निर्भीक थी—निडर...

वाद-विवाद से मैं अपना मुद्दा खरा साबित कर लेती थी—न उसमें कुतर्कता, न बड़ों का अपमान...

पहले मेरा ख्याल था मेरे पिता बच्चों के आपसी विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क, आपसी बहस पसंद नहीं करते। मां, पिता से भिन्न ऊंची शिक्षा प्राप्त थीं, उदार विचारों की हिमायती... मुझे विश्वास था वह कभी यह नहीं चाहेंगी कि हम उनसे खुली वातचीत कर अपने विचारों से उन्हें अवगत न कराएं...

पर मेरे संदर्भ में हुआ इसका उल्टा...

मेरी मां यही नहीं समझ पाईं कि प्रत्येक बच्चे में विकास की साधारण-असाधारण क्षमता होती है और यह क्षमता किसी न किसी रूप में अपना काम करती रहती है। माहौल अच्छा रहा तो विकास के परिणाम अच्छे होते हैं, संकुचित रहा तो विकास भी संकुचित रह जाता है...

और जब यही मूल बात उनकी समझ में नहीं आई तो मुझे या मेरे अन्य भाई-बहनों को भी क्या समझ पातीं।

लेकिन इससे कुदरत की प्रक्रिया तो नहीं बदल जाती, कि प्रत्येक बच्चे में अपना व्यक्तित्व और उसे उगने देने की ताक़त भी होती है। पौधे की तरह मनुष्य के अंदर का मनुष्य भी उगता, पनपता और अंदर ही अंदर एक पूरे आदमी की शक्ल का दूसरा आदमी तैयार हो जाता है।

मैंने भी अपने अंदर के उस प्राणी को बढ़ने-पनपने दिया और इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे अंदर का वह प्राणी जैसे-जैसे बढ़ता गया मैं अपनी मां से दूर...बहुत दूर होती गई।

मेरी उम्र मुश्किल से बारह-पंद्रह पहुंची होगी तभी से मेरी मां मुझ से बेबात ही नाराज रहने लगी थीं कम से कम मुझे यही लगने लगा। छोटी-छोटी बातों से इसकी पुष्टि भी होती रही थी, मसलन, एक बात मैंने कभी सहज भाव से यूं ही कह दी, किसी बात पर क्रोध आया या किसी वजह से मूड खराब हो गया या मन के खिलाफ कोई बात हो गई... कभी किसी वजह से अपमानित महसूस किया या ऐसी ही कोई वजह रही...

मां बड़बड़ा रही थीं, किसी वजह से उस दिन। उनका गुस्सा भी छतनार को

छूने लगा था। मेरे मुंह से निकल गया :

'मैं मंझली नहीं हूं कि आपकी ऊल-जलूल बातें अकारण ही सहती चली जाऊं...'

मैं मानती हूं सोच-समझ कर मैंने कुछ नहीं कहा था। इस तरह की बातें तत्काल ही निकल जाती हैं मुंह से, उस दिन भी निकल गई थीं।

लेकिन मां तो बम के गोले की तरह फट पड़ी थीं उस दिन... क्या कुछ कहा उन्होंने अपनी ही बेटी को वह अकल्पनीय था, गालियों की ऐसी बरसात... मैं सुन कर दंग रह गई थी। आज भी वह दिन याद आता है, तो मेरी कनपटियां गरम होने लगती हैं...

उसी दिन का आक्रोश एक मांत्रिक रेखा बन कर हम दोनों के बीच उभर आया। और यूं मेरा-उनका विभाजन हो गया।

उस दिन के बाद आमने-सामने मेरी-उनकी बात कभी नहीं हुई, आज भी नहीं है।

मेरी कही गई उस एक बात को किस हद तक तोड़ा-मरोड़ा गया यह बताना मेरे लिए मुश्किल है...

उस दिन की कही गई मेरी अदना-सी एक बात पर मां ने मेरे प्रति लोकाचार भी खत्म कर दिया।

वैसे मां का तकियाकलाम था–'लोग क्या कहेंगे...' उनके आचार-व्यवहार में सामाजिक बाध्यता हमेशा से प्रमुख रही। लेकिन उस दिन के बाद पूरी तरह मेरी अवहेलना होने लगी थी।

मां की अवहेलना का जो सीधा असर मुझ पर पड़ा, उससे मैं पिता के नजदीक आ गई, लोग मुझे पिता की मुंहलगी मानने लगे थे।

पिता मेरी बातों में दिलचस्पी लेते... मेरे गिले-शिकवे सुनते और प्यार-स्नेह, बड़ेपन की हथेली मेरे सिर पर रखते जिसमें वात्सल्य की ऊष्मा होती।

मेरी कही हुई सारी बातें मान ली जातीं, समस्याओं का निदान कर दिया जाता और मैं पिता की चहेती बन कर नुकसान में नहीं रही।

मां भुन्नातीं :

'इतना प्यार देते जा रहे हैं आप, लड़की हाथ से निकल जाएगी।'

पिता मुस्कुरा कर मेरी ओर देखते फिर मां से मुखातिब हो जाते :

'ये नन्हीं-नन्हीं कलियां है... चुड़कलियां हैं... कल बड़ी होकर उड़ जाएंगी और इन्हें देखना भी दुश्वार हो जाएगा... इनकी किसी इच्छा का दमन नहीं होना चाहिए, आगे की जिंदगी पता नहीं कैसी पड़े... पिता के घर तो पूर्णता का एहसास जान लें...इन्हें विश्वास और प्यार से समझाओ वरना ये हत्रूपा हो जाएंगी।'

मां उस समय तो चुप हो जातीं लेकिन पिता के इस कथन का कोई प्रभाव

उन पर पड़ता नहीं दिखाई देता। जैसे पिता द्वारा कहे गए शब्दों का मूल्य उनके कथन तक ही हो, आगे उसकी कोई अहमियत ही न बचे।

मेरी मां के विचार सुविधानुसार बदलते रहने वाले थे, आज भी यह स्पष्ट है। यह पिता भी जानते थे इसलिए मेरे माता-पिता के बीच एक खाई का अस्तित्व-बोध मुझे बहुत पहले हो गया था—सारा बचपन, किशोरावस्था हम इसी खाई में उतरते, खड़े होते रहे। सही पिता हैं या माता यही द्वंद्व प्रमुख था हम भाई-बहनों में। हमें नहीं मालूम था कि हम किसकी अवहेलना करे या किसके प्रति प्यार जताएं ? शायद इसीलिए हमारे अंदर आज तक कोई आदर्श विकसित नहीं हो पाया... हम सृष्टि के सत्यों को पहचान नहीं पाए।

मां मुझसे दूर होती गईं और मैं घर से। मेरा अधिक से अधिक समय कॉलेज में बीतने लगा। लगता हम दो समान्तर रेखाएं बन गई हैं। दो किनारों के बीच बहने वाली नदी की तरह मेरी गति अबाध होती गई...

यौवन का आकाश निखरने लगा था। मुझे नही मालूम था इस तरह की स्थितियो में क्या करना चाहिए। मुझे नहीं मालूम था इस तरह मुझे कितनी दूर बहना है, कहां रुकना है... मेरे सामने चारों दिशाएं साफ थी। मै दौड़ लगा सकती थी लेकिन यह मालूम नहीं था कि किस दिशा में दौड़ना मेरे लिए हितकर होगा। कोई बताने वाला भी नहीं था।

मेरे सामने असमंजस यह था कि मैं किससे बात करूं, किसकी उपेक्षा करूं...कहां जाऊं...किससे पूछूं... मन में सवालों के पहाड़ खड़े होने लगे थे।

अम्मा बहुत बूढ़ी हो चली थी, बीमार भी रहने लगी थी। कॉलेज से घर पहुंचती तो मन भरा-भरा-सा रहता। किसी की ओर उत्सुक आंखों से देखूं इससे पहले ही लोग मुंह फेर लेते थे। एक अनंत खामोशी मुझे अपने में समेटने लगती। खाने-पीने की औपचारिकता निभा कर मन मसोसे सो ही जाना पड़ता। लेकिन नींद क्या इतनी शरीफ होती है कि मन की इतना विवशता में आंखों पर उतर आए... नतीजा होता देर-देर तक बिस्तर में पड़े-पड़े जो भी मन में आ जाए गुनते रहना।

पढ़ने में तेज थी। भगवान ने जो दिमाग दिया था उसे इस्तेमाल करने की क्षमता भी थी। छात्र-छात्राएं मेरे आसपास चक्कर काटते, नए-नए तीव्र बुद्धि विद्यार्थियों से मुलाकातें भी होतीं, लेकिन अपना मन किसके सामने खोलूं, ऐसा तो नहीं था कोई, अगर था भी तो कौन... यह कौन बताए।

उनकी अच्छाइयां-बुराइयां मन पर असर तो छोड़ रही थीं।

उम्र का तकाजा यह नहीं होता क्या कि रंगीन सपने अपने अस्तित्व की खुमारी ले आंखों पर उतरें ? हर मनोरंजक कहानी का एक मनभावन अंत हो... प्रेम और प्रशंसा के छींटे हम अपने ऊपर भी महसूस करें ?

कोई आकर्षक चेहरा रात के अंधेरे में आकर नींद की पलकों से टकरा जाता

तो सारी रात काजल बन कर आखो मे अज जाती। किसी से बात करते-करते अचानक हथेलियो में पसीना चुहचुहाने लगता, किसी की ओर देखते-देखते न जाने क्यो नजरें नीची हो जाती। दोनो कनपटिया गरम होने लगती। होठ थरथराने लगते। एक ऐसा ताप चेहरे पर महसूस होता कि आईना देखती तो मुझे ठीक-ठीक पता चल जाता कि केसर की क्यारिया जब फूलती होगी तो यही ताप उन्हे भी महसूस होता होगा।

मैं दार्शनिक थी। मैंने दर्शनशास्त्र की शिक्षा पाई थी। लेकिन दर्शन की परिपक्वता एक दिन मे तो नही आती। मैं जिस उम्र से गुजर रही थी, उस समय का दर्शन शायद मासलता का ही अनुवाद करता है। प्रेम के रोजनामचे लिखे जाते है, प्रेम के पथ चलाए जाते हैं, प्रेम शब्द मात्र से सारा शरीर उसी तरह लहराने लगता है जैमे ज्वार के समय समस्त सागर।

उसी दौर मे मेरी मुलाकात एक विदेशी युवक से हुई, परिचय बढा और वही प्रेम, प्रणय निवेदन। मेरे प्रति आकर्षण ने कब उसके हृदय मे प्रेम का रूप धारण कर लिया, मुझे पता ही नही चला। शुरू-शुरू मे तो मै लाज से भर-भर गई, डर भी लगा, झिझक थी जो किमी एक भाव तक पहुचने ही नही देती थी. बाद मे कुछ कलिया मेरे अदर भी चटखी, झिझक की खोल कुछ तग पडी.. मन थोडा बेचैन हुआ, फिर हम खुले मन से बात करने लगे।

मेरे-उसके बीच सकोच के दायरे जब समाप्त हो गए तो मुझे थोड़ा-थोडा ज्ञान कि बावजूद इमके कि वह मुझे अच्छा लगता था, उसके साथ बात कर एक आनन्द की अनुभूति होती थी, उसकी बातो से कभी कोई मूर्छा मुझ पर नहीं आई कि मैं अपना आपा खो दू, या मेरा विवेक भ्रमित हो जाय। हमारी मुलाकातो का असर देह तक पहुचे इससे पहले ही मै कछुए की तरह अपने अदर ही सिमट जाती, और उसने भी मेरी खीची हुई सीमा रेखा पार करने की कोशिश कभी नही की।

दर्शन और प्रेम के नए-नए आयाम हमारी चर्चा का विषय होते। अपनी सस्कृति-परम्पराओ के गुन गाती मै रोज ही उसे एक अच्छा-खासा भाषण दे डालती, कभी उसकी 'उदार' सभ्यता की खिचाई भी कर देती। वह मद-मंद मुस्कुराता, मेरी बाते ध्यान से सुनता... मेरी बात काट कर उसने कभी कोई अपनी बात नहीं कही...

छुट्टियो मे घर जाता तो लम्बे-लम्बे खत लिखता। उन खतो मे दुनिया भर की चर्चाए होती, दर्शन पर विचार होते.. और उन्ही बातो के बीच बेहद नरम, मधुर-सा प्रणय-निवेदन... विवाह का आग्रहपूर्ण निमंत्रण। मैं यह तो नही कहूंगी कि उसका प्रणय-निवेदन या विवाह का आमंत्रण मुझे बुरा लगता, लेकिन उतना अच्छा भी नहीं लगता कि मैं अपनी सुध-बुध भूल जाऊं। उसके खत बहुत अच्छे लगते। एक खत कई-कई बार पढ़ती... उत्तर देने के बाद भी। मेरी जिंदगी मे शायद वही पहला व्यक्ति था जिसके साथ मेरा एक तरह का संवाद स्थापित हुआ था इसलिए वह मुझे सबसे

अधिक प्रिय था।

मेरी उसकी मित्रता किसी से छिपी नहीं थी। मैंने स्वयं अपनी बहनों और मां से इस बात का जिक्र किया था।

मां ने सब कुछ सुन कर भी कोई जिज्ञासा जाहिर नहीं की। बेशक, बहनो ने बड़े चाव से सब कुछ सुना... मुझसे तरह-तरह के सवाल कर डाले...

उसके पत्र का एक-एक अक्षर ऐसे सुनतीं जैसे श्रद्धालु औरतें सत्यनारायण की कथा सुनती हैं या जितने मन से बहुएं अपनी सासों की निंदा करती हैं...

अपने अतीत का वह पृष्ठ जब खोलती हूं तो मुझे लगता है मैं उसके व्यक्तित्व से प्रभावित बहुत हुई...उसके प्रेम के आगे मेरा मन निर्बल भी पड़ा लेकिन मेरे मानस ने पूरी तरह उसे अपने अंदर उतरने नहीं दिया।

वह ऐश्वर्यशाली था। दर्शन का विद्यार्थी ही नहीं, विषय का ज्ञान भी उसे अच्छा था। विद्वान था और सब से बड़ी बात यह कि भारतीय दर्शन, ज्ञान, चरित्र से वह महाप्रभावित था। भारतीय नारी के त्याग की कहानियां उसे मत्रमुग्ध कर देती। उसकी तपस्या, गरिमा, स्वामिभान पर वह जान छिडकता था और इन सबका प्रतिरूप उसने मेरे अंदर देख लिया था और मैं किसी तरह उसे इस विचार से डिगा पाने में असमर्थ साबित हुई थी।

'तुम भारतीय स्त्री की सही प्रतिनिधि हो।' वह मुझसे कहा करता था।

अपनी साधारणता से मैं अनभिज्ञ नही थी। अपने बारे मे कोई मोगालता भी मुझे नहीं था। लेकिन रूप में जब मैं उसे पद्मावती और ज्ञान मे मैत्रेयी लग रही थी तो मैं क्या करती।

अपलक मुझे निहारते हुए वह कहता :

'तुम्हे पाने के लिए मैं हर सभव त्याग करने को तैयार हू।'

'मै एक बेहद मामूली लड़की हूं,' मैं उसका प्रतिवाद करती।

'कुछ कहने से पहले अपने आपको मेरी नजर से देखो।' वह मेरी बात विचार के काबिल भी न समझता। उसकी आवाज सदेह संकल्प बन गई होती और मैं एक गम्भीर मुस्कान खींच कर उसकी नीली आंखों में उस अजानी लिपि को पढ़ने की चेष्टा करती, मेरे लिए जिसका उस समय तक कोई उन्वान नहीं था।

कॉलेज के अहाते में ही हमारी बैठकें होतीं, उस विशाल-गहरे पेड़ के नीचे जिसने विद्यार्थियों की जाने कितनी फसलें देखी थीं। कभी चहलक़दमी करते हुए निकल जाते तो जाने कितनी घुमावदार पगडण्डियां पार करते, उम्र की बदहवासी तक पहुंच जाते... उसकी उपस्थिति मेरे जिस्मोंजहां पर भारी पड़ने लगती... पैर मनों भारी हो जाते कि अंगद के पांव बने टिके रहें... कितनी मुश्किल पड़ती मुझे उन मायावी क्षणों से ठोस धरती तक पहुंचने में।

फिर भी आशा और उल्लास का एक नया, अभोगा सिलसिला बंधता चला

जाता... प्रतिदिन का नया-नितांत अनुभव मेरे लिए प्रतीक्षा का कारण बनता गया...

किसी विदेशी युवक के साथ नित्य नए चौराहों पर मिलना... औपचारिक बातों का नाटक करना... खड़े रहने के लिए किसी भी विषय पर सिर टिकाना कि बातचीत कुछ लम्बी खिंचे, कुछ समय साथ टिका रहे... खड़े होकर गम्भीरता से अलग होते हुए रास्तों को देखना... चढ़ते हुए रोग की तरह नया उत्साह लेकर घर लौटना... यह सब मुझे बेहतर लगते, बजाय इसके कि वह मेरे घर आए, घर वालों की नजरों का शिकार बने और एकांत मेरे कमरे में मैं अपना आपा खोने लगूं।

ऐब उसमें नहीं, मुझमें था। झिझक उसकी नहीं मेरी थी। वह तो बेझिझक किसी से कुछ भी कहने को तैयार था। मेरे पिता का सामना भी बेझिझक कर लेता। लेकिन मैं... घर आने के उसके प्रस्ताव पर ही मेरे होश उड़ने लगते। मां-भाई-बहन... उनकी स्मृति मात्र से मेरा साहस चिंदियों में बिखर जाता... घर के माहौल की स्मृति मात्र से भाई-बहनों में सबसे मुखर... मेरे हौसले के परखचे उड़ जाते।

अपने यहां धर्मोपचारियों को कहते सुना था–शब्द में ब्रह्म की शक्ति होती है। उसके शब्दों में वैसा ही कुछ दिखाई पड़ने लगा था मुझे... उसकी वेदना भरी आंखों में प्रणय-याचना का तैरता रूप जब मैं देखती तो अपने कक्ष के अंधेरे में एक खास तरह की विवशता टप्-टप् आंखों की राह टपकने लगतीं... समझ नही आता क्या करूं।

शाम के धुंधलके में पड़ोस के खण्डहरों पर चांद चढता... खिड़की की राह फूलों से लदे हुए वृक्षों की झुकी हुई डालियों के सेहरे से झांकता, उस समय मेरा मौन हुआ मन मुखर होकर उससे बात करने के लिए मचल उठता। मैं सोचने लगती, उस पर निग्रह करूं या अनुग्रह... बडी देर तक मन द्विविधा के थपेड़े खाता किसी अन्य दिशा में भटक जाता...

मै सोचने लगती, प्रेम क्या है ?

'प्रेम, मानवमन की परतों पर लिखे जाने वाले लम्बे सफर का इकरारनामा है।' जवाब मिलता।

'क्या इस दौर में हर लड़की को एक पुरुष की जरूरत पड़ती है,' दूसरे सवाल आकर खड़े हो जाते, 'जिस पर वह भावनात्मक रूप से निर्भर करे... उसे प्यार और सुरक्षा जरूर चाहिए... एक सशक्त कंधा चाहिए, खास कर उस समय जब वह अपने पर से भी अपना अधिकार खो चुकी हो ?'

सवाल इस तरह उलझ जाते कि जवाबों का सिरा जाने कब हाथ से छूट जाता। मन करता इस जीवन को इन सवालों से बचा कर कहीं गर्क कर दूं।

उम्र के इसी मोहाने पर लड़कियां शायद आत्महत्याओं की बात सोचती हैं...इस दलदल से उबरने के लिए ही शायद लड़कियों को एक सहारा चाहिए जो

उनके अंदर धधकती अनिर्णायक स्थितियों पर काबू पा सके, उनके अंदर की ज्वाला शांत कर सके, उनका चिंतन संतुलित रखे... घर और समाज के प्रति उनके दायित्वों को भूलने न दे ?

अपने आसपास फैले हुए हड़कम्प का एहसास मुझे कम नही था। मैं जानती थी कि इस प्रेम को अगर मैंने विवाह का रूप दिया तो हताशा एक ऐसी चट्टान बन कर मेरे सामने उपस्थित होगी कि मेरा हृदय उस पर पछाड़ें खा-खाकर विदीर्ण हो जाएगा।

घटनाओं का संयोग भी मेरे कुटुम्ब में रफ्तार पकड़ रहा था। पिता अस्वस्थ रहने लगे थे। मां अपनी ही दुनिया में व्यस्त होती जा रही थीं। आध्यात्म का भूत था उनके सिर पर।

एक स्वामी जी आने लगे थे उन दिनों घर में। रोज सुबह आकर घण्टों बैठते उनके पास। योग के रहस्यो पर विचार-विमर्श होता। हठयोग द्वारा हाथियों का बल प्राप्त करने से लेकर सायुज्य समाधि मे बैठने तक की चर्चा हो लेती...

स्वामी जी कहते :

'श्वास पर विजय पा लिया जाय तो बुढापा क्या मृत्यु पर भी विजय पाई जा सकती है...'

मां के सिर स्वामी जी का जादू पूरी तरह सवार था। यौगिक शक्तियों का अभ्यास होता, साधनाए की जाती... कभी-कभी तो दिन-रात का एहसास भी खत्म हो जाता... मां पूरी तरह स्वामी जी की गिरफ्त मे आ गई थी। योग-साधना से शायद वह सब कुछ हासिल कर लेना चाहती थी जिनके ख्वाब उन्होने देखे होंगे और जो अधूरे रह गए थे।

मां को जब हठयोग की साधना मे देखती तो कभी-कभी मुझे डर भी लगने लगता। पता नहीं क्यों बार-बार मेरे मन मे एक सवाल उठता कि 'इन विभिन्न साधनाओं में मां का आध्यात्मिक पक्ष न आकर दैहिक पक्ष ही प्रमखु रहता है'... मैं इससे सहमत नहीं हो पाती कि अगर दैहिक पक्ष ही प्रमुख है तो मुझे क्या...

कभी लगता, यह मेरे मन का भ्रम है। मैं जानती थी मेरी मां, मौत से अधिक रोग से डरती थी और हर व्यक्ति के लिए बुढ़ापे को महारोग मानती थी जबकि उन्हे मालूम था, बुढ़ापा कोई रोग नहीं, उम्र का एक पड़ाव भर है और हर पैदा होने वाले को उस पड़ाव से गुजरना पड़ता है...

कभी स्वामी जी आत्मा-परमात्मा की बात करते। मां इतनी लीन हो जातीं कि लगता मां अब अपने संघर्षात्मक क्षितियों की यात्रा से लौटना चाहती हैं, उन्हें अब शांति-विश्राम चाहिए... उन दिनों मां सत्य की खोज श्रद्धा और विश्वास से और साक्षात्कार का मार्ग योग से प्राप्त करना चाहती थीं। शायद धर्मसंकटों के जाल में फंसी हुई जिंदगी के लिए एक निर्विघ्न मार्ग खोज उस पर ज्ञान की दीपशिखा जलाए रखना चाहती थीं...

मैं अब भी सोचती हूं, क्या मेरी मां को स्वामी जी के सान्निध्य में, उनकी स्थिर-अस्थिर, कातर-कमनीय मंथर गति में, वह अनंत, अगाध, अचल, निर्भय् शांति का स्वरूप मिल सका ? सृष्टि के आदिपुरुषों में जिस तत्व की खोज उन्होंने की थी, क्या वह परिपूर्ण, प्रामाणिक शाश्वत पुरुष उन्हे गुरु रूप में प्राप्त हुआ ? उदास दिग् दिशाओं में क्या उन्होंने उल्लसित वसंत के दर्शन किए ? क्या उन्हें अनंत आकाश और पृथ्वी के बीच किसी ज्योर्तिमय आधार की ऊष्मा मिली ?

मुझे लगता है उम्र के भार ने, परिवार की चिंताओं के अकर्मण्यकारक बोझ ने उन्हें आध्यात्म की ओर मुखातिब तो किया लेकिन वह उसमें रम नहीं पाईं। अपने ही बच्चों के दैहिक-चारित्रिक उतार-चढ़ाव, जैविक-वैकासिक आयामों से दूर जरूर होती चली गईं।

और इन सबका प्रभाव हम पर क्या पड़ा ? अपनी राहों का अनुसंधान हम स्वयं ही करने लगे... जो जैसा चाहता, वैसा ही करता। भौतिक स्तर पर जब तक खर्च मां के हाथ में था तब तक हम मनमाना खा-पहन नहीं सकते थे। जैसा मां चाहतीं खाने-पहनने को मिलता।

अम्मा भी हमारे लिए खास सहायक सिद्ध नहीं हुई। वह भी पुरानी पीढ़ी की थी। उसकी नजर भी पूरी बाह के कुर्ते और ढीली सलवार के आगे नहीं देख सकती थी...उन दिनों तो न कभी हमने कीमती कपडे पहने न पांच-पांच सौ रुपयों के जूटे ही पहनने को मिले।

लेकिन मा के हाथ से खर्च निकलते ही हमने अपने रिहायशी तौर-तरीके, पहनावे का तरीका बदल दिया।

हमारे घर के लिए फैशन का अवरुद्ध मार्ग खुल गया। प्रतियोगिताओं की दुनिया मे हमारा प्रवेश हुआ और हम धीरे-धीरे सामने वालों को पीछे छोड़ आगे निकलते गए। उन्हीं दिनों मेरी मुलाकात हेनरी से हुई थी।

मैं आपको बता चुकी हूं उसके लिए एक आकर्षण था मेरे मन में। उसकी आवाज चुम्बकीय थी। कश्मीरी चीड़-वृक्ष की तरह पतला-लम्बा, धारदार नाक, नीली आंखें... अनत सागर जिसमें पछाड़ें खाता रहता। वह 'एक्सचेंज प्रोग्राम' का विद्यार्थी था। भारतीय संस्कृति का अथक पुजारी। कहता :

'तुम्हारा देश आध्यात्म का जनक है... त्याग और ग्रहण की भूमिका पर प्रकाश डालने वाली मंगल भूमि है... पूरी दुनिया में भारत ही ऐसा देश है जिसने संयोग-वियोग, ज्ञान-विज्ञान के असली रहस्य को समझा है... ब्रह्म को सत्य और जीवन को शाश्वत माना है... मैं पुरुष हूं, प्रकृति के रूप में तुम्हें पाकर पूर्ण हो जाना चाहता हूं।

'मैं तुमसे प्रेम करता हूं जो चिर है...सत्य है...सुंदर है...शिव है...निर्विकार है...

'मैं निर्गुण से नेह नहीं कर सकता...

'बोलो, मेखला, तुम क्या कहती हो ?'

उसकी आंखों में उस समय सारा आकाश सिमट आता। मैं जड़ हो जाती उसकी आंखों में देखना मेरे लिए संभव नहीं रह पाता।

मुझे आप अंतर्मुखी मान सकते हैं। मैं अधिकतर चुप रहना पसंद करती हूं। हेनरी की बातों से एक सुप्त एहसास मुझे अपने आगोश में लेने जरूर लगता। परिवार और प्रेम के बीच के तट से टकरा कर बुद्धि की कल्पना मे एक गृहस्थी की कल्पना करने लगती, फिर एकदम से डर कर कल्पना का वितान उखाड़ फेंकती।

वह झुंझला पड़ता, मेरे कंधे पकड़ कर मुझे झिंझोड़ देता। मैं बिजली का करेण्ट लगा हो ऐसे उसके हाथ झटक कर अलग खड़ी हो जाती...

कितनी भीषण निर्बाध स्थिति थी वह। मन था कि उसकी आस्तिकता, उसके विशुद्ध ज्ञान के आगे नतमस्तक होता, भावनाएं थीं कि उसके आकर्षण के ताप से पिघलने लगतीं... तभी जैसे चाबुक मार कर सारथी घोड़ों को काबू में कर लेते हैं उसी तरह संस्कार, और स्थिति बोध मुझे अव्यक्त व्यामोह से अलग कर देते।

आसपास के उतरते हुए अंधकार के प्रति उसे आगाह करते हुए कहती :

'आओ, तुम्हें हास्टल तक छोड़ दूं। फिर मैं निकल जाऊंगी। देर से पहुंचने का अभिशाप तो मुझे ही झेलना होगा।'

मन ही मन कहती, 'बहनें तो हेनरी की कहानी पूछते-पूछते यह भूल जाएंगी कि मैं घर के नियमों का उल्लंघन करने लगी हूं किंतु अम्मा का मुंह सूजा मिलेगा। न कुछ कह कर भी वह बहुत कुछ कह देगी...'

मैं स्वीकार करती हूं कि उस समय तक मैं खासी बेपरवाही बरतने लगी थी। हेनरी के प्यार की फिज़ां मुझ पर इस तरह छा गई थी कि वर्तमान कट कर मुझसे लगातार अलग होता जा रहा था। मन होता इस तरह हेनरीमय हो जाऊं वसंत में प्रकृति...

मैं सोच-सोच कर अभिभूत हो जाती थी। मेरे रोम-रोम खिल पड़ते थे। अब सोचती हूं तो लगता है यह इसलिए अधिक था क्योंकि घर में कभी सर्वांगीण प्यार नहीं मिला था।

और हेनरी ? वह तो मेरे लिए जोगी बनने को भी तैयार था। अपने त्याग की उसने कोई सीमा नहीं बांधी थी।

अपना घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, यहां तक कि देश भी छोड़ कर भारतीय बनने को तैयार बैठा था। सभी तैयारियां उसने पूरे ब्योरे सहित कर ली थीं। उसे इंतजार

था मेरी स्वीकृति का। और यही, अजाने पथ की तरह लम्बी खिंचती जा रही थी...

हेनरी के प्यार की गहरी छाया ने मुझे मनस्वी बना दिया था। मेरे सोच में बल पड़ने लगे थे... मेरा स्वभाव धीरे-धीरे बदलता जा रहा था और इस परिवर्तन को रोकने के लिए मेरे सिर पर मां या पिता, दोनों में से किसी का हाथ नहीं था, न दृश्य, न अदृश्य...

मां का सस्कार था कि बच्चे अपने संस्कारों के जुए से अलग हो ही नहीं सकते और पिता का यह सोचना कि, 'आजकल के दूषित हवा से कोई बच नहीं सकता'...इन परस्पर दो विरोधी बातों ने हमें संकल्प सिद्ध होने ही नहीं दिया...

पिता ने हमारी परवरिश की ओर से आंखें मूंद लीं और मां ने विश्वास के प्रतिकूल होने पर भी विश्वास किया। मैं जानती हूं इसी घात-प्रतिघात के थपेड़ों ने हमारे आंतरिक चेहरों की विकृतियां दे डालीं... और हमने अपने निजी प्रयास से बाहर ही देखा, विकृतियों तक पहुंचने की हमारी योग्यता नहीं थी। जहां तक बाहर का सवाल था, आखिर कब तक हम दिशाहीन, तर्कहीन घिसी-पिटी परम्पराओं से चिपके रहते। हमारे पास योग्यताएं थी, हम प्रतिभाशाली भी थे। इसलिए हम उन्हीं योग्यताओ-प्रतिभाओं से जुड कर जिधर जी चाहा, या प्रवाह जिधर ले गया उन्मुख होते चले गए।

मेरी छोटी बहन कद मे मुझसे लम्बी, तन्वंगी, स्वभाव से हंसमुख, चंचल स्वभाव की थी। उम्र का फासला हम भाई-बहनों में उतना नही था। प्यार की खोज में वह भी उन दिनो धरती-आसमान के क्षितिजों को सीने में समेटने लगी थी।

उसमे अभिव्यक्ति और व्यंजना की सामर्थ्य मुझसे ही क्या, सभी से ज्यादा थी। शब्द, शैली और सौंदर्य की मलिका मानी जाती थी, घर-बाहर वालों को कई बार कहते सुना था। उसके लिए बुद्धि, विवेक, योग्यता तथा प्रतियोगिता, सभी के दरवाजे खटाखट खुलते गए थे। उपलब्धियो की भी अपनी कहानी होती है। घटनाक्रम इतिहास से अधिक जुडता है...

उम्र का वह पड़ाव या एक-एक कर बीतने वाले वर्ष हम सभी भाई-बहनों के लिए महत्वूपर्ण भी रहे और आपाधापी वाले भी।

मेरी वह बहन इतनी अभिनय प्रवीण थी कि कोई सोच भी नहीं सकता था कि उसका अंतर कितने लोगों के रहस्य-रोमांच का साक्षी था, कितना अथाओं-अंतरकथाओं का इतिहास वह अपने ही अंतरमन पर अंकित करती जा रही थी जिनसे उसे कुछ भी लेना-देना नहीं था।

अपनी इस बहन से मुझे ईर्ष्या थी, इनकार नहीं करूंगी। और इसी ईर्ष्या को इधर-उधर करने या इसकी शिद्दत का पता न चले इसलिए मैं अपनी बाहरी गतिविधियां बढ़ाने लगी। कोई कुछ पूछता तो रहस्यमय मोड़ पर बात छोड़ कर चुप

हो जाती।

मैं चाहती थी मेरे अंदर का परिवर्तन बढ़-चढ़ कर दूसरों पर जाहिर हो और वह हो रहा था।

उन्हीं दिनों मुझ पर कुछ टिप्पणियों का भी पुरजोर असर पड़ा और मैं अचानक अपनी इधर-उधर फैली हुई जिंदगी को समेट कर छोटा करने लगी...

मेरी बहन मुझसे अधिक भाग्यशाली रही, कुशल भी इसीलिए वह सफल हुई। उसके हृदय में समुद्र ठाठें मारता तो वह अपने दृग द्वार बंद कर उफान को रोक लेती। एक हाथ अपनी मां की नब्ज पर और दूसरा पिता के पांव पर रखती। दोनों उससे प्रसन्न थे और इसीलिए सृष्टि को बांहों में समेटने की क्षमता उसमें आ गई—किसी से मुस्कुरा कर, किसी को आंखें दिखा कर, किसी को कुछ ले-देकर वह अपना और कभी-कभी दूसरों का भी काम बखूबी निकाल ले जाती।

नित नए डिजाइनों की उसके पास पोशाकें थीं जिन्हें धारण कर झिलमिल करते हीरों के आभूषण पहन कर जब वह बाहर जाती तो लोग उसे निहारते ही रह जाते।

घर वालों का कहना था उसके और मेरे स्वभावों में बुनियादी अंतर है और कहीं तक यह बात ठीक भी थी।

वह पारा थी और मैं प्रस्तर...

'वायदे किए ही इसलिए जाते हैं कि उन्हें तोड़ दिया जाय' वह कहा करती और उसका आचरण भी ऐसा ही होता। मूल्यों को अपनी सुविधा और समयानुसार मोड़ लेती। उनका अवमूल्यन करने में एक पल भी न लगाती। उसका प्रणय क्षणस्थायी होता और उसकी मित्र मण्डली में भी कोई स्थायित्व नहीं था। मेरी वह बहन अपने बीच आने वाली सारी पहाड़ियों को कुल्हाड़ी से काट-काट कर खटाखट शिखर पर चढ़ती जा रही थी।

और मैं ? स्वतंत्र सोची मानती थी अपने को। लोग भी मेरे बारे मे यही कहते। लेकिन दो और दो चार की जमात से आगे मैं बढ़ ही नहीं पा रही थी...

लेकिन इस बात का मुझे खास असंतोष नहीं था। मैं जानती थी, किसी को मैंने भले ही प्रसन्न न किया हो, किसी की अप्रसन्नता का कारण भले ही बन गई होऊं, उनकी अप्रसन्नता मेरे अंदर के जख्मों को हरा ही रखती आ रही थी।

शायद इसीलिए मैं अपने बनाए हुए रास्ते पर चल कर अपनी मंजिल तक पहुंच नहीं पाई। एक मुहाने पर जरूर आकर खड़ी हो गई हूं और ऊहापोह की चक्की में गेहूं की तरह पिस रही हूं।

सबका ख्याल रखते हुए भी मैं सबसे अलग-थलग एक खाई में गिर पड़ी हूं। क्योंकि अब मैं जिसके साथ अपनी गृहस्थी बसाना चाहती हूं वह हमारी सामाजिक व्यवस्था का व्यवधान है।

मैं पारिवारिक संबंधों से कट गई हूं क्योंकि मैंने समाज की सड़ांध को चुनौती

दे दी है।

मैं अपने मन से हमेशा हारती ही आई हूं और यह हार मेरे और मां के बीच एक पारदर्शी पत्थर बन गया है।

मैं आगे नहीं बढ़ सकती क्योकि मेरा मन मेरे पैरों मे मौत की ठण्डक बन कर जकड जाता है। मैं पीछे नहीं हट सकती क्योंकि कहीं वचनबद्ध हूं।

मैं उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर पानी में जमी काई की तरह जम गई हूं। मैंने उसे, उसी के चारित्रिक किले में नज़रबंद कर रखा है।

लेकिन वह व्यक्ति हेनरी नही है।

अपनी मां की बीमारी की खबर पाकर हेनरी चला गया। मोह की लौह शृंखलाओ में जकड़े-जकड़े ही उसने भारत भूमि छोड़ी थी। अपना अंतिम प्रणाम इस भूमि की नजर करते हुए वह कितना विचलित हुआ था।

उसकी नीली आंखों मे सागर का तूफान लहरा रहा था जब उसने अश्रुपूरित नजर मुझ पर टिकाई थी। अलविदा की उस घड़ी मे व्याकुल होकर बादलों में मुंह छिपाए आसमान भी रोया था।

उदासी और बिछडने के दुख से मेरा कलेजा मुह तक आया जरूर था लेकिन उसके चले जाने के बाद कहीं एक हल्कापन मुझे महसूस हुआ था। शायद उसके साथ सम्मिलित जिदगी की बात मैं पूरी तरह पचा नहीं पाई थी।

हेनरी के जाने के बाद मेरे लिए कई लड़के देखे गए। लेकिन मैं किसी न किसी बहाने उन्हें टालती रही। मुझे लगता एक सामान्य जिंदगी जीने के लिए मैं बनी ही नही हूं। मेरे लिए कुछ और ही अपेक्षित है, लेकिन असामान्य। वह क्या है तब मेरे सामने स्पष्ट नहीं था।

उन दिनों मां पर पसंद-नापसंदी का दौरा पड़ा था। बार-बार हमें आगाह किया जाता कि अगर लडके का रूप-रंग हमें पसंद न आए तो शादी के लिए राजी होने की आवश्यकता नहीं। कि अगर लड़के हमें पसंद नहीं तो हमारा विवाह किसी भी कीमत पर नहीं करेंगी।

मेरे हाथ मे मां का यही सूत्र था और एक-एक प्रस्ताव मैं अस्वीकार करती। एक-दो बार तो पागलपन का ऐसा अभिनय किया कि रिश्ता लेकर आए लोग ही सिर पर पैर रख कर भागे...

मैं जानती थी इस तरह की स्थितियां कुछ समय तक बनी रहेंगी और अभिनय का दौर भी खत्म नहीं होगा लेकिन यह स्थायी नहीं था, कभी न कभी इसे खत्म होना था, इतना आसरा ही बहुत था, वैतरणी की तरह वह दौर पार कर लेने के लिए...

इस प्रकार विवाह की समस्या, लड़कों का आना-जाना बाहर और कभी न खत्म होने वाला युद्ध अंदर चलता रहता...

यह बात तो बहुत बाद की है कि मैं कहीं कृतसंकल्प हुई या कोई प्रतीक्षाबद्धता मेरी जिंदगी में उतर आई।

पहले वह मेरा मित्र बना, फिर पता नहीं कब प्रेमी बन गया और वहां से खिसक कर पति रूप में परिणत होता गया। इस बार एक बात मैंने जरूर की कि इस मित्रता, प्रेम या पति-परिणति की भनक किसी को नहीं पड़ने दी।

कुछ सप्ताह-महीने मैं अपने प्रयास में सफल भी हुई लेकिन आप जानते हैं कि पान और मुश्क की तरह आप इश्क को छिपा नहीं सकते।

मैं आपको बताना चाहती हूं कि मैंने अनवरत युद्ध किए हैं अपने आपसे। अभी भी कर रही हूं। मैंने यह तय कर लिया है कि या तो उसे पाकर रहूंगी या अपने आपको समाप्त कर दूगी।

अपने निश्चय से हटना मेरे लिए असंभव है और वह मेरे सामाजिक संसार को स्वीकार नहीं ! मेरी नियति क्या हो सकती है, इसकी कल्पना आप स्वयं करे। मैंने तो अपनी नियति उसी को माना है जिसका चयन कहू या वरण मैंने उसमे केंद्रभूत-इंद्रियातीत होकर किया है।

अगर मेरा विवाह हुआ तो उसी से होगा।

कैसे होगा यह... नही मालूम। इस कैसे का उत्तर शायद कोई नही दे सकता। जब मैं ही नहीं दे सकती जिसको विवाह करना है तब दूसरा क्या देगा।

मां अपना पग फेरने किसी तीर्थस्थान पर चली गई थी। पिता को दिवगत हुए अरसा बीत चुका था। अचानक खबर मिली मां बीमार हो गई है और इन्हे वही बने रहने का आदेश डाक्टरों ने दिया है...

आजाद तो हम पहले ही थे मां की प्रत्यक्ष तटस्थता से, उनकी अनुपस्थिति से शायद उद्दण्ड भी होते जा रहे थे।

एक दिन कुछ सहेलियां आकर कहने लगी :

'अचानक कश्मीर चलने का प्रोग्राम बन गया है मेखला, तुम हमारे साथ चल रही हो।'

मैं हक्की-बक्की रह गई :

'ऐसे कैसे बन गया प्रोग्राम ? और मैं इस तरह कैसे जा सकती हूं ?' मैंने कहा।

'जैसे हम जा रहे है...और प्रोग्राम तो मेखला ऐसे ही बनते हैं...'

'लेकिन मैं नहीं जा सकती। मां यहां नहीं हैं।'

'मालूम है, भाभी तो हैं...'

'किसी बात की इजाजत लेने की हकदार मैं सिर्फ मां को मानती हूं।'

'तो एक चिट्ठी लिख दो। भाभी को सूचित कर दो और चलो हमारे साथ।'

‘मां वहां बीमार पड़ी हैं...’

‘हमने तुम्हारे टिकट का इंतजाम कर लिया है, बल्कि तुम्हारा टिकट खरीद लिया है।’ रूपा मेरे आगे-आगे चल कर मेरी गाड़ी में विराजमान हो गई...

गाड़ी में हम पहले भी साथ आए थे। अक्सर जब मेरे घर आना होता तो मेरी सहेलियां यही करतीं। और रूपा तो सहेली बेशक मेरी थी लेकिन चहेती थी मेरी मां की। मेरी अनुपस्थिति में भी घर आकर वह मां से गपशप कर जाया करती थी।

हमारे यहां घर-बाहर की लगभग सभी बातें उसे मालूम थीं। ऐसा नहीं कि उसे बिठा कर सब कुछ बताया ही गया हो। जिस घर में आना-जाना, उठना-बैठना अनौपचारिक हो जाय उस घर की बहुत-सी बातें भांप ली जाती हैं और इस कला में रूपा माहिर थी।

मां मेरी सहेलियों को पसंद करें न करें जानती सबको थीं। सबके घर-परिवार का उन्हे पता था। मुझ पर... मेरे विचारो पर नियंत्रण रखने का माध्यम भी मेरी मां ने मेरी सहेलियो को ही बनाया था।

रूपा के साथ मां का लगाव मेरी अन्य सहेलियों से अधिक था, इसके दो कारण थे। एक तो रूप के साथ रूपा लावण्यमयी भी थी, शायद इसीलिए उसका नाम रूपा रखा गया था। दूसरे, उसकी आवाज मे मधु-मिश्री घुली रहती थी। बोलती तो लगता एक साथ चादी की कई घण्टियां अचानक बज उठी हों।

मेरे घर के परिवेश की पूरी नहीं तो काफी जानकार थी रूपा। घर के किसी भी सदस्य से बात करने मे बेझिझक, किसी भी कमरे मे जाने का अधिकार था उसे।

मेरी बचपन की सहेली थी। स्कूल के दिनो से हम साथ पढ़े थे।

उस दिन घर आने का उसका मक़सद ही यही था कि भाभी को विश्वास दिला दे कि कॉलेज की एक टीम कश्मीर जा रही है और उसमें मेरा जाना जरूरी है...

मुझे अच्छा नही लगा। अगर मुझे घूमने जाना है तो इसमें नाटक की जरूरत क्यों। मेरा जाना जरूरी हो, न हो, अगर मैं जाना चाहू तो कहीं भी जा सकती थी, होना यही चाहिए था लेकिन बात ऐसी नही थी। जितना सपाट मैं सोचती थी उतनी सपाट जिंदगी भला कहां होती है। और दिमाग का साथ सारा शरीर भी कहां देता है। मन कुछ और करना चाहता है और सासारिक प्रतिक्रियाओं का प्रभाव शरीर पर कुछ और पड़ने लगता है। मैं अवश हो जाती जब ‘नर्वसनेस’ यानी अति भावुकतावश मेरी हथेलियां पिघलने लगतीं... मुट्ठी में कैद रेखाओं का जाल इधर-उधर दौड़ कर और उलझने लगता, कि मेरे संकल्पों की आंच में मेरी विचार शृंखलाएं जल-जल कर तारों की तरह टूटने लगतीं...

उस दिन रूपा के साथ घर पहुंचने तक की संभावनाओं की सम्पूर्ण दिशाएं, पोथी की तरह खुल-बंद हो रही थीं। किसी अज्ञात भय ने मेरी शक्ति के सागर को

अगस्त्य बन कर एक ही अंजुलि में सोख लिया था... मैं एकदम बौनी बन गई थी अपनी ही नज़र में।

आत्महीनता की इतनी जबर्दस्त भावना मेरे अंदर कहां से आई, नही जानती...अपना ही मन हर पल मखौल उड़ाने के लिए क्यों तत्पर हो जाता मुझे यह भी नहीं मालूम...

रूपा से मैंने केवल एक बात कही थी, 'अगर मैं तुम लोगों के साथ न गई तो...' और उसका पारा देर तक चढ़ता-उतरता रहा।

गाड़ी मैं नहीं मेरा ड्राइवर चला रहा था उस दिन... हमारी हर बात उस तक पहुचे या हमारी किसी भी बात का वह साक्षी हो ऐसा हम नही चाहते थे... अतः पारे का उतरना जरूरी था। मुझे क्रोध था कि मुझसे पूछे, बातचीत किए बगैर कश्मीर का मामला कैसे तय हो गया। रूपा झल्ला पडी थी कि मेरे एवज मे अगर उसने हामी भर दी तो मै इतना बुरा क्यों मान रही थी, उसकी नजर मे पगे ले रही थी...नखरे दिखा रही थी।

उसकी बडबडाहट जो कानो मे पड रही थी कुछ कुछ इस प्रकार थी :

'अगर तूने ना किया तो तेरे साथ उगने-बढने और पनपने वाली सारी फसले लहलहाना छोड कर तेरी खिल्ली उडाएगे...

'अगर अबकी न गई तो हमारा शाप लगेगा.. तेरे सारे मनोरथ, तमाम मनसूबे...प्रेम के स्निग्ध सपने झुलस कर अभिशाप के भग्नावशेष बन जाएगे...

'दुर्भाग्य लोहे की कील बन कर सदा के लिए तेरे पावों को कील देगा... और तू... खण्डहर बनी हुई परम्पराओ पर कयामत टूटेगी और तेरा अहंम् आहुति बन कर प्रगति के पथ को किसी तापसी की इच्छाओ की तरह गुम कर देगा...

'समय की धूप मे जख्मी रिवाजों को घर की छत पर डाल कर आगे बढ मेखला, वरना, तू पिछड जाएगी... मैं कहती हू हार जाएगी...

'आंधियों के थपेडे क्या कम लगे हैं कि इस जरा-सी बात पर तू तिलमिला गई... इन आधियों से जूझना सीख... अखण्ड सत्ता की स्वामिनी है तू... राह मे पड़ी इन शिलाओं को ठोकर मार... तभी नवप्रभाव का उजियाला तेरा अभिनदन कर पाएगा...'

कब हम घर आ गए, मोटर रुक गई, ड्राइवर ने उतर कर दरवाजा खोला, मुझे पता ही नहीं चला। सुषुप्ति तो मेरे तब टूटी जब रूपा गाडी से उतर कर आधी की तरह घर मे दाखिल हुई और 'भाभी-भाभी' चिल्लाती हुई अंदर हवेली मे दाखिल हो गई।

मैं घर मे दाखिल होने से पहले घर के दफ्तर मे घुसी कि शायद मां का कोई पत्र आया हो... मां का तो नहीं लेकिन कामिनी के नाम आया एक मोटा लिफाफा पड़ा था...

अजीब से कड़वाहट भर आई। मुंह का स्वाद कसैला हो गया।

मैं आफिस से निकल कर भाभी के कमरे की ओर बढ़ी...

पहुंच कर देखा भाभी और रूपा गम्भीर मुद्रा में एक-दूसरे को देख रहे हैं।

मुझे देखते ही भाभी के होंठ किसी खटके वाली डिब्बी की तरह बंद हो गए ...और मैं प्रवंचना काल के धक्के से धुरी के नीचे उतरे हुए रथ की तरह उसी जगह गड़ गई जैसे।

उन दोनों में भी कोई हरकत नहीं हुई, गोया उन्हें भी किसी ने कील दिया हो।

कुछ क्षणों तक हम तीनो प्रस्तरवत वहीं जमे रहे...

मेरे कश्मीर जाने की सूचना मां को टेलीफोन से दे दी गई थी। भाभी ने बताया मुझे बाद में। मेरे प्रस्थान के तुरत बाद ही उन्होंने मां को फोन किया था।

मैं जानती थी मां को आश्चर्य नहीं, गहन पीड़ा हुई होगी।

भाभी की बात सुन कर मां कुछ बोलीं नहीं, उन्होंने फट् से फोन का रिसीवर रख दिया था और इधर भाभी 'हलो-हलो' करती रही थीं।

मा का चिंताग्रस्त चेहरा किस तरह मेरे सामने आइने-सा घूमता रहा था।

कश्मीर को देश का स्वर्ग कहा गया है लेकिन जो कश्मीर देखा वह स्वर्ग तो हर्गिज नहीं था।

मुझे लगा था यहां भी प्रकृति की छाती पर पैर रख कर मानव ने उसे अपनी बाहों में गिरफ्तार कर लिया है... बिखरे हुए सौंदर्य को सहस्रों हाथों से समेट कर उसे अपने ऐश्वर्य का आरामगाह बना लिया है। गगनचुम्बी पहाड़ों को काट कर पतली-पतली पगडण्डियां बनाई हैं जिन पर निर्दयता से उसका मर्दन करते हुए लोग आते-जाते हैं। वहां की स्वर्णिम गुफाओं के रहने वाले ऋषियों ने इस कोलाहल से घबराकर अपने तप से प्रकाशित उन स्थानों को छोड़ कर ऊपर कहीं शरण ले ली है...

अब तो किसी भी झील का पानी वहां पारदर्शी नहीं। वहां के पेड़ जो अपनी ऊंचाइयों से और भी ऊंचे चढ़ कर पर्वत-शिखरों को छू सकते थे, दुराग्रही हवाओं ने उन्हें बौना बना कर रख दिया है।

हम सहेलियों सहित शिकारे में ठहरे थे...

हमारे पहुंचने के दूसरे ही दिन वह भी आ मिला था हमसे लेकिन ठहरा था अपने भाई के साथ।

उसका भाई हमीद वहीं पर सरकारी मुलाजिम था। दिन भर वह हमारे साथ घूमता-फिरता, रात को अपने भाई के यहां सोने चला जाता।

वे दिन मेरे लिए परीक्षा के दिन थे... मन परिवर्तनों का अड्डा बन गया था।

सोच की निरंतरता, जातीय दम्भ, उत्तेजना म डूबा हुआ मां का चेहरा, उपेक्षापूर्ण उनका व्यवहार...

छोटे भाई की उद्दण्डता... मर्यादा-निर्वाह के नाम पर दुष्टतापूर्ण कुटुता भरी उद्दण्ड बातें मुझे देखते ही मां को सुनाने की उसकी आदत...

घर की शांति मेरी वजह से भंग हो गई थी।

लेकिन मैं भी अपने फैसले पर चट्टान की तरह दृढ़... लेकिन पारिवारिक मोह के कतिपय धागे मेरे अंतर को खींच-खींच कर निचोड़ते तो रहते थे...

'प्रेम में अच्छा-बुरा कुछ नहीं होता' मन अपने आपसे कहता। आवाज में कभी आक्रोश, कभी झुंझलाहट होती।

'मैं क्या कर सकती हूं ?' अपना ही मन प्रश्न करता। दसों द्वार तोड़ कर मेरे प्राण निकल जाना चाहते। मेरे अंतर में आग ही आग थी, मेरे सभी आंतरिक अवयव झुलस रहे थे।

घूमती-घूमती उस दिन सहेलियां आगे निकल गई थीं...मैं अपने आप से बेखबर जाने कहां चली जा रही थी एकमन... एकांत... गहनतम विचारों में डूबी हुई।

लेकिन इतनी बेखुदी के बाद भी मुझे मालूम था वह मेरे पीछे आ रहा है। मेरे मन की उद्विग्नता शायद उस पर अधिक जाहिर थी...

और मैं... यंत्रवत चल रही थी जैसे मैं वहां हूं ही नहीं... मेरे पांव एक-एक मन के वजनी हो गए थे। मेरा दिमाग अपने ही घर के बड़े कमरे में था और मेरे कान मां के शून्यता भरे कक्ष में पहुंच कर भाई के साथ उनकी बातचीत का ब्योरा सुनने लगे थे...।

'देख कर चलो' बिजली की तरह एक भारी आवाज मुझ पर टूट पड़ी थी, 'देखती नहीं आगे गड्ढा है...' आगे बढ़कर उसने मेरी बांह थाम ली थी।

मेरा मन हुआ उसकी बांहों के घेरे में समर्पित हो जाऊं, वहीं, उसी क्षण...और बाद की सारी दुनिया का विचार भी न आने पाए मेरे मन और मस्तिष्क में लेकिन संस्कार की लगाम खुद ही खींच ली :

'मुझे तो ख्याल ही नहीं रहा कि तुम मेरे पीछे आ रहे हो।' मैंने कुछ कहना जरूरी था इसलिए कहा, 'बाकी सब कहां गए ?'

उसकी बड़ी-बड़ी आंखें मेरे चेहरे पर टिकी रहीं। वह तत्काल बोला नहीं कुछ। मैं जानती थी वह बहुत कम बोलता है। समुद्र की तरह गहरी, उद्विग्नता से चिंतित

पर शांत उसकी उपस्थिति बहुत अच्छी लगी।

कुछ समय हम यूं ही खड़े रहे, शांत... निस्पंद... अपने-अपने विचारों में खोए हुए। फिर धीरे से उसके होंठों में हरकत हुई... तात्कालिक विचारों-चिंताओं को एक ओर ठेलते हुए उसका व्याकुल-विचलित स्वर सुनाई पड़ा :

'इधर कुछ दिनों से देख रहा हूं तुम...' आगे वह बोला नहीं लेकिन टूट-टूट के उसके शब्द अपने आप जुड़ते रहे, 'आजकल कुछ ज्यादा ही असंतुलित रहने लगी हो... जो है उसके अलावा अगर कोई बात है तो बताओ मुझे...

'घर-परिवार के विरोधों का सामना अगर इस तरह तुम्हें बेहाल कर दे तो मै अनकिए अपराध बोध से जिंदगी भर किसी अदृश्य आग में जलता रहूंगा...

'प्रेम का अर्थ एक ही नहीं होता मेखला कि उसकी परिणति विवाह में अवश्य हो, गृहस्थी की रचना हो.. परिवार बढ़े...

'प्रेम सासारिक-भौतिक, सामाजिक-पारिवारिक बंधनो का मोहताज है ऐसा मैं नही मानता... ऐसा नही कि मैं इनकी अहमियत समझता नही, अच्छी तरह समझता हू... इन्हे हासिल करने की कामना भी करता हूं लेकिन अगर यह संभव नहीं है तो विश्वास मानो, मैं भी कसम खाकर कहता हू कि आजन्म इसी तरह रहूगा। चाहे विपरीत वायु के झोके मुझे मृत्यु के उस पार ही क्यो न फेक दे...

'मैं नही मानता कि प्रेम, जात-पांत, रस्मो-रिवाज या किसी भी तरह के बंधन का मोहताज है... तुम भी यह हमेशा-हमेशा के लिए समझ लो और गांठ बांध लो। अभी हमे बहुत लम्बा रास्ता पार करना है... साथ-साथ...'

वह कितनी देर बोलता रहा, मुझे याद नही।

होश मुझे तब आया जब अपनी ही आवाज कानो मे पड़ी :

'तुम चुप क्यो हो गए ?' मेरा स्वर काप रहा था, आखे भीगी हुई थीं जैसे जलती हुई भीगी लकडी कडवा धुआं उगल रही हो... कि उस कालिमा ने सामने की समस्त रोशनी छिपा ली हो।

'मैं चुप कहां हूं...' वह कह रहा था, 'तुमसे बात करने ही मैं यहां आया था कि चार दिन इस एकात प्रदेश में चैन से कट जायं... देखो मेखला... सब कुछ देख-सुन लेने के बाद, बहुत सोचने-समझने के बाद मुझे यही लगता है कि मैं तुम्हारे लिए जिऊंगा और तुम अपने लिए जिओ... अपने परिवार के लिए जिओ, समाज और उसकी रूढ़ियों के लिए जिओ, क्योंकि तुम जानती हो, मैं नहीं चाहता कि मेरी वजह से तुम्हारे बंधु-बांधवों को, उनकी प्रतिष्ठा और जमात को धक्का लगे। सच्चाई सहने की ताकत मुझमें है और उसके साक्षात्कार से मैं नहीं डरता... मैं तुमसे प्रेम करता हूं, मुझे कोई प्रतिदान नहीं चाहिए...'

एक ही सांस में कह गया सब कुछ। उसका स्वर शांत और संतुलित था, उसकी चाल धीमी पड़ गई थी...

उस एक क्षण मेरे अंदर की औरत चीत्कार कर रही थी। कितना सुकून था उसकी बांहों में सिमट कर सारे संसार को लात मार देने में। कितनी तृप्ति थी उसका बढ़ते हुए कदमों को रोक कर उसके साथ एकाकार हो जाने में...

लेकिन मैं... मैंने सिर्फ उसकी ओर आंख भर उठाई कि एक नजर उसे देख भर लूं... उसकी आंखों में झांक कर देखूं वहां मेरे सिवाय और क्या है...

यह संभव नहीं हुआ। उसकी आंखों पर पुतलियों का परदा गिर चुका था, पता नहीं किस लोक में वह क्या देख रहा था...

वैसे तो वह आंखें झुका कर ही चलता था लेकिन उस दिन उसकी आंखों पर पड़े हुए पलकों के परदे इतने शांत, इतने स्निग्ध लगे कि मन हुआ लपक कर उन्हें चूम लूं...

मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उसकी मुट्ठी कसी हुई थी। ध्यान आया, अक्सर सोचते-विचारते समय वह अपनी मुट्ठियां भीच लिया करता था...

मैं समझ गई पीड़ा और चिंतन के सघन कुंज में वह उलझ गया है। उसे वहा से कैसे निकालूं, मैं सोचने लगी।

लेकिन उसके बुद्धि प्रौढ़ चेहरे पर मेरा भयावह संघर्ष, मेरे मन की द्विविधा, मेरा भ्रम.. सब कुछ उसके चेहरे पर एकीकृत होकर सदेह उतर आए थे। और मेरे दोहरे आशंकाग्रस्त मन पर श्वासों के सर्पदंशन का संहारक दृश्य चित्रित था जो प्रति पल मुझे भय और भ्रांतियों के अंधेरे गड्ढे में ढकेलता रहता है।

मुझे डर था, मेरे मन में अनिश्चय भी था, भय और भ्रातियां तो थी ही... कहीं वह मुझसे बिछड़ गया तो ?

उसे हासिल करने की दिशा में जिन झंझावातों का सामना मुझे करना था वहां पर्याप्त क्षमता मुझमें नहीं आई तो ?

वह मेरे लिए जीवित रहेगा लेकिन मैं अपनी जिंदगी उसे न दे पाई तो ?

वह मेरे लिए घर-समाज, मुल्क, धर्म, अर्थ, काम सभी कुछ छोड कर अगर मेरी आंखों से ओझल हो गया तो...

यहां तक भ्रांतियों, अनिश्चय के जंगल में भटकते-भटकते मेरा कलेजा फटने लगता, मैं पानी से निष्काशित मछली की तरह तड़पने लगती...

मैं जानती थी वह इच्छाशक्ति सम्पन्न मानव है, मेरे लिए अगर जीने को तैयार है तो मर भी सकता है... लेकिन मेरी जरूरत तो वह स्वयं था... उसकी वियुक्त जिंदगी या मौत तो मेरा ही अंत था...

मेरी चेतना मेरा साथ छोड़ने के लिए बिखर रही थी और मैं अपनी समूची शक्ति से उसे थामे उसकी तनावग्रस्त मुट्ठियों को मुक्त करने का प्रयास करने लगी।

अपने हथेलियों का पसीजना मुझसे छिपा नहीं था।

मेरी नरम हथेलियों की पकड़ में उसका निर्णायक समर्पण सात परतों के नीचे

भी छिपा अहंकार गला कर प्रेम की कसौटी तक पहुंच चुका था।

हमारे बीच प्रेम और श्रेय का डरावना-वीभत्स सन्नाटा बिखर गया था...

कुछ समय हम उसी अवस्था में खड़े रहे निर्वाक, निश्चल, सबसे बेखबर... फिर चेतना धीरे-धीरे आई।

हमने देखा कि हमारे साथी हमें तलाशते हुए दूर क्षितिज पर उभरने लगे थे...

'तुम तो राह में ही प्रेमकथा का निर्माण करने लगीं,' रूपा ने मुझे छेड़ने की गरज से ही कहा होगा, जानती हूं।

'हम तो तुम्हारे लिए इतने चिंताग्रस्त हो गए कि आधे रास्ते से ही लौट आए ...जो देखा-घूमा उसमें भी कुछ खास मजा नहीं आया! ध्यान से देखा भी कहां, सारे समय चिता तो तुम्हारी ही लगी हुई थी...' रेखा बोली।

मैंने किसी को कोई जवाब नहीं दिया। वह भी मेरे पास ही खड़ा रहा। लेकिन मैं जानती हूं रूपा की मुस्कुराती आंखें हम दोनों पर ही लगी रही होगी। हमारी चिंता की शिकायत जो उसने की थी उसमें कोई उलाहना नहीं था, चिंता तो थी ही नहीं...एक तरह से कहा जाय तो प्रच्छन्न खुशी थी जो प्यार भरे तानों पर जताई जा रही थी।

रूपा के प्रति प्यार और कृतज्ञता से मेरा मन भर आया। वही तो मुझे अपने होसले और अपनी कुशलता से यहां तक घसीट लाई थी।

मेरे जीवन मे प्रचण्ड आवेगों का अस्तित्व अपनी जगह, संशयात्मक रेखाओं मे भटकने का अनिश्चय अपनी जगह-रूपा उस क्षण फरिश्ता ही लगी थी मुझे।

क्षितिज, आसमान में विलीन होने लगा था। सृष्टि जब शांत हुई तो प्रकृति के पीहर के पहरुए-देवदारु...चीड़...सरु..सभी आपस में मौन सम्भाषण कर रहे थे...

आकाशगंगा वेग से बह रही थी।

नादब्रह्म की प्रतिध्वनि कण-कण से प्रस्फुटित होने लगी थी...

मैंने भी अपने आपको निमिष मात्र के लिए उन घात-प्रतिघातों से मुक्त कर लिया...

उसकी प्रतिज्ञाओं, उसके संकल्पों ने मेरी नजर में उसे भीष्म-परिधि से भी ऊपर उठा दिया था। कितना महान था वह... उसका संकल्प प्रेम की अभिव्यक्ति से अधिक सम्माननीय था... कितना निःस्वार्थ... कितना सरल... त्यागमय...

मुझे लगा, मेरे किशोरमन की चंचलता... कुंआरी भावनाओं पर कवच मढ़ दिया हो किसी ने...

'वह मेरे लिए... सिर्फ मेरे लिए सब कुछ करेगा...' इस विश्वास ने मेरे कम्पनों

को, मेरी सांसों को सुवासित कर दिया था... मेरे कृशकाय आत्मविश्वास को सुपुष्ट किया था...

मैंने तय कर लिया था कि घर पहुंच कर इस बार मां के सामने सारी स्थितियों का खुलासा कर दूंगी... मुंह खोल के कह दूंगी कि इस बार बात हेनरी जैसी नहीं है...कि एक जिंदगी जीने का हक मेरा बनता है और जिंदा रहने की एक ही शर्त है उसे हासिल करना...

यह भी सोचा था कि मां से अनुनय-विनय करूंगी तो शायद वह स्वीकार कर लें, खुल के नहीं तो मौन स्वीकृति ही दे दें... एक बार उसके सान्निध्य में मुझे स्वीकार कर लें फिर मैं स्वयं ही उनकी आंखों से ओझल हो जाऊंगी... उनके समाज में, नाते-रिश्तेदारों के सामने पड़ कर बार-बार उनकी अवमानना नहीं होने दूंगी...

लेकिन वापिस होने के दिन जैसे-जैसे नज़दीक आ रहे थे मेरे होश उड़ने शुरू हो गए थे।

और जब घर पहुची ?

मां से बात करके अपनी स्थिति का खुलासा करने का मेरा निश्चय एकदम ऊपर-नीचे हो गया। हिम्मत-होसले जो रूपा ने उधार दिए थे सब गायब हो गए...

उसके अभिव्यक्त विचार मेरे हृदय में पीड़ा का डंक मार रहे थे और बाहर से समय, स्थिति और सामाजिकता... इन तीनों ने मिल कर एक ऐसी व्यूह रचना कर दी थी मेरे लिए कि सिवा ऐसे ही रहने के वह दम घुटने तक भी मुझे कोई विकल्प ढूंढ़ने नहीं दे सकता था, विकल्प की कल्पना भी दुराग्रह-सी लग रही थी।

मेरा भविष्य तो पहले से ही निर्धारित था...

घर-परिवार को मुझसे ऐसे ही खीझे रहना था...

अम्मा को बचपन से देखा था। मैं जानती थी कि अगर कुंती की तरह कुंआरी मां मैं बन जाऊं तो अम्मा मुझे लपक कर आचल मे छिपा लेगी... सारी दुनिया को धता बता कर प्रपंच गढ़ेगी, झूठ बोलेगी... कुछ भी करेगी...

लेकिन मेरे इस प्रणय की स्वीकृति अम्मा की ओर से भी नहीं मिलेगी...

मुझे अनमना देख कर उसका कलेजा फटता रहेगा। मेरी आंखों के चारों ओर गोल काली झाइयां उसकी रातों की नींदे उड़ा देंगी... उसकी चिंता गहराती जाएगी...पर मेरा प्रेम उसे मान्य नहीं होगा...

इधर घर में एक फ़साद-सा खड़ा हो गया था। भाई ने अलग होने के सिलसिले को

एक फसाद बना कर खड़ा कर दिया था।

घर में सबकी शकलें बदली दिखाई पड़ रही थीं। पूरा माहौल एक वहशी खालीपन से भर गया था...

उधर कामिनी अपने विवाह के लिए भागदौड़ कर रही थी।

जिस व्यक्ति को कामिनी ने अपने जीवन साथी के रूप में चुना था उससे मां अधिक प्रसन्न नहीं थीं। उन्होंने प्रस्ताव पिता के पास भेजवा दिया और स्वयं तटस्थ रह गई।

कामिनी को मां की स्वीकृति-अस्वीकृति की रत्ती भर भी परवाह नहीं थी। अपने होने वाले पति के साथ दिन-रात एक किए जा रही थी। घर लौटने का नियम ही उसने बना लिया था आधी रात के बाद...

कामिनी की शादी मेरे पिता ने ही तय की। लड़के के पिता से बात की। दोनों पिताओं ने आपस में एक-दूसरे को स्वीकार कर लिया। दोनों समधी बन गए और कामिनी के ऊपर भाग्यश्री टूट कर बरसी। कामिनी निहाल हो गई। सिर से पाव तक डूब-डूब कर नहाई। मा की मर्जी के खिलाफ़ भी उसे मनचाहा भविष्य मिल गया था...

मेरा चिंतन इस घटना से और गहरा गया।

मेरे मामले में तो मां की स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं था।

मां ने आंखों के सामने वितान ताना... आंखें तरेरीं...

आवाज में शेर की दहाड़ थी :

'तू आजन्म कुंआरी रह जाएगी मेखला... तू हर मौसम को अपने मुकाबिल लाना चाहती है, हर मन को अपनी तरफ़ मोड़ना चाहती है, वह कैसे संभव होगा...

'तेरा यह प्रस्ताव अंदर से कोई कुबूल नहीं करेगा... तू कुछ भी कर ले... अगर तो अपना इरादा बदलती नही तो तुझे इसी तरह जीना पड़ेगा, अकेले, कुंआरी... होलिका की तरह दहती रहेगी...

'मां हमेशा नहीं रहेगी... घर में बंटवारे की अभी बात चल रही है, तब बंटवारे हो जाएंगे...

'लेने वाले महल ले जाएंगे, चुप रहने वालों को मिलेगी खपरैल की झोपड़ी...चूल्हे सबके अलग जलेंगे... तब... तब तेरे चेहरे की शिकन देखने कौन आएगा ?

'हमारा क्या, हम तो चले जाएंगे... तेरा क्या होगा, अपने हाथ कमाने, अपनी रोटी पकाने-खाने के अलावा तेरे पास रास्ता क्या बचेगा। पका पाएगी अपनी रोटी...?

'प्यार का नाम उछाल कर, ईमानदारी का दम भर कर क्या मिला है तुझे

...प्यार के सभी सपने पलक झपकते विकलांग हो जाएंगे। तू देख नहीं पाएगी मेखला, संभाल नहीं पाएगी...'

मैं भयभीत-सी कांप रही थी। आंखें जाने कब बरसने लगी थीं... प्यार के सपनों के विकलांग होने की बात सुन कर ही मैं दहशत में आ गई थी...

मैं वही सोचने लगी जो मां कह रही थीं।

अपने प्यार को इस तरह उछालने में मेरा निहित स्वार्थ क्या था... क्यों मैंने इसे जग जाहिर होने दिया ? कोई पूछता भी तो नकार देती और दवंग होकर वही करती जो मुझे करना था... मैं इतनी कमजोर कैसे पड़ गई...

मुझे अपना भविष्य भी दिखाई पड़ने लगा।

बहुत जल्दी लोग एक-दूसरे से कहते सुने जाएंगे :

'अमुक की लडकी आजकल एक मुसलमान छोकरे के साथ घूम रही है... वड़े बाप की बेटी है कुछ भी कर सकती है...'

वार्ता एक स्तर से प्रारम्भ होकर... खानदान पर चोट करती, गड़े मुर्दे उखाड़ती, पुरखों के इतिहास कुरेदती विभिन्न केन्द्र स्थलों पर पहुच जाएगी... कौन जाने पहुंच ही न गया हो... समाज के माथे पर हर व्यक्ति के लिए चिंता की रेखाएं खिंच जाती हैं...

अंततोगत्वा सारी सूचनाएं वर्गीकृत होकर मां के पास पहुंची होंगी। तभी मां को दीन-दुनिया की सूझ रही है वरना, आज तक तो पहले कभी ऐसा कहा नहीं...धड़कते हृदय से सारी चिमगोइयां अपनी ही आवाज बना कर स्वयं सुनती रहीं।

उनके स्वर में चिंता की इतनी गहराई तो कभी नहीं थी।

अलग-अलग मौकों पर मां की कही बातें याद आने लगीं :

'बच्चा कुछ भी करे गलती तो मां की ही ठहराई जाती है... और वह बच्चा अगर बेटी है तो... लोग कहते है ठकुराइन ने अपनी बेटियों को बड़ी छूट दे रखी है... अपने ही सुख-दुख, ईर्ष्या, द्वेष में डूबी रहीं, बेटियों को संभाला नहीं... कच्ची उम्र है, बिना अंकुश के घूमती रहती हैं, अगर कहीं कुछ... अरे छोड़ो भी, जब अपने पर अंकुश नहीं लगाया उन्होंने तो अब बेटियों पर किस मुंह से लगाएंगी... और उनकी सुनेगा भी कौन...

'घर में ऐशोआराम के सारे सरंजाम जब मोहैया कर दिया जाता है तो जवानी में कोई संन्यास नहीं लेता...'

इस तरह की बातें मुझे सुना-सुना कर यूं ही नहीं कही जाती थीं।

मन में बड़ी आत्मग्लानि होती...

मेरे ही लिए तो लोग सारे परिवार पर कीचड़ उछाल रहे थे...

मेरा व्याकुल मन इतनी-सी बात क्यों नहीं समझ पा रहा था ?

बातें प्रचारित होंगी नहीं, हो चुकी थीं... हो रही थीं और मैं दीन-दुनिया की सुध बिसराए प्यार की दीवानगी में खो गई थी...

ननिहाल से लालजी वैद्य और उनकी बेटी मां को देखने आ गए। मैंने राहत की सांस ली, कुछ दिनों तक घर के माहौल में कुछ तब्दीली आएगी, रोज-रोज वही बातें, वे व्यंग्य वाण नहीं छोड़े जाएंगे...

लालजी विज्ञ पुरुष थे, बड़े भले, विद्वान। अपना बचपन उनकी गोद में खेल कर बिताया था। मेरी प्रत्युत्पन्न बुद्धि, मेरे साहस और मेरी कुशलता पर वह मुग्ध थे। बार-बार मां से उन्हें कहते सुना था :

'पिता की प्रतिभा लेकर आपकी यही लड़की पैदा हुई है, अगर सही राह पर बढ़ी, कहीं भटक न गई तो उनका सारा कारोबार खुद ही संभाल लेगी। अपनी मां के चित्रकला अंकनों को संभालने की अधिकारिणी भी यही बनेगी...

'इसके स्वभाव में द्रौपदी का वशीकरण, चातुर्य और मधुरिमा होगी...'

मां सुनती और मुस्कुरा कर मेरी ओर देखतीं, शायद गर्व का अनुभव करती हों यह सुन कर लेकिन अब...

कितने सप्ताह-महीने बीत जाते मां से कोई संवाद ही न हो पाता।

मेरा रंग सांवला है, कद भी सामान्य से कम ही है इसलिए लालजी वैद्य मुझे अग्निसुता कह कर पुकारते थे।

वह केवल वैद्य ही नहीं, और भी बहुत कुछ थे हमारे घर में। हमारे घर से बाहर कुछ लोग उन्हें ब्रह्मचारी कहते थे... मामा और मां से बहुत हिले थे। मां को चाहते भी बहुत थे क्योंकि :

'वह बहुत कमजोर मन और तन लेकर आई हैं' कहा करते।

मेरी मां लगभग उन्हीं के संरक्षण में बड़ी हुई थीं।

लालजी वैद्य मेरे नानाजी के अन्यतम मित्र भी थे। हम बच्चे उन्हें वैद्य नाना कह कर ही पुकारते थे।

जब भी घर आते, मां आग्रहपूर्वक उन्हें अपने बगल वाले कमरे में ठहरातीं। उनके भोजन-भजन की व्यवस्था खुद करतीं...

वैद्य नाना भोजन करके बड़ी-सी डकार लेते हुए अपने कमरे में आकर लेट जाते और हम सब बच्चे इकट्ठे होकर उन्हें घेर कर बैठते, कोई उनकी तोंद पर हाथ फेरता, कोई उनके बालों से छेड़छाड़ करता।

वह लेटे-लेटे महाभारत की कहानियों का कोई एक प्रसंग चुन लेते और विस्तारपूर्वक उसकी व्याख्या करते हुए ऐसे रोचक प्रसंग हमारे सामने रखते कि हमारी आंखों की नींदें उड़ जातीं। उनकी बातें इतनी मजेदार होतीं कि हमारे समस्त शरीर कान बन कर उनके सामने खड़े हो जाते, स्तब्ध और विभोर...

भारतीय संस्कृति, उसके संदर्भ, उन संदर्भों से संबंधों की व्याख्या, व्यवहार

और उन पर छाया हुआ प्रच्छन्न आध्यात्म भी इतनी सरलता से गम्य बना कर समझाते कि कुछ भी अजाना नहीं रह पाता। मैंने आज तक उस तरह की बातें किसी और से नहीं सुनीं...

लेकिन उस दिन इस तरह की कोई बात सुनने की मनःस्थिति नहीं थी हमारी।

मैं अपने और समाज के संघर्ष की जड़ तक पहुंचना चाहती थी।

मैं जानना चाहती थी कि मेरे सामने सब कुछ स्पष्ट क्यों नहीं हो रहा है।

जिंदगी को जानने-समझने की प्रक्रिया में मेरा पूरा अस्तित्व क्यों विषाक्त होता जा रहा है ?

मैं अपने आप में इतनी निर्बल क्यों हूं ?

प्रेम तो जीवन का चिरंतन प्रकाश है... फिर इसे अपना कर मेरे चारों ओर अंधकार क्यों छा गया ? उसने मुझे ताक़त क्यों नहीं दी ?

अपने विचार को रूपहीन, आकारहीन मैं कब तक रखूं ?

जो कुछ भी मेरे चारों ओर हो रहा था उसका राज़ क्या था, उसकी जिम्मेदारी किस पर थी ?

ऐसे जाने कितने प्रश्न थे जो विषधर बन कर मुझे डस रहे थे।

मैं जानना चाहती थी कि मेरा प्रेम अव्यक्त सत्य की मूढ़ अनुभूति क्यों बनता जा रहा था ?

मेरी छोटी-सी सृष्टि की चिरंतन चेतना स्वरूप केवल मेरी मां थी और उसी से इतनी भयभीत रहने लगी थी मैं...

यह विरोध मेरे अंदर कहां से आया। अपने और मां के बीच की दूरी को गहराते हुए मैं क्यों देख रही थी ?

बंधन अंततः किसका था ?

प्रेम अगर ब्रह्म है तो उसे कई रूपों में अभिव्यक्त होना ही है...

'निषेधों को मान लिया जाए तो मृत्यु के बाद स्वर्ग मिलता है' विद्वान कहते हैं।

फिर जीवन में इतना दुख, इतने द्वंद्व क्यों हैं ?

चिंतन का घनीभूत द्वंद्व बन कर मैं क्यों रह गई हूं ?

यह कैसी अंध सत्ता है, कैसे संस्कार हैं, या कर्मों का विधान है ? जो भी है, आखिर मैं जीवित क्यों हूं ? मैं इन्हें कब तक झेलती रहूंगी और क्यों ?

अपने विचारों को एक तरतीब देकर मैं वैद्य नाना के सामने रख कर पूछना चाहती थी कि ऐसी हालत में मुझे क्या करना चाहिए।

अचानक लगा किसी ने पीछे से मुझे खींच लिया हो।

क्या यह संभव नहीं कि अपनी बात जाकर सीधे मां से ही कह दूं... लेकिन ऐसे मौके पहले भी तो आए...

मां तो कुछ कहने का मौका ही नहीं देतीं, खुद ही सब समझ लेती हैं और भाषण शुरू कर देती हैं।

फिर क्या हुआ... अपना ही मन तर्क करने लगा—अपनी बात निःसंकोच कह दूंगी, कुछ कहेंगी तो हमेशा की तरह सुन लूंगी।

उनसे दूर रह कर पीड़ा के सिवाय आज तक मैंने क्या हासिल किया है। उन्हें धोखे में रख कर मैं सुखी कहां हो सकती थी। हमेशा एक विभ्रम की स्थिति बनी रहती है मेरे सामने। इसका कोई तो निराकरण होगा...

मन आज भी कहता है कि दुनिया की कोई समस्या इतनी गहन नहीं होती कि उसे भेदा न जा सके। सभी पथो का कहीं नहीं, किसी गली-कूचे या लम्बे-चौड़े चौराहों पर अंत होता है...

बिंदु समुद्र को प्रतिबिम्बित करती है... प्राणी मात्र के लहू का रंग एक ही है...अपने आपको अभी भी तैयार कर रही हूं। मां की ममता को अपने संतोष के लिए ही सही तोलना चाहती हूं।

मन ने मुझे एक उलझाव में डाल कर फंसा दिया है लेकिन मेरी बुद्धि मुझे किसी निश्चय तक जरूर ले जाएगी या हो सकता है कोई लम्बा-चौड़ा दूसरा जाल बिछा दे...

तब देखा जाएगा...

अभी तो मैं अपनी बुद्धि द्वारा ही जगत को देखना चाहती हूं, आगे बढ़ना चाहती हूं।

पूस को काटने वाला जाड़ा रात को घातक बन जाता... उस साल सर्दी भी क्या कमाल की पड़ी।

मां सुबह से कमरे में ही जमी रहीं, बाहर निकलीं ही नहीं। रात के मुश्किल से आठ बजे थे और पूरा घर सांय-सांय करने लगा था।

पिता के स्वर्गारोहण से हमारे घर की ऋतुएं ही बदल गई थीं। हमारे आने-जाने का समय, हमारे आचार-विचार सब स्वच्छंद हो गए थे।

मेरा बड़ा भाई तो उद्दण्डता की सीमा पार कर गया था... किसी के लिए न उसके मन में स्नेह था न सम्मान। और तो और भाभी भी उसके कोप से बची नहीं थीं।

चीखना, चिल्लाना, तोड़-फोड़ करना, लड़ाई-झगड़ा कुछ भी उससे छूटा नहीं था। ऐसा लगता जैसे वह बहाना ढूंढ़ता रहता है अपना क्रोध बरसाने के लिए।

शुरू-शुरू में भाभी ने बड़ी सहनशीलता दिखाई, उसकी ज्यादतियां बर्दाश्त करती रहीं कि कहीं तो उनका अंत होगा।

लेकिन हुआ ठीक उल्टा। भाभी को खामोश, सहनशील पाकर वह और उद्दण्ड हो गया। शराफत की मारी मेरी भाभी, हैरान-परेशान रहने लगी। किसी से न कुछ कहा, न सुना... बस सारी बात दिल से लगा कर खामोश हो गईं...

नतीजा यह निकला कि खुद को दुर्बल-असहाय समझने लगीं... बीमार रहने लगीं।

भाई की गतिविधियों पर इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ा। पति-पत्नी के बीच हुए विवाद, वीभत्स घटनाएं देख-सुन कर हम अवाक् थे, खुद भाभी जहर के घूंट पीते-पीते इतनी कमजोर हो गईं कि सोते-सोते भी चौंक पड़तीं... विग्रह की बातें स्वप्न में बड़बड़ाने लगीं। कभी-कभी तो चीख़ मार कर सोते-सोते उठ बैठतीं। उनका खिला हुआ रंग अग्नि में तपाए हुए ताम्बे की तरह हो गया, अक्सर उन्हें बुखार रहने लगा था।

जिस घर को स्वर्ग समझ कर वह आई थीं वह उनके लिए अब नर्क से भी बदूतर हो गया था।

हमेशा मुस्कुराती रहने वाली भाभी की रग-रग में क्रोध विष की तरह फैलता जा रहा था।

कुल मिला कर यही आलम था जब मैंने तय किया कि अब मा से खुल.कर बात कर ही लेनी चाहिए।

मैं अनमनी-सी मां के कमरे की ओर अग्रसर हुई लेकिन बंद द्वार देख कर समझ गई अदर कोई है इसलिए बरामदे में चलहक़दमी भी करने. लगी।

थोड़ी देर बाद मां के कमरे से भाभी निकलीं। मैं अपने मन को ढाढ़स देती हुई धडकनो के होंठों पर उंगली धरती हुई मां के कमरे में प्रवेश कर गई।

अनिश्चय और भय की प्रतिध्वनि बना दरवाजा खुद ही भिड़ गया।

मां का घुटनों में दबा हुआ सिर किवाड़ों की आवाज से चौंक कर खुद ही ऊपर उठ गया...

मां की आंखों में कई भाव एक साथ उभरते दिखाई पड़े। विवशता के आत्म-भार में वह पूरी तरह डूब चुकी थीं... बेगानापन था, उपेक्षा या उदासी, कुछ समझ नहीं आया लेकिन मां के अंदरूनी ज़ख्म उधड़े दिखाई पड़ गए...

अपने ऊपर मुझे ग्लानि हुई... इस आहत औरत को और दुख पहुंचाने का मुझे क्या हक़ था...

लेकिन अब, जब सामने चली गई थी तो वापस आना संभव नहीं था, इससे मां और पीड़ित होतीं...

अतः कई खौफ़नाक विचारों और सन्नाटे में लिपटी मेरी आवाज मुश्किल से बाहर निकल पाई :

'आप मुझसे नाराज़ हैं मां ?' मैंने दबी ज़बान पूछा।

कमरे के पूरे माहौल को जैसे सांप सूंघ गया...मेरे प्रश्न की कोई प्रतिक्रिया मां पर नहीं हुई... वह चुप बैठी ही रह गईं।

ऐसी चुप्पी का सामना मैंने पहले कभी नहीं किया था... मैंने हिम्मत करके उनकी ओर देखा, उनकी आंखों में क्रोध नहीं था। कोई अन्य तूफान भी नहीं, पर आंखें पथराई हुई थीं... एकदम जड़ खाली...

मां की इस जड़ता का कारण क्या मैं हूं ? एक प्रश्न आया मेरे मन में। खुद ही विरोध भी करने लगी, मैं ही क्यों स्वयं को इतनी अहमियत देती हूं कि सब लोग हमेशा मेरे ही बारे में सोचते रहते हैं... मां के सामने क्या अन्य परेशानियां नहीं हैं ? उनका जीवन तो मेरे अलावा भी संघर्षों, परेशानियों, उदासीनताओं का गढ़ बन गया था... एक लम्बी कहानी बन गई थीं मां की समस्याएं...

मैंने मन को स्थिर किया। किसी भी यत्न से मुझे मां की स्वीकृति लेनी थी अपनी जिंदगी को रूप देने के लिए।

कई नुकीले प्रश्न आकर मुझे अंदर ही अंदर खरोंचने लगे।

मैं मां के ठीक सामने ही बैठी थी।

कब मां का मौन टूटे... उनके स्वरों का बांध फूटे, मैं चौकन्नी बैठी इसी प्रतीक्षा में थी।

मां, बेहद कमजोर और सुस्त दिखाई पड़ीं। अफसोस मुझे इस बात पर भी हुआ कि कितने महीनों, शायद वर्षों से मैंने मां की ओर देखा नहीं था।

एक बार मन में यह भी आया कि मां क्या बात करने से क़तरा रही हैं मुझसे।

उन्होंने मेरे मन के उठे प्रश्न को शायद पढ़ लिया।

रूपा ने उन्हें आगाह कर दिया था कि मेरे लिए वह वर की खोज न करें, किसी व्यक्ति विशेष का चुनाव अपने वर के रूप में मैंने कर लिया है, कि मैं अपने निश्चय पर अटल हूं...

मां के होंठों में हरकत हुई। पथराई आंखों से कुछ स्रोत फूटने के आसार नजर आए...

'कश्मीर में कितने दिन रुकीं। वहां और कौन-कौन था ?' कमान से निकले तीर की तरह उनका प्रश्न आया।

'मेरी सहेलियों के अलावा और कौन हो सकता है मां...' पता नहीं कैसे जबान से झूठ बरस पड़ा। इस झूठ की कोई प्रतिक्रिया मुझ पर हो इससे पहले ही मां का स्वर थोड़ा ऊंचा हुआ :

'इस उद्दण्डता के दुष्परिणामों पर तुमने विचार कर लिया है ?'

मेरी ढिठाई भी पराकाष्ठा पर पहुंच गई :

'कैसा दुष्परिणाम मां, आप क्या बात कर रही हैं ?'

'तुम अच्छी तरह जानती हो मैं क्या बात कर रही हूं... मुझसे बिना पूछे, मेरी

अनुपस्थिति में बिना इजाज़त लिए तुम कश्मीर चली गईं ! इस घर के अनुशासन को क्या हो रहा है ? एक मनमानी की, गैरों के साथ गईं, ऊपर से झूठ बोल रही हो ?'

'जिनके साथ मैं गई थी वे ग़ैर नहीं मां, मेरे साथ पढ़ती हैं...'

मा का गुस्सा बांध तोड़ गया। उनकी आंखों से जैसे धुआं निकलने लगा...आंसुओं के रूप में आग बरसने लगी। बुझ-बुझ कर सुलगती हुई ठण्डी-गरम आग...

मैं उसी विषय मे आपसे बात करने आई हूं मां !' मैंने जलते हुए सूत्र का एक सिरा पकड़ लिया।

'अब मुझसे पूछने के लिए शेष ही क्या रहा है ? सारी शर्म-हया, इज्जत-आबरू आजकल बिक गई है... लड़के ध्यान नहीं देते... लेकिन तुम तो बेटी हो... तुम इतनी बेहया कैसे हो गईं ? न तुमने खानदान की आबरू का ख्याल किया न पिता की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का... क्या चाहती हो ? उसी से शादी करोगी ?'

'जी मां...' हिम्मत का सिरा मैंने छोड़ा नहीं।

'तो फिर कर लो, देर किस बात की है ?' मा का गला एकदम से भर आया !

'मैं कैसे करूं, आप कर दें।' मैं भी मौक़ा चूकी नहीं। शब्द एकदम से उछाल कर मां की ओर फेक ही दिए। मेरी निगाहें नीची थीं और मन सापुज्य समाधि में निस्पंद हो गया था।

'मैं कर दूं वह शादी...' मां जैसे ब्रह्माण्ड की ऊंचाइयों से तलातल में धमाके के साथ गिर पड़ीं, 'तुम चाहती हो सबके गले में फांसी का फंदा लगा दूं... तुम्हें तो अपना ही दिखाई पड़ रहा है, मुझे तो सबका देखना है... भाइयों की बात नही करती लेकिन तुम्हारी अभी एक छोटी बहन है, उसका भविष्य क्या बनेगा... शादी मैं करा दूं... अरे, जब इश्क करने गई थीं तब मुझसे पूछा था कि अब शादी के लिए पूछ रही हो...

'भारतवर्ष धर्म और संस्कृति का जनक रहा है... और मैं देश-काल-समाज की दृष्टि से इस परिवार की रचयिता हूं। अपने विवाह और संतानों को प्रामाणिक कर अपने जीवन काल में ही खोया हुआ गौरव प्राप्त करना चाहती हूं इसीलिए समाज के जटिलतम संघर्षों से आज तक जूझती रही हूं... मेरे दुखों ने ही मुझे एक नई शक्ति प्रदान की है, उत्साह दिया है, कुल मिलाकर एक व्यक्तित्व दिया है...

'तुम्हारे इस कृत्य से कौन-सा ठौर मिलेगा मुझे ? समाज हमें क्या कह कर पुकारेगा, नाते-रिश्तेदारी में हम क्या मुंह दिखाएंगे। और ये तुम्हारे भाई... कौन समझाएगा इन्हें... एक रिश्ते को मंजूरी मिले इससे पहले खून की नदियां बह जाएंगी...इस विषय में कभी सोचा है ?'

'समाज ने हमें क्या दिया है मां, सिवाय अपयश, और निंदा के... आपके मुंह से समाज की बात बड़ी अजीब लग रही है... आप किस समाज की बात कर रही हैं, कौन-सा समाज ? मानव समाज के अतिरिक्त और किसी समाज की मैं कल्पना भी नहीं करती...'

मैं भी उस दिन जान पर खेल गई। ऐसा मौक़ा मुझे दुबारा नहीं मिलना था इसीलिए अपनी सभी ताक़तें बटोर कर मैंने मां से संवाद जारी रखा...

मेरी आंखें जरूर निरीह दिखाई पड़ रही होंगी लेकिन मेरे शब्दों में चमक थी। बस एक बार शुरू किया तो बस कहती चली गई :

'मैंने तो आज तक यही सोचा था कि आप कभी किसी व्यक्ति या समाज के बारे में हमारे साथ हैं। आपने किसी समाज की जानकारी भी हमें नहीं दी कि हम उसकी विशिष्टता समझ सकें। हमें तो यह भी नहीं मालूम कि आप स्वयं समाज की अहमियत कितना मानती है।

'आपने हमें हर संस्कृति, हर धर्म, हर देश और हर भाषा का आदर करना सिखाया है... अब यह कौन-सा रूप आज दिखाई पड़ रहा है आपका ?

'आप ही तो कहती थीं मां—प्रेम ईश्वर का रूप है ! मैंने भी वही किया है। मुझे विश्वास था आप प्रेम का आदर करेंगी...

'अब आप ही बताइए मा, प्रेम करके मैंने क्या अपराध किया ? यह भी स्पष्ट करें कि मैं आपके किस रूप को 'सत्य' समझूं... आपसे कम से कम मुझे आशीर्वाद की उम्मीद थी...' लगा मैं फफक कर रो पड़ूंगी...

भरी हुई मैं, गुड़हल के फूल की तरह लाल आंखें लिए हुए अपने आपमें घुट कर कमरे से बाहर निकल आई।

पूरे बदने में जैसे एक साथ झिनझिनी चढ़ आई हो, या नन्हीं-नन्हीं सुइयां अचानक सारे बदन में चुभने लगी हों।

जितनी देर मां के कमरे में थी एक खुली किताब की तरह मैं मां के चेहरे पर बिछे झुर्रियों के जाल को अपने हृदय में उतारने की चेष्टा करती रही थी। सोचा था अपने दुखद वार्तालाप के लिए बाद में मां से माफी मांग लूंगी।

लेकिन यहां तो दृश्य ही बदल गया।

मां के कमरे में टिकना असंभव हो गया तभी मैं कमरे से निकली थी और अब खाण्डे की धार पर चल कर—आंगन पार कर रही थी। लालजी नाना से मुलाक़ात हो गई।

शायद वह मां के पास जा रहे थे, मुझे देखा तो रुक गए।

मैंने किसी तरह आंखों में छलक आए आंसू पिए। अवरुद्ध गले पर अंकुश लगाने की कोशिश की।

आगे बढ़ कर मैं उनके चरणों पर झुकी कि आंखें दुबारा देखी न जायं और

प्रणाम की रस्म भी पूरी हो।

उन्होंने मुझे बीच से ही उठा कर गले लगा लिया :

'आओ, आओ, हम तुम्हें ही ढूंढ़ रहे थे।'

मन में खोट आया, जा तो मां के कमरे की ओर रहे थे और कहते हैं तुम्हें ही ढूंढ़ रहे थे।

लेकिन ऊपर से सम्भ्रांत बनी रही :

'क्यों नाना जी, मुझे क्यों ढूंढ़ रहे थे आप...' कहीं चोर की दाढ़ी वाला तिनका भी चुभा, क्या लालजी नाना को सारी बातें मां बता चुकी हैं ?

'कोई खास बात नहीं थी बेटा ! इतने दिन हो गए हवेली में आए हुए, तुम दिखाई नहीं पड़ीं इसलिए...'

मन को राहत मिली लेकिन खटका कम नहीं हुआ। लालजी नाना कोई साधारण पुरुष नहीं थे...

'कहिए नाना जी, कैसे हैं आप।' मैं आश्वस्त होने का नाटक करने लगी।

'मैं तो ठीक हूं बेटा, पर तुम्हें क्या हो रहा है, सूख कर कांटा होती जा रही हो।'

'काम बहुत है न...'

'इतना काम ठीक नहीं कि सेहत पर बात आए... मत किया करो इतना काम...अभी भुवन से वात करता हूं...'

मां का नाम सुन कर मेरा रंग उतर गया क्योंकि लालजी नाना खुद बोले :

'लेकिन अभी तो तुमसे बात करनी है, भुवन को मैं समझा दूंगा... एक गिलास चाय पिलाओ पहले, तुलसी के पत्ते वाली...'

'कहां बैठेंगे नाना जी, सामने सहन में या मेरे कमरे में ?' मैंने पूछा।

'कहीं भी बैठो, चाय गरम होनी चाहिए...' फिर कुछ सोचते हुए, 'चलो, तुम्हारे कमरे में ही चलते हैं।'

लालजी नाना अपना भारी-भरकम शरीर लिए मेरे कमरे की ओर अग्रसर हुए और मैं उनके लिए दूध में बनी तुलसी की पत्ती वाली चाय का आर्डर महाराज को देने रसोई की ओर निकल गई।

अचानक लालजी नाना के मिल जाने से मैं कुछ सहज तो हो गई थी। रसोई की ओर जाना अच्छा लगा वरना कुछ महीनों से शायद मैं अपने घर की दीवारों से भी छिपने लगी थी।

अचानक मुझे रसोई के दरवाजे पर देख कर महाराज मेरी और लपक आया :

'आज तो रसोई पवित्र हो गई बिटिया रानी, कैसे आना हुआ ?' मुस्कुराते हुए उसने पूछा।

मैंने लालजी नाना के लिए स्पेशल चाय का आर्डर दिया और अपने कमरे में आ गई।

लालजी नाना मेरे तख़्त पर मसनद के सहारे बैठ चुके थे। उनकी तोंद तखत के किनारे से लग गई थी।

गणेश जी की तरह मोटे थे हमारे लालजी नाना। उतने ही बुद्धिमान, कुशाग्र बुद्धि, चारित्रिक बल के धनी, स्नेहयुक्त, फिर भी दूरदर्शी इतने कि उड़ती चिड़िया पहचान लें। विनोदी इतने कि कभी किसी को थिर न बैठने दें।

उनकी धाक थी हर घर में, जहां वह जाते थे। उनकी बात ब्रह्मवाक्य मान ली गई थी।

कई लोग उन्हें संतों की परम्परा में जुड़ी एक कड़ी ही मानते थे। व्यक्तित्व में आकर्षण इतना कि लोग उनकी ओर खिंचे चले आते थे।

अगर मेरी समस्या का सकारात्मक समाधान लालजी नाना बता देते तो उनकी बात काटने वाला कोई नहीं था, लेकिन अगर नकार में चले गए तो तीनों लोक में मेरा विस्तार नहीं था। इसीलिए जहां एक ओर उनसे मिलना मुझे अच्छा लग रहा था वहीं एक खटका भी था।

मैं शायद कुछ नर्वस-सी हो रही थी।

अपने नाना जी से और मां से कई कहानियां सुनी थीं लालजी नाना की। उनके पास जरूरत से अधिक कोई परिग्रह नहीं था। वह निस्पृह थे। याचक उनके द्वार से खाली हाथ कभी नहीं जाता था। उनकी जीवनचर्या अद्‍भुत और प्रभावशाली थी। कूटनीतिज्ञता इतनी कि सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे।

मां ने कहा था, अपने जवान बेटे की मौत पर लालजी नाना की आंखों में एक बूंद आंसू नहीं आया था, न उनकी दिनचर्या में कोई परिवर्तन आया। हमेशा की तरह पूजापाठ ध्यान का क्रम उस दिन भी उनका वही रहा।

मुझे बहुत आशा थी लालजी नाना से, साथ ही कहीं मैं चौकन्नी भी थी।

कमरे में आकर मैं सामने के मोढ़े पर बैठ गई थी।

हमारे बीच चुप्पी रही कुछ समय तक।

लालजी नाना क्या सोच रहे थे, मैं नहीं जानती। लेकिन मैं अपने मन को तरतीब देने में लगी थी। अपनी बात मैं उनके सामने इस तरह रखना चाहती थी कि प्रभाव उन पर मेरे मनोनुकूल पड़े लेकिन ऐसा कोई रास्ता सूझ नहीं रहा था। एक बात मन में आती कि ऐसे कहूं फिर अपना ही मन उसे काट देता कि इसका असर विपरीत पड़ गया तो... फिर मैं कमरे की खिड़की के बाहर आसमान की ओर देखने लगती किसी नई बात की तलाश में।

लालजी नाना अवश्य मुझे ध्यान से देख रहे होंगे क्योंकि कमरे में पूरी निस्तब्धता थी। मुझे यह भी विश्वास हो गया कि मेरी समस्या से वह पूर्णतः अनजान नहीं हैं।

सेवक लालजी नाना की चाय लेकर कमरे में दाखिल हुआ। उसके हाथ से पीतल के गिलास में रखी चाय लेकर मैंने लालजी नाना को पकड़ा दिया और फिर आकर अपने मोढ़े पर बैठ गई।

'फांस की तरह तुम्हारे गले में क्या अटका है मेखला, कहो, तुम्हें क्या कहना है...'

मैं कहना चाहती थी कि बात तो आपको करनी थी मुझसे मैं क्या कहूं... लेकिन यह बात मैं कह नहीं पाई। इस बात में कोई संदेह नहीं था कि पहल बेशक उन्हीं की ओर से हुई थी लेकिन कहना तो मैं भी बहुत कुछ चाहती थी।

मेरी खामोशी का स्वागत करते हुए वही बोले :

'तुम अपने मुंह से नहीं कहना चाहती, कोई बात नहीं, चलो मैं ही बोलता हूं, कि तुम क्या कहना चाहती हो... बोलो, बताऊं तुम क्या कहना चाहती हो ?'

'बताइए न' मुझे जैसे कोई युक्ति मिल गई हो। मैंने धीरे से अपना सिर उठाया, उनकी ओर एक नजर देख कर आंखें फिर झुका लीं।

'इससे पहले कि मैं विस्तृत ब्योरे में जाऊं, तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दे दो...'

'जरूर, पूछिए नाना जी, मैं किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकती हू।' मैंने कह तो दिया लेकिन मेरे दिल की धुकधुकी अचानक बढ़ने लगी।

'जिस व्यक्ति को तुम पति रूप में वरण करना चाहती हो उसमें तुमने कौन-कौन से गुण देखे... बस, इतना बता दो मुझे।'

क्षणार्द्ध के लिए मैं गूंगी हो गई। मेरी आंखें शायद उन्हीं के चेहरे पर टिकी रहीं लेकिन उनमें जड़ता अपनी पराकाष्ठा पर थी और आप जानते हैं जड़ता की कोई पहचान नहीं होती।

शून्य पर रेंगती हुई मेरी उदासीन दृष्टि, विचारो की भीड़ को चीरती हुई उन्हीं राहों पर जा टिकी जिन पर चलना मेरे लिए वर्जित घोषित हो रहा था...

मुझे लगा उनके प्रश्न का कोलाहल उनके अपने ही होंठों पर ठहर गया है।

उनकी ध्वनि सुदूर किसी विवर में कांप कर चुप हो गई थी। एक घनीभूत मौन अवनि से आकाश तक तन गया।

मुझे लगा मेरे और लालजी नाना के बीच हजारों जिंदगियां अधर में त्रिशंकु की तरह लटके-लटके ही बीत गई हों।

लालजी नाना के प्रश्न का मैं क्या जवाब देती कि उस आदमी में मैंने क्या-क्या गुण देखे...

क्या यह सच नहीं कि प्रेम आदमी को अंधा बना देता है और एक बार जो अंधा हो गया उसके लिए गुण क्या और दोष क्या।

अपने ही अंदर मां की ध्वनि सुनाई पड़ी :

'आंख पर जमा हुआ जाला कोई चिमटी से पकड़ कर खींच ले सँब ?.... कुछ तो दृश्य होगा, न भी हुआ तो उसे अनुभव की दृष्टि तो दी ही जा सकती है।

'प्रेम क्या है मेखला' लालजी नाना कह रहे थे, 'विवेक, ज्ञान...वह प्रकाश जो सारे अंधेरों को बुहार कर अखण्ड आनंद की अनुभूति करा दे... उसे ही तो प्रेम कहेंगे ?

'किसी अमोघ इच्छा से स्फूर्त यह जीवन... आदमी का जन्म और मरण की काली रात्रि के बीच यह राजयुक्त व्यामोह... किसी अंतर्चेतना का ही प्रभाव है, एक अभिव्यक्त प्रवाह...

'मेखला, यह तुम्हारी परीक्षा की घड़ी है, भगवान तुम्हें सद्बुद्धि दें... आदमी के जीवन में विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान है, एक महत्वपूर्ण संगठन है...

'जीवन... मरण और वरण के बीच में एक स्थिति है मरण की... इन्हीं चारों खम्भों पर ससार के सभी दर्शन आधारित हैं। विवाह के पश्चात नारी मां बनती है तब इसकी पूर्णता होती है, उसकी देह पूरे विकास पर तभी आती है... आगे की यात्रा इसके बाद शुरू होती है। अगर यहां तक का विकास ठीक-ठीक हुआ तब आगे मन, मृत्यु तक संवर्धित और आत्मत्व को प्राप्त कर सायुज्य शान्ति में लीन हो जाता है...

'पुत्र की कामना पूरी होने पर वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है क्योंकि पति जीवात्मा बन कर पत्नी की कुक्षि मे प्रवेश करता है और पुत्र रूप में जन्म लेकर पिण्डोदक क्रिया से स्वर्ग के शाश्वत लोगों में जीवन का स्थान सुरक्षित करा देता है।

'हिंदू शास्त्रों में पुत्र की भूमिका बड़ी अहम् है पुत्री, पुत्र से ही वंश बेलि बढ़ती है और खानदान वंशवृक्ष कहलाता है। हजारों वर्ष पूर्व के इतिहासों की खोज की जाती है... परिवार और परम्पराओ का अपना मूल्य है मेखला और उन प्रचलित मूल्यों की रक्षा करना प्राणिमात्र का कर्तव्य होना चाहिए...

'और अगर इस प्रवाह को मोड़ना या तोड़ना जरूरी लगे तो इसका पर्याप्त कारण होना चाहिए जो सहज मान्य हो...'

एक ठण्डी सांस लेकर अनायास मैं पहलू बदलने को हुई कि लालजी नाना ने मुझे रोक दिया :

'अभी ठहरो, मैंने अपनी बात पूरी नहीं की है। मैं जो भी कह रहा हूं उसे ध्यान से सुनो और मुझे अपनी बात पूरी कर लेने दो...' वह कहने लगे, 'मैं तुम्हारी बात सुनूंगा... मेखला, मेरी बच्ची, तुमने अपने आपको वापस न निकल सकने वाली, बिना सीढ़ियों की बावड़ी में फेंक दिया है... अपने जीवन में अपने ही हाथों कांटे बो दिए हैं... तुम्हारे ऊपर कुछ जिम्मेदारियां थीं,... मां की... घर की जिम्मेदारियां. .. तुम्हारी बुद्धि-विवेक पर तुम्हारी मां को भरोसा था... परंतु अब... ?'

लालजी नाना चुप हो गए। कुछ समय बाद खामोशी मुझे तोड़नी पड़ी :

'अब क्या नाना जी ? मैं किसी जिम्मेदारी से इनकार कर रही हूं।' मेरा गला भर आया... शब्दों में दहक थी जो घुट कर रह गई...

लालजी नाना कुछ नहीं बोले। बात फिर मुझे ही शुरू करनी पड़ी :

'मैं अपने दायित्व अच्छी तरह समझती हूं। आप मेरे पूज्य हैं, आप से कुछ कहना गुस्ताखी होगी, लेकिन नाना जी, अपनी फरयाद लेकर मैं जाऊं भी कहां...मैं सिर्फ एक बात जानना चाहती हूं, दायित्वों को निभाने वाले लोग क्या अपनी जिंदगी जीने का अधिकार खो देते हैं ?

'मुझे यह शिक्षा मिली है कि अपने निर्णय स्वयं लो और जिदगी का सिर्फ एक निर्णय लेने की बात मेरे मन मे आई और चारो तरफ़ हंगामा खड़ा हो गया ?

'मां ने सदैव समाज की संकीर्णताओं की आलोचना की है... आज वही समाज उनके लिए सम्माननीय हो गया जिसकी मान रक्षा के लिए वह अपनी संतान की खुशियां भी लुटा सकती है ?

'अगर एक रूढ़िवादी चिंतन उनका था तो क्यों हमारे स्वतंत्र भावों को समृद्ध होने के अवसर दिए उन्होंने...

'मेरी मां की कथनी और करनी मे इतना अतर क्यों है नाना जी ? आप लोग कहते हैं मां बहुत हठी हैं, उनकी हठ के आगे अततः सभी को झुकना पडता है। मैं जानती हूं लेकिन आप लोग शायद यह जानना नहीं चाहते कि मैं भी उन्ही की संतान हूं और हठ मुझे भी मां से ही विरासत मे मिला हो सकता है।...

'इतने विरोध, इतने अंतर्भेद... मेरी सोच भटक जाती है, मै उलझ कर रह जाती हूं... चुप रहने, इच्छाओं को निरतर मां, घर, परिवार की मर्यादा पर दबाते-दबाते लगता है मेरे मन में विकारों ने डेरा डाल रखा है... मेरे सोचने-समझने का तरीका शायद विकृत हो गया है लेकिन इसके लिए जिम्मेदार क्या मैं ही हूं। मां नहीं हैं इसकी जिम्मेदार ?'

'देखो मेखला, अपनी मां या किसी और के सर अपने किए की जिम्मेदारी ठोक कर अगर तुम्हारी समस्या हल हो जाती है तो निश्चय तुम उस दिशा मे अपने सोच को आगे बढ़ने दो। लेकिन मैं नहीं समझता ऐसा कुछ होगा...

'रही तुम्हारी मां की बात... उस बेचारी को तुम लोग अपने पाप-पंक में घसीटना छोड़ दो... अपने ही कंटकों से वह छिदी रहती है, उसके शारीरिक-मानसिक संघर्षो का कोई अंत वैसे ही नहीं, अब अगर अपने किए की जिम्मेदारी भी तुम उसके सिर डालोगी तो यह बहुत दुखद बात होगी...' नाना जी के क्रोध का आवेश बढ़ता दिखाई पड़ा।

मुझे ऐसा लगा जैसे किसी ने मेरे गाल पर कस कर तमाचा जड़ दिया हो। पूरा जिस्म लज्जा और आक्रोश से तमतमा उठा किंतु मेरे अंदर का कोलाहल धीमा

पड़ने लगा।

लालजी नाना, मां के परम आत्मीय थे। मां का कोई भी दुख उन्हें पीड़ा पहुंचाता था। साधु-स्वभाव का व्यक्ति अगर किसी कारणवश पीड़ित हो तो यह किसी के लिए अच्छा नहीं होता, हम जानते थे। फिर लालजी नाना हम सबको भी कम नहीं चाहते थे। मैंने विषय बदलना ही ठीक समझा :

'अपने अविनय के लिए, मैं क्षमा चाहती हूं नाना जी, इस समय मैं अधिक कुछ कह नहीं पाऊंगी। मुझे सोचने का थोड़ा समय दीजिए... फिर मैं आपसे बात करूंगी...'

'तुम अपनी बात अभी भी कर सकती हो। मैं सुनने के लिए तैयार हूं। मेरे मन मे तुम्हारे प्रति क्रोध भी नहीं है...' उन्होंने कहा।

मैंने उनकी बात बीच मे ही काट दी :

'आज नही नाना जी, बात आपके मन की नहीं है, मेरा ही चित्त अस्थिर है...आप कोई सीधी बात कहेंगे, वह भी मुझे उल्टी लगेगी, यह भाव-दोष मेरा होगा इसीलिए कह रही हूं, अभी बात नहीं कर पाऊंगी...

'एक बात और... शायद मां को मैंने गलत समझा... यह बात विचित्र लगेगी आपको लेकिन सत्य है यह कि अपने आदर्शों और संस्कारों की प्रेतच्छायाओं में लम्बे प्रवास के बाद मां शायद बहुत आगे निकल गई हैं... जो था उसका बहुत कुछ उनसे पीछे छूट गया है और अब, यहां तक आकर गांधारी की तरह उन्होने भी अपनी परिस्थितियो के अनुसार अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली हैं। सत्य का साक्षात्कार वह नहीं करना चाहतीं... यह कह सकती हूं कि मां सत्य नहीं जी रहीं... केवल झूठ की प्रतिच्छाया में अपने आपको लपेट कर रख लिया है उन्होंने....

'अगर वह अपने आपसे मुक्त हो गई होतीं तो सहज रह लेती, तब शायद हम सब भी सहज हो पाते। भाई भी तब इतना उद्दण्ड न होता... शायद, मुझे लगता है, मेरा ऐसा दावा नहीं कि ऐसा होता ही, फिर भी, जो मन में आ रहा है आपको बता रही हूं...

'दो तरह की संस्कृतियो में पले हम लोग विकारग्रस्त जिजीविषा मात्र रह गए हैं नाना जी... यही प्रारब्ध का भोग होता है संभवतः जिसे हम भोगने को विवश हैं।

'आपको तो सब कुछ पता है, बड़ा भाई केशव सोचता है कि मां को मोहजाल में फंसा कर किसी घिनौने षड्यंत्र द्वारा मझले विभूति ने उसके अधिकार छीन लिए हैं और उसे निर्धन बना कर उसकी आजाद आनंदलहरियों को बांध दिया है। सबको मीठी-मीठी बातों से अपने में मिला कर अत्याचार कर रहा है। पर मैं तो जानती हूं यह सत्य नहीं है...

'विभूति हमारे तीनों भाइयों में अधिक समझदार है; विवेकशील है... पिता का

साम्राज्य एक अभिभावक की तरह संभाल रहा है...

'व्यापार की अपनी समस्याएं हैं, इस्टेट की जंजाल हैं... कर्ज़... लेना-पावना निपट जाने पर वह स्वयं बची हुई सारी जायदाद का सबमें उचित बंटवारा कर देगा...वह बेईमान नहीं है...

'मां ने बहुत सोच-समझ कर ही उसे यह अख्तियार दिया है, केशव भाई को लगता है यह अधिकार उनका था। और ठीक लगता है लेकिन संभालने की क्षमता है उनमें ? उनके हाथ में दे दिया होता तो अब तक उड़ा-पड़ा के जाने क्या कर दिया होता उन्होंने। मां यह बात महसूस करती हैं। लेकिन हम सबकी भलाई के लिए ही उन्हें उल्टी गंगा बहानी पड़ी। सच पूछिए तो मैं मां के विवेक की प्रशंसक हूं इस मामले में...

'इधर कामिनी मनमानी करती है... मां उसे डांटती भी हैं, लेकिन उस डांट में भी अपनत्व होता है, गुस्सा करती हैं तो उसमें भी प्यार छलकता है... लेकिन मुझसे जरा-सी गलती भी हुई तो वह मेरा गहन अपराध हो जाता है... मुझसे बोलतीं तक नहीं।

'मैली चादर की तरह उन्होने मुझे पलग से उठा कर दूर फेंक दिया है। मुझे लगता है, उनकी दृष्टि मे मैं पाप की तरह निकृष्ट हो गई हू... मेरी तरफ से, मेरे भविष्य से एकदम अलग हट गई है, विरागी बन गई हैं... कोई सरोकार नहीं रखना चाहतीं और इस बात के कितने ही प्रमाण मैं दे सकती हू अगर आप चाहें तो...' एक ही सांस मे इतनी सारी बात कहने के बाद मैं एकदम से चुक गई।

लालजी नाना देर तक मुझे देखते रहे, फिर तखत पर पहलू बदल कर मुखातिब हुए :

'जो कुछ तुमने कहा है बेटी, उसके प्रमाण जरूर होगे तुम्हारे पास। मैं तुम्हारी बात पर शक नही करता, लेकिन मैने जो स्वय देखा है, महसूस किया है उसे झूठ मान लूं इसका कोई प्रमाण नही है मेरे पास।

'तुमने अपनी बात कही, अब मेरी भी सुन लो... तभी हम किसी नतीजे पर पहुंच पाएंगे। तुम्हारी ओर से जहां तक मां की उदासीनता का सवाल है, मैं पूरी दृढ़ता से कह सकता हूं कि मुझे ऐसा कभी नही लगा कि वह तुम्हारी ओर से उदासीन है। तुम्हारी मां ने आज तक तुम्हारे खिलाफ एक शब्द भी नहीं बोला है...'

मुझे लगा लालजी नाना मुझे आश्वस्त करने के लिए ही मां के पक्ष मे बोल रहे हैं। मुझे कुछ अधिक राहत नही मिली उनकी बातो से बल्कि मन और भी उमड़ आया :

'मैं कहना तो नही चाहती थी नाना जी, लेकिन सच बात तो यह है कि मुझे बड़ी शिद्दत से यह बात महसूस होने लगी है कि अपने घर में इस तरह अपमानित होकर रहने-जीने से तो किसी अपरिचित देश में जाकर एक आम आदमी की तरह

मेहनत-मज़दूरी करके जीना कहीं बेहतर होगा... कम से कम यह [illegible]की तो नहीं रहेगी जो यहां है...

'घर में सबके लिए मेरे दिल में प्यार है, स्नेह है, बरसों मैं मां के पीछे-पीछे छाया की तरह घूमती रही हूं। मां के छोटे-बड़े सभी काम मेरे ही हाथ से अंजाम पाते रहे हैं...एकनिष्ठ श्रद्धा और प्रेम उन्हें मुझसे ही मिला है, किसी से भी पूछ लीजिए ...लेकिन अब वे मेरी ओर उदासीन ही नहीं हैं, मेरा अविश्वास भी करती हैं...

'मैं घर में हूं या नहीं, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं... मेरा अस्तित्व उनके लिए समाप्त हो चुका है। मेरा प्रेम, मेरा विश्वास छोड़कर लगता है मां बहुत आगे निकल गई हैं... मैंने कोई गलती किया हो तो कहतीं मुझसे, डांटती-फटकारतीं, मुझ पर से तो उन्होंने अपना अधिकार ही हटा लिया...

'घर में मां का नजरिया देख कर दूसरे लोग व्यवहार करते हैं। कभी कोई बेरुखी से कुछ कह देता है, कभी मुंह फेर कर चला जाता है...

'विधि की तरह क्रूर होकर मां ने अपना सारा विश्वास मुझ पर से उठा लिया है। जब कभी मैंने नजदीक जाने की कोशिश की मां पहले ही दस गज दूर निकल गई... क्यो नाना जी, यह घर क्या मेरा नहीं है ? मैं क्या उनकी संतान नहीं हूं ? मुझे भी तो गर्भ मे धारण किया है उन्होंने। कामिनी उनकी डांट-फटकार की अधिकारिणी है, मैं नही ?

'ऐसा क्या कर दिया है मैंने ?

'मैं झूठी नहीं हूं। विश्वासघात भी मैंने नहीं किया। किसी से प्रेम करना विश्वासघात कैसे हो गया नाना जी, आप ही उनसे पूछ कर मुझे बताइए...

'अपने प्रेम का ज्वालामुखी लिए जब भी मैं उनके पास गई हूं, कुछ कहना-पूछना चाहा है, मां ने कभी वह मौक़ा मुझे नहीं दिया। पुकार-पुकार कर घर की भीड़ अपने चारो ओर जमा कर ली है ताकि अकेले में मैं उनसे कुछ कह न सकूं।

'कभी अकेली मिल भी गई हैं तो ऐसा जताया है कि अपनी परेशानियों के भवर से निकल ही नहीं पा रही हों... और उन्हें उनकी परेशानियों मे देख कर मैं वहीं ढेर हो गई हूं।

'उन्हें बिलखता हुआ देख कर अपनी परेशानियां उन पर लादने का साहस मैं कभी बटोर नहीं पाई... यह मेरी उदासीनता तो नहीं हो सकती नाना जी, मेरी इस विवशता को मां समझ क्यों नहीं पाईं ?'

'अपनी मां के प्रति इतना अलगाव तुम्हारे अंदर पाकर मुझे खुशी नहीं हुई मेखला।' लालजी नाना बोले।

'खुशी तो मुझे भी नहीं नाना जी, पर विकल्प क्या है ?'

'विकल्प तो ढूंढ़ने से मिलता है बेटी।'

'क्या ढूंढूं' मेरी आंखें फिर बरसने की बेताबी में खुलने, बंद होने लगीं।

'तुम एक विचारशील लड़की हो। शांत चित्त से सोचो, कोई मां-बाप अपने बच्चों के लिए पराया नहीं होता और भुवनमोहिनी ने तुम लोगों के लिए माता-पिता दोनों का फर्ज निभाया है... ऐसी मा के लिए तुम इतने दुराव की बात सोच कैसे पाईं, आश्चर्य मुझे इस बात का है।'

'दुराव की बात मैंने सोची नहीं है, दुराव मैंने झेले हैं, उपेक्षाए सही हैं, परायापन भोगा है...'

'यह सब तुम्हारे अपने मन का फितूर है।'

'आपकी बात अगर मान भी लूं तो यह फितूर दूर करने की कोशिश नही हो सकती नाना जी ?'

'अपनी मा के इतने नजदीक रही हो तुम। तुम उसकी परेशानियो को अच्छी तरह जानती हो। तुम अकेली तो नही हो मेखला कि तुम्हारी मा सिर्फ तुम्हारी बात सोचे...'

'कामिनी की बात तो मा सोचती हैं।'

'कामिनी ने जो कुछ किया उनकी सीमाओं मे रह कर किया है। उसे वह अपने जैसी ही समझती है। तुम्हारी बात और है। तुम तो एक चुनौती बन कर खडी हो गई हो उसके सामने। तुमसे कुछ कहने से पहले उसे खुद सोचना पडता होगा कि क्या कहे, क्या न कहे... और फिर तुम यह भी जानती हो कि तुम्हारी मा बहिर्मुखी नही है। वह सारा जहर अपने अदर ही पचा लेना चाहती है। और बेटी, आदमी की सहन-क्षमता उम्र के साथ कम होती है, बढती तो नही।'

मैं चुपचाप लालजी नाना की ओर टुकुर-टुकुर देखती रह गई। मा के प्रति उनकी सहानुभूति कही अच्छी भी लगी, आखिर कोई तो था जो मा के लिए सोचता था। कुछ एहसास मुझे उस पीडा का भी हुआ जो मेरी वजह से मा को मिल रही थी... लेकिन कोई रास्ता नही सूझा कि अब मुझे क्या करना चाहिए।

बहुत देर बाद मैं इतना ही कह पाई :

'पता नही नाना जी, शायद मुझमे ही साहस की कमी है और यह कमी मैं तरह-तरह से मा पर आरोपित करती रहती हू। मेरा दिमाग जम जाता है, मैं कुछ सोच नहीं पाती।'

'बात साहस की नहीं है मेखला, कुछ संस्कार तुम्हे भी अपने माता-पिता से मिले है, यह उन्हीं सस्कारों का बंधन है... पुराने संस्कारों के बंधन तुम्हारे भी ढीले नही हैं। जो जिंदगी तुम चुनना चाहती हो, वह तुम्हारे लिए आसान नहीं होगी... कोई कुछ न भी कहे तो तुम्हारे वे ही संस्कार तुम्हारे आडे आएंगे, तुम चैन से जी नहीं पाओगी। आने वाले चंद बरसो में प्रेम का आवेग जब कम पडता है तो बेचैनी का कारण भी वे ही संस्कार होते हैं...'

'पारिवारिक सद्भाव अगर बना रहे तो संस्कारों पर विजय पाया जा सकता

है।' मैंने तर्क के तरकश से आखिरी तीर निकाला और चला दिया।

'सद्भाव कैसे रह सकता है ? तुम पढ़ी-लिखी समझदार लड़की हो, प्रवाह के विरुद्ध जाओगी तो थपेड़े नहीं मिलेंगे ?'

मै निरस्त्र हो गई। मन ने अपने सोच का दर्पण मेरे आगे करके अपना ही रूप निहारने को कहा...

बातचीत का कोई मुद्दा उस घड़ी शेष नहीं था।

बाहर से किसी ने आवाज दी।

नाना जी उठ खड़े हुए। जाते-जाते इतना और कह गए :

'मैं फिर आकर तुमसे बात करूंगा। तब तक सही-गलत का विचार तुम स्वयं कर लो।'

लालजी नाना से किसी सहायता की उम्मीद निर्मूल साबित हुई।

मुझे अफसोस अपने आप पर हुआ कि उनसे मदद मिलेगी यह उम्मीद मेरे मन में जागी ही क्यों !

अपने संकल्प की सौगंध मैं दोहराने लगी :

लोगों के मन की संकीर्णता को बदलने की आवश्यकता है...

समाज की सड़ांध को दूर करने के लिए व्यक्तियो के मन का परिशोधन होना चाहिए...

प्रेम मे गोपनीयता कैसी ? उसमे जाति-पांति पर विचार करना या इस आधार पर समझौता करना तो उसका व्यापार हुआ...

'सारे अपवादों को सह कर नए मूल्यों की स्थापना करने के लिए मैं कटिबद्ध हूं।' एकांत कमरे में मुझे अपनी ही आवाज सुनाई पड़ी :

'हर व्यक्ति प्यार करने के लिए स्वतंत्र है, यह व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है... क्या प्यार भी किसी से पूछ कर किया जाता है...

'मेरे प्यार की ताक़त और मेरा साहस अगर बना रहा तो समाज की खोखली जड़ों को एक दिन मैं हिला दूंगी...

'इतनी ताक़त मुझमें है, साहस मैं पैदा करूंगी। करना पड़ेगा... वरना, सब समाप्त हो जाएगा। मैं स्वयं समाप्त हो जाऊंगी और मैं इस तरह समाप्त होना नहीं चाहती।

'मां को यह बात समझनी होगी...

'उन्हें समझाने का दायित्व मेरा है, अगर उन्होंने मेरा साथ दिया तो यह चक्रवात मैं पार कर लूंगी।

'और मां को मेरा साथ देना होगा...'

बेहुला

समझ नहीं पा रही हूं कि पहले अपना नाम बताऊं या सीधी बात शुरू कर दूं... जाने कैसे लोग परबीती कह-कह कर पोथियां रंग डालते हैं, मैं तो आप-बीती को ही कोई तरतीब नहीं दे पा रही हूं जबकि सभी कुछ इन्हीं आंखों के सामने से गुजरा है, अच्छा-बुरा इसी मन ने महसूस किया है, शरीर ने भोगा है... फिर भी स्पष्ट नहीं हो रहा है कि कहां से शुरू करूं और कहां करूं अपनी कहानी का अंत...

लगता है शुरू करते ही मेरी कहानी खत्म हो जाएगी, जबकि मैं जानती हूं ऐसा नहीं होता। शुरू और अंत के बीच में एक छोटा ही सही, पर अंतराल होता है। यह सच है कि आरम्भ अगर है तो अंत भी जरूर है, भले ही कोई अंत का अस्तित्व न माने। किसी और की क्या कहूं खुद मुझे ही कभी-कभी किसी अंत का अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। बहरहाल, समस्या है अपनी बात आप तक पहुंचाने की और यही संकल्प लेकर मैं आपसे मुखातिब हूं। और आप भी विश्वास मानिए जो भी लिखूंगी, खुल कर लिखूंगी।

बाहर से पत्थरों की तरह आवाजें दरवाजे पर दस्तक दे-देकर नीचे गिर रही हैं... ये आवाजे अपनों की ही हैं...

कभी सास की... कभी ननदों की...

आवाजों का सिलसिला घड़ी भर को रोक लें...

आइए ननदों की बात करूं। क्या पाई हैं ननदें मैंने भी, एक से एक छप्पनछुरी...

गजब की लड़कियां हैं, एक से एक... धारदार चाकू जैसी, जबान इतनी पैनी कि हल्के से छू भी जाय तो लहूलुहान हो जाय आदमी। अहं को जरा-सी चोट पहुंची, मन के खिलाफ कुछ हुआ तो अगले को कच्चा ही चबा जाने वाली... लेकिन सबकी सब पढ़ी-लिखी... अपने-अपने दायरों में मुश्ताक़। ऊपर से भोली-भाली, भीतर से उड़ती चिड़िया के पर कतरने वाली...

नाक-नक्श कुछ इस प्रकार का :

किसी का रंग कोयले से थोड़ा कम काला... आप शायद सांवला कहें... पर मुझे तो आबनूसी ही लगता है... गोपीनाथ ने राधा का रंग मुझ पर चिपका

दिया है। लोग कहते हैं गोरी चिट्टी हूं मैं जैसे दूधिया चांदनी में नहा कर कोई परी अभी-अभी नीचे आसमान से उतरी है... अब उस परी को तो सांवला भी काला ही लगेगा न !

एक तो मोटी धुस्स है, शरीर से भी नहीं, आंखों से भी। शायद मोटापे के कारण आंखें धंस गई हैं। दूसरी सींक-सी पतली। उसे सींकिया पहलवान कहके बहनें छेड़ती हैं...

एक बौनाई हद तक ठिगनी... दूसरी ऊंट-सी लम्बी... किसी के मुंह में जबान नहीं। कोई सुबह से शाम तक 'चकचक' करते न थकने वाली। आंखों में कौतूहल अठखेलियां करता है...

मैंने नववधु के रूप में इस हवेली में प्रवेश किया था एक नितांत अजनबी के रूप में... लेकिन इनकी उत्सुकताओं ने मुझे घड़ी भर का चैन नहीं दिया...

सीधे मुझसे कुछ न कहा हो लेकिन गिटर-पिटर आंग्ल भाषा की अभिव्यक्तियां मुझसे इतनी बेगानी तो नहीं थीं कि पल्ले न पड़तीं।

शायद उन्होंने यह सोच लिया हो कि गांव की लड़की रेल-सी सरपट चलने वाली यह भाषा क्या समझेगी...

पर मैं एक-एक अक्षर को जोड़ कर शब्द और शब्दों को जोड़ कर जुमले बनाती रही... कभी अर्थ और कभी-कभी अनर्थ भी लगाती रही...

दो देवर थे घर में। आगे-पीछे घूमते। हर वक्त ऐसे मंडराते जैसे शहद पर मक्खी। आपस में होड़ लगाते कि कौन कितना क़रीब आ सकता था मेरे।

मेरी तेज धार वाली आंखों और उनसे उफन कर झरने वाले रस का मन की जुबान से आस्वादन करते मेरे देवर। मैं जलती हुई मशाल की तरह जिधर जाती उधर ही उनके भी क़दम मुड़ जाते।

दोनों जन, पढ़ना-लिखना, दोस्त-भाई, कॉलेज-सिनेमा सभी जगहों से टूट कर मुझ नवागता से ही जुड़ गए थे।

सबसे बड़ी दिलचस्प बात तो यह थी कि मुझे प्रतिमा बना कर घुमाया जाना शुरू हो गया था और मेरे देवर भक्तिभाव से पुजारियों की तरह हमेशा मेरे पीछे आते रहे।

किसी की मजाल नहीं थी कि मुझे तिरछी नजर से भी देखे... कोई कटुवाणी कह दे... मेरे माथे पर किसी बात से बल पड़ जाय या किसी की अनुचित नजर भी मुझे छू जाय...

कुल मिला कर मैं कह सकती हूं कि उखड़ता हुआ अशेष सांसों वाला एक टांग से खड़ा कमजोर-सा एक घर मेरी मेंहदी रची हथेली की मुट्ठी में आ गया था...कभी-कभी मुझे यह भी लगता कि यह घर नहीं विचित्र मानव जंतुओं से भरा कोई अजायब घर है...

यहां रहने वाले हर प्राणी की दिशाएं अलग, आवाज अलग, गंतव्य अलग...सब कुछ अलग ही अलग, मिलने वाली तो बहुत कम चीजें थीं...

एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों की तरह इस घर में रहने वाला हर प्राणी अपने-अपने निहित हिस्सों में रहने का आदी, किसी से किसी को कोई सरोकार नहीं...भिड़ जाते तो साक्षात् विरोध मानवरूप धारण कर लेता, चुप रहते तो गहन शांति...

और इन सबके बीच थी मेरी सास... फिर भी सब से दूर... दीवानखाने में बैठी किसी गुजरे हुए वक्त की पहचान अधिक लगतीं, किसी महफिल की अध्यक्षता करती हुई... उसी में अपने को विलय कर देने वाली...

जिस दिन मैंने इस हवेली मे क़दम रखा, पुराने रिवाज के अनुसार मुंहदिखाई के लिए आने वालो की क़तारें कहां से शुरू होकर कहां खत्म हो रही थीं... मुझे तो पता नही, उन्हीं लोगो को कहते सुना था...

'ठकुराइन मा, बहू क्या ढूंढ कर लाई है जैसे लक्ष्मी के समक्ष दीप्त चौमुखा स्वर्णदीप...

'फूलो-सी महकती काया है इसकी... चलती है तो लगता है साध्य समुद्र की लहरो पर चाद तैर रहा हो...

'क्या कचनार की कली-सी देह है, अपने ही भार से झुक-झुक पड़ने वाली...

'इतनी सुदर बहू तो इस इलाके के खानदानों मे कभी नहीं आई...

'भाग जगें उनके, जिनके घर में इस तरह की लक्ष्मी का आगमन हो रहा हो...'

इसी तरह बातों की फुलझड़ियां कब तक छूटती रहीं मालूम नहीं। उन्हीं में से लपक कर किसी ने मेरी ठुड्डी ऊपर उठाई और माथे और बाएं गाल के बीच एक डिठौना लगा दिया था :

'नजर नही लगेगी बहूरानी...'

यहां से मुक्त होना मुश्किल था... मैं सोचने लगी पता नहीं और कितनी देर मैं टंगी रहूं दिखावे की खूंटी पर...

तभी मेरे कानों में आवाज पड़ी मंझले देवर विभूति की :

'मां, अब देखना-दिखाना खत्म करिए... इन्हें इजाज़त दीजिए कि जाकर थोड़ी देर आराम करें... दिन भर की थकान और ऊपर से ये आने-जाने वाली चच्ची बाइयों की बकवास...' फिर जैसे मेरी ओर मुखातिब होकर, 'जाओ भाभी, आप जाकर आराम करो... बहुत हो गई मिलने-मिलाने की फॉरमेलिटी..' मंझले देवर ने जीने की ओर मुझे लगभग धकेलते हुए कहा और मां को उठा कर आंगन के उस पार खुले कमरे की ओर ले गए...

उम्र रही होगी यही कोई बाईस-चौबीस साल लेकिन मां से ऐसे पेश आ रहा था जैसे उनका संरक्षक लगा हो...

बाद में मैंने बहुत करीब से देखा उसका व्यवहार अन्य लोगों से नितात अलग था।

कॉलेज से आकर वह सारा समय मां के साथ ही रहता था। खाना-पीना, आराम, पढ़ाई सब कुछ मां के सान्निध्य में। खाना तो वह उन्हीं के साथ खाता, दोनों वक्त अगर किसी कार्यवश, मां ने ही कहीं नहीं भेज दिया तो। बेशक, वह ज़िद्दी था, उद्वेगी और उच्छृंखल भी लेकिन मां के सामने पूरी तरह नतमस्तक, आज्ञाकारी... मैं कभी सोचने लगती कभी इसकी भिड़ंत मां से ही हो गई तब...

मुझे यह भी लगता जैसे सारा घर मां ने उसी की मुट्ठी में भर दिया हो। बड़े अर्थात् मेरे पति केशव ने तो इस तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया और छोटे को इसके योग्य नहीं समझा गया।

पूरे इस्टेट की आय मंझले के हाथ में... जाहिर है तंगी थी बड़े को और छोटे को भी... फिर भी उनका ध्यान उड़ाने-खाने-खिलाने से फिरा नहीं। लेकिन मेरे आने के बाद छोटे की स्थितियों में फर्क आया, लेकिन इतना पर्याप्त नहीं था। उस पर कोई जिम्मेदारी रखने या तिजोरी की दूसरी चाबी उसे देने के लिए या जेब खर्च में इजाफा करने के लिए भी...

भाई की कंजूसी, मां का दबाव उसे अच्छा न लगता। किसी का आग्रह उसने कभी माना नहीं था, न किसी की ताबेदारी में विश्वास रखता था। मेरे आने से पहले उसके दोस्तों की दुनिया थी, पल भर को उसे आराम देने के लिए और अब मैं थी।

जिन घरानों में तिजोरियां खानदानी होती हैं उनके घर के पूत पालनों में हों तभी से रिश्ते आने लगते हैं। रोहिल के लिए भी रिश्तों की कमी नहीं थी, आए दिन लोग जिक्र छेड़ने आ जाते। मां सुनतीं, उनका मन भी कभी-कभी डोलने लगता, कमजोर पड़ जाता, लेकिन रोहिल का एक ही उत्तर था :

'मेरे विवाह की बात आपको भूलनी होगी मां। सच्चाई तो यह है कि मैं विवाह करूंगा ही नहीं, और आप भी यह बात अब मान लीजिए।'

मां लाचार हो गईं। अच्छे-अच्छे प्रस्तावों को मानने में अपनी असमर्थता जता कर मां ने अस्वीकार कर दिया...

मां चाहती थीं मंझले-छोटे की शादी एक साथ ही हो, दो बहुएं इस भरे-पूरे घर में और आ जायं... लेकिन विवश हो मां को मंझले की शादी कर देनी पड़ी। छोटा राजी हुआ ही नहीं।

मंझली भाभी घर में आ गई लेकिन मेरे प्रति छोटे की भक्ति में कोई अंतर नहीं आया। हवेली की जिंदगी अपनी रफ्तार से चलती रही। कुछ समय और बीत गया।

कुछ लोग हंसते-हंसते यह भी कहने लगे :

'लगता है, रोहिल अब कुंआरा ही रह जाएगा। उसके लिए तो रिश्ते आने भी बंद हो गए हैं...'

रोहिल चुपचाप सुन लेता या उठ कर चला जाता।

लेकिन मैं जानती हूं यह सच नहीं था। रिश्ते उसके लगातार आते रहे। बल्कि मंझले की शादी का साल पूरा होते-होते रोहिल के विवाह का प्रश्न फिर उबल पड़ा...

कभी-कभी कुछ कानाफूसियां हमने भी सुनी थीं :

'एक तो हाथ से निकल गया... बड़ी भाभी दूसरे की सगाई क्यों होने देगी। अपना पति तो यहां-वहां मारा-मारा फिरता है, देवर भी हाथ से निकल गया तो उसके भावात्मक संबंधों का क्या होगा ?'

इस तरह की बातों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। मैं मन मसोस कर रह जाती, झिझकती, झल्लाती, बुदबुदा कर सिसकने लगती, रात के अंधेरों को आंखों में काट देती लेकिन जबान नहीं खोल सकती थी, क्योंकि वह मेरी ससुराल थी जहां मुझे बेजुबान रहना था।

सास की तरह लेखकीय प्रतिमा होती तो अपने रिसने वाले जख़्मों को, दुखने वाली स्मृतियों और चुभने वाले व्यंग्यो को, उलहनों का तीखापन... कागजों पर उतार कर एक महाकाव्य तैयार कर देती, आने वाली पीढ़ियों के लिए। एक भरे-पूरे घर की जो तमन्नाएं मेरी चमकीली आंखों में आवेष्टित हो गई थीं, उन्हें करीने से कागज़ पर उतार देती।

पहला प्रकरण होता इस हवेली यानी घर का जिसमें मैं बहू बन कर आई थी। कितना बड़ा और कितना सुंदर लगा था यह घर—हरे-भरे झूमते हुए छायादार पेड़...एकदम से मन में आया :

'लक्ष्मी और सरस्वती ने यहीं अपना आदि स्थान बनाया होगा।'

इंसानियत में सराबोर मेरी सास... जब बोलतीं तो संतवाणियों की अमृत वर्षा होती, शब्द ब्रह्म का आकार ग्रहण करने लगते... धर्म-भेद और जातपांत के प्रपंचों से ऊपर पहुंच उन्होंने महानता का शिखर छू लिया था लेकिन नसीब कहूं या समय का कुचक्र... नियति की मार एक-दो पर नहीं पूर घर पर पड़ रही थी और जब-जहां ऐसा होता है तो नीरव शांति भंग हो जाती है, मंसूबे उलट जाते हैं।

उस दिन मेरे कमरे का दरवाजा खुला था, कुछ बत्तियां मैंने बुझा दी थीं, कुछ जलती छोड़ दी थीं, धीमी-धीमी, धुंधलके जैसी। मेरी आंखों में अंगारे दहक रहे थे और टकटकी आसमान की ओर लगी थी। हवा का उदास स्पर्श मेरे उतारे हुए शृंगार को छूते हुए मुझ में ही सिमट आया था। नई दुल्हन की तरह सजी मेरी सेज सुवासित होकर पगला-सी रही थी। सन्नाटा बोल रहा था। मैं समझ रही थी, वह आ गए

हैं शायद, पर मुझे किसी की प्रतीक्षा नहीं थी...

दारू की लहक से एक अग्निकुण्ड तैयार हो रहा था और मुझे शायद उसमें आहुति बनना था...

वह अपने जूते उतार रहे थे... पलंग पर धम्म से बैठने की आवाज भी आई थी। बदहवासी ही रही होगी, देह थरथरा रही थी। आंखें लाल सुर्ख... सिगरेट की आग ने होंठों को तपा कर काला कर दिया था, पपड़ियां उभर आई थीं। नशे में धुत् वह काया हिलने-डुलने को हुई तो मैं बाथरूम से निकल कर सामने आ खडी हुई। थोड़ी हिम्मत भी की। पूछ बैठी :

'आप क्या शराब पीकर आए हैं ?' मेरी आवाज खुरदरी थी, मानती हूं।

'हां,' उनका भी जवाब सीधा था, बेशक आंखें जमीन को मुखातिब थीं, 'अपनी पीता हूं, किसी के बाप की कमाई से नहीं...' उन्होंने वाक्य पूरा किया।

मुझे लगा उनका पूरा शरीर जबान बन कर बोल पड़ा हो, फिर भी आवाज की लड़खड़ाहट बता रही थी कि आलम किसी नौसिखिया के बहकने का ही है, कोई माहिर दारूखोर ऐसा नहीं करता।

माहौल में खामोशी खड़ी हो गई... मेरी आंखें देख रही थीं कि इस बीच कोट उतार कर पलंग के दूसरे सिरे पर फेंक दिया गया है। अचानक कमरे की निस्तब्धता भंग करते हुए वाणी मुखर हुई :

'पर तुम्हें क्या मतलब... मैं कुछ भी करूं... शराब पीकर घर आऊं या नाली में गिरा, पड़ा रहूं... तुम्हारा क्या जाता है... तुम नीचे जाओ, जाओ... वरना मेरा मुंह खुल गया तो बात का बतंगड़ बन जाएगा... किसी को अच्छा नही लगेगा। वीडियो रूम में कोई तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है...'

शब्द मेरी पीठ पर पत्थर से लगे... मैं तिलमिलाई भी... मैं देख रही थी, अस्थिर हाथ बदन से एक-एक कपड़ा उतारने में व्यस्त है... पैंट की जेब से बैलट, कुछ पुरज़े, सिगरेट के टुकड़े सब पलंग पर विस्तार पाने लगे थे।

मैं जितना अधिक सिकुड़ सकती थी, सिकुड़ती रही, आंखें बंद किए भी सब कुछ देखती रही, अपने जन्म को कोसती रही। फर्श पक्की थी लेकिन मेरे पैरों के नाखून क्षमता भर उसमें गड़ जाना चाहते थे।

आप विश्वास माने, उस समय अगर धरती फट गई होती तो मैं सीता की तरह अविलम्ब उसमें समा गई होती। मेरे दुख और कलंक की कथा वहीं समाप्त हो गई होती।

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शरीर पुष्ट था इसलिए सहता चला गया। ऊपर से सब कुछ चाकचौबंद था लेकिन मन तो आहत हुआ और होता चला गया। जख्म बढ़े और धीरे-धीरे शरीर पर भी हमले को आमादा हो गए। फिर एक दिन वह भी आया जब देह की संजीवनी समाप्त होने लगी... मैं ऐसी हो गई कि रोने तक की

ताकत शेष नहीं बची मेरे अंदर...

उन दिनों कभी-कभी अपने कमरे से उठ कर मेरी सास इस तरफ आ जाया करतीं। पीछे से आकर धीरे-धीरे मेरी पीठ सहलाने लगतीं। मेरे मन का कोलाहल दूना हो जाता। न चाहते हुए भी रुके हुए संवेग फफक कर बाहर आने को बेचैन होने लगते।

मेरी सास जिन्हें मैंने मां का सम्बोधन दिया था, अपना मुंह मेरे कानों तक ले आतीं, 'बहू रानी, अभी कमसिन हो... औरत को बहुत कुछ सहना पड़ता है... तुम साहस रखो, सब कुछ ठीक हो जाएगा... तुम्हें बहुत सुख मिलेगा, बेटी पशेमानी से खुद को बचा लो... कुदरत इतनी बड़ी नाइंसाफी नहीं कर सकती... तुम्हारे सुख-संसार में फूल बरसेंगे...'

मां की इस तरह की बातें कभी उनके कानों में पड़ जातीं तो उनके क्रोध की अग्नि में जैसे पसेरी भर घी पड़ जाता, नशा लहक उठता। विस्फोटक शब्दों के आवरण मे मां को लपेट कर अचानक हमला कर देते :

'यह मेरी मां है... सौतेली मां भी किसी के साथ ऐसा नहीं करेगी। सब कुछ उस दुष्ट के हाथ में देकर इसने मुझे कौड़ी-कौड़ी को मोहताज कर दिया है... यहां तक कि मेरी बीवी भी मुझसे छीन ली है सबने मिल कर... मैं पूछता हूं हमारे बीच में किसी को बोलने या टांग अड़ाने का क्या हक़ है ?...'

फिर शुरू होता धमकियों का दौर...

'मैं छत से कूद जाऊंगा... कमण्डल-चिमटा लेकर कहीं निकल जाऊंगा... मेरी शक्ल फिर किसी को दिखाई नहीं पड़ेगी... सूरत देखने के लिए लोग तरस जाएंगे...'

कोई अंत नहीं... बोलते तो बोलते ही चले जाते और अंत में थक कर निढाल पलंग पर बिखर जाते...

मां जब ये आप्तवचन सुनतीं तो अपना कपाल ठोक लेतीं :

'बहुत जी ली मैं... अब और नहीं... मैं अब जाना चाहती हूं... और जीकर अब क्या करना है...'

मैं यहां भी मूक... क्या कहती, किससे कहती... जानती थी मां मेरे दुख का मर्म समझती हैं। वह शायद खुद को ही मेरे दुखों का कारण समझने लगी थीं। इतनी बुझीं वह मेरे लिए कि अंततः बात उनके स्वास्थ्य पर आकर टिक गई। और दवा लेने से उन्होंने साफ़ इनकार कर दिया...

एक और रात जेहन में उभर रही है...

वह रात कमरे में ही पंख पसार कर सो गई तो मैंने बत्ती बुझा दी। काल का अनंत अंधेरा मां को उनके कमरे तक छोड़ आया था...

मुझे अपनी बांहों में समेट कर देवर के कहे हुए सांत्वना के शब्द याद

आए...'मैं हूं न... तुम चिंता मत करो...'

देह से लिपटी हुई शाल मैंने उतारी। नंगी पीठ को एक शीशे के माध्यम से दूसरे में निहारने लगी। दीवार की रगड़ खाने से कुछ खरोंचें उभर आई थीं। आंखें स्थिर-सी हो गईं। कानों ने कुछ सरसराहट सुनी। सकते में आए हुए प्राणी की तरह मैं कुछ देर वैसे ही निस्तब्ध खड़ी हो गई...

लगा कोई दरवाजे के पीछे खड़ा मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

'आखिर तुम्हें, मुझसे क्या चाहिए' जैसे किसी सिंह की गुर्राहट मुखर हो आई हो, 'बार-बार, यहां, इस कमरे में ऐसे वक्त क्यों चली आती हो... नीचे जाओ, वही तुम्हारा आरामगाह है, वही तुम्हारी आश्रयस्थली है...' मेरे ठीक सामने आकर अपने दोनों हाथ पीछे बांधे वह खड़े थे, किसी युद्ध का ऐलान करते हुए...

मेरी ननद का कुत्ता अपनी शैया छोड़ कर हांफता हुआ आकर हमारे बीच खड़ा हो गया। उसकी आंखों में गुस्सा और गले में गुर्राहट... क्रोध, आक्रोश, आवेग में उसकी पूंछ हिलने लगी थी।

मेरे पति को उससे अपार घृणा थी। मुझमें उतना प्यार न सही लेकिन नफरत, लेशमात्र नहीं थी। बेशक, वह मुझे जितना चाहता था, मेरे पति उससे उतना ही खार खाते थे... इतना ही नहीं, वह कहीं छू जाय या उसकी परछाईं भी पड़ जाय तो फौरन नहाने चल देते थे।

'इस... को यहां से हटाओ वरना मैं अभी गोली मार दूंगा।' मेरे पति दहाड़े।

मैंने भी पलट कर खुरदरी आवाज में जोड़ का तोड़ प्रस्तुत कर दिया :

'कुत्ता मेरा नहीं है और न ही मैंने उसे यहां बुलाया है'... साथ ही मेरी करुणापूर्ण आंखें उस अपने सहानुभूतिकर्ता पर जाकर टिक गईं, मैंने उसे जाने का संकेत भी किया लेकिन सारा माहौल अपने अंदर समेटे वह पूर्ववत् खड़ा रहा... बार-बार उसकी लाल जीभ बाहर निकल कर लपलपा रही थी। लार इस हिसाब से टपकने लगी थी कि क़ालीन का वह टुकड़ा भीग गया...

मैंने सप्रयास अपने क्रोध पर विजय पाई, आवाज में जितनी मिठास ला सकती थी लाकर बोली :

'बहुत रात बीत गई है, आप जाकर सो जाइए... बीबी पहाड़ से वापस आ जाएंगी तो उन्हें समझा दूंगी कि अगली बार अपना कुत्ता इस तरह छोड़ कर न जायं...' मेरी निगाह अनायास ही छत पर जाकर टिक गई थी।

मेरे बदले हुए स्वर का प्रभाव था या मेरे पति खुद भी थक गए थे... उनका क्रोध निद्रा में बदल कर आंखों पर उतर आया। धम-धम पैर पटकते, कुछ बुड़बुड़ाते हुए वह अपने शयन की ओर मुड़ गए...

मैं खड़ी सोचती रही, ये तो गए, अब मैं कहां जाऊं... कहीं शांतिपूर्ण शयन की जगह थी ?

भाग्य ने कैसा मजाक किया था मेरे साथ ? कितना बड़ा धोखा हो गया था ? क्या मैं ऐसे ही पति के योग्य थी ? ऐसा कौन-सा पाप कर दिया था मैंने जिसका भोग इस तरह से मिल रहा था ?

विधाता को भला-बुरा कहने, उसे दोष देने, उससे शिकायत करने के सिवाय और चारा क्या था मेरे सामने ?

मेरी निराशा अचानक गुस्से में पिघलने लगी थी...

शयन पर पति पड़े खर्राटे लेने लगे थे जैसे कुछ हुआ ही न हो, उन्हें गहरी नींद आ गई हो, मुंह तक चादर तान ली गई थी।

विचित्र मनःस्थिति हो आई थी। मेरे अंदर एक तूफान ढाढ़े मार रहा था... आंखों की नींद किसी रेगिस्तानी तूफान में दफ्न हो गई थी और मेरा पति तीसरी दुनिया में ख्वाब संजो रहा था जहां सारी विपरीतताएं अनुकूल बन कर हाथ बांधे खड़ी थीं।

कितना समय गुजर गया मैं नहीं जानती। जब होश आया तो मेरे सामने मेरी ही आत्मा खड़ी थी :

'तेरे लिए सभी दरवाजे बंद हैं...तू जाएगी कहां...चुपचाप जाकर सो जा... जहां पनाह मिले...'

'क्या मतलब ? जहां पनाह मिले... ?'

वह मुस्कुराई... मुझे उथल-पुथल कर देखा, 'तू भारतीय नारी है, तेरी पनाह और कहां होगी... इससे पेश्तर कि बहुत देर हो जाय, जा उसी दरवाजे पर दस्तक दे... ।'

अपनी ही आत्मा का सामना कर मेरा क्रोध बर्फ की तरह सर्द हो गया... मन की अनेक पर्तों के नीचे से किसी फुसफुसाहट ने करवट बदली :

'सुनो, बेहुला, मैं तुमसे माफी मांगने आया हूं... मुझे माफ कर दो... वरना, मैं सो नहीं पाऊंगा... मैंने कई लोगों के सामने तुम्हें अपमानित किया...'

यह किसका स्वर था ? मैंने इधर-उधर देखा... कहीं कोई नहीं था... फिर यह आवाज किसकी थी ?

एक व्यंग्य भरी मुस्कुराहट शायद मेरे होंठों तक आई और चली गई... अभी तो मेरे पति खुर्राटे भर रहे थे...

'मैंने तो आपको पहले ही माफ कर दिया' अपना ही स्वर कहीं से हवा में तैरता हुआ आकर कानों से टकराया, 'आप जाकर सो जाइए...'

'जाता हूं...' यह आवाज उनकी थी। लेकिन थोड़ी ही देर बाद देखा वह छत पर जाकर अंधेरे में टहलने लगे थे। दो घड़ी बाद, जब मैंने उधर नजर फेरी तो ठिठक गए...

कितनी दयनीय स्थिति में मुझे लाकर हकीर बना दिया करते थे मेरे

पति...पता नहीं स्मृतिया किन दरीचों पर भटकने लगी थीं।

यह एक ऐसी लड़ाई है जो कभी खत्म होती दिखाई नहीं पड़ती। दर्द अंतड़ियों को पार कर विस्फोटक दैहिक हदे पार कर चुका है।

पिता ने इस अग्नि कुण्ड मे बिना सोचे-समझे मेरी आहुति क्यों दे दी ?

'एक उज्ज्वल भविष्य की कामना की थी उन्होने तेरे लिए ?' अदेखा कोई पिता की ओर से जवाब देता है। अब धैर्य से सारी सात्वनाओ को पीडा की पराकाष्ठा मे छिपा जिदगी का तिरस्कार कर समय के गर्त मे वह आवाज भी खो गई है।

प्यार और क्षमा के उपकरणो के बीच झूलती मैं किसे शाप दू और किसे वरदान ?

व्यग्र क्षणो से अभिभूत मैं उस दिन बिना चप्पल पहने निःशब्द चापो से नीचे उतर आई..

मा पूजा के कमरे मे प्रवेश कर प्रार्थना की मुद्रा मे खडी थी.. आर्द्र . आत्मबोध के याचक की तरह करुणा का स्रोत उनकी आखो से फूट रहा था। उनके होठ हिल रहे थे :

'यह तुम्हारा लगाया बाग है जिसे मैं अब तक अपने साए से सीचती रही हू.. इसे अब तक मुर्झाने नही दिया... पर अब ? अब शरीर थक गया है... नियति का मेघ बन कर इन खिले हुए सुमनो को मौसम के ताप से बचाने मे असमर्थ होती जा रही हू।'

खुली हुई अधी खिडकी से मैं देख रही थी...

जीने की ओर वाली खिड़की से सास के कमरे का पूरा जायजा लिया जा सकता था...

लेकिन अगर उन्होने इस ब्रह्म मुहूर्त मे यहा मुझे देख लिया तो उनका सतुलन और बिगड़ जाएगा.. यह सब मेरे ही पीछे न हो रहा हो...

सास रोक कर अपना गाउन सभालते हुए मैंने गलियारा पार किया... पैर स्वतः आगे बढ़ते गए किसी अजानी दिशा मे.. सामने देवर का कमरा था...

मैं जानती थी वह सो रहा होगा। आधी रात के बाद बेचारा घर आता था थका-मादा। जैसे-तैसे खाना खाकर टीवी के सामने बैठता और पल भर मे उसकी आंखे ढपने लगती... कई बार तो वह सोया पडा रहता और वीडियो जाकर मैं बद करती।

मैं स्वीकार करती हू कि नीम की छाव तले का सुकून मुझे उससे मिलता था। सारे गिले-शिकवे उसे सुना कर मैं हल्की हो जाती थी... कभी-कभी एक ख़ास तरह की ताजगी भी मैंने महसूस की है... क्योंकि देवर के सामने सारे विषैले तत्वों का विश्लेषण कर मेरी आत्मा का खोया हुआ संतोष पुनः वापस लौट आता था और मैं दूसरे दिन के सघर्ष के लिए खड़ी होने की ताकत पा जाया करती थी...

उधर मेरे पति प्रतिशोध की आग में जल-जल कर अपनी विरोधी कहानियों में एक और नया अध्याय जोड़ने की पेशकश करते... मुझे पीड़ा पहुंचाने के नए उपाय ढूंढने में व्यस्त हो जाते।

देवर की आंखें मुझे किसी महासागर-सी शांत लगती और यह विचार मुझे अपने कारावास से मुक्ति दिलाने के लिए अनिवार्य लगता था।

अपना विश्वास उसमें ढाल कर मैं अपनी सिसकियो को सांत्वना दे लेती, जख़्मों पर चादर डाल देती... अपनी निराशाओं को अंधेरी गुफाओं मे ढकेल कर शांत हो जाती, भले ही वे गांठें बनकर अदर ही अदर फैलती चली गई और मैं सदा के लिए मरीज बनती गई। मेरी देह, इस देह के अवयव किसी न किसी बीमारी के राजदार बनते चले गए।

शायद मैं चाहती भी यही थी... दर्द पालना मुझे अच्छा लगने लगा था क्योंकि अगर दर्द न होता तो सहानुभूति के सागर में डुबकी लगाना संभव कैसे होता..

जख्म पर जख्म बनते गए मेरी देह मे... शरीर की ताक़त जाती रही। मैं इतनी बेजान हो गई कि एक दिन जीने से उतरते-उतरते चक्कर आ गया और मैं सीढियों पर लुढकती हुई एकदम नीचे आ गई।

देवर ने आवाज सुनी होगी, पता नहीं अक्सर मैंने उसे जागते ही पाया था। आकर मुझे उठाया और कमरे में ले जाकर सुला दिया। मन स्वस्थ हुआ लेकिन पैर लहूलुहान हो रहे थे...

देवर फर्स्ट एड का सामान लेकर आया। उसने मेरी मरहम-पट्टी की।

'चोट काफी आई है...' उसने होठो में ही कहा जैसे बात मुझसे नहीं अपने आप से कही गई हो।

उसके सफेद कुर्ते पर खून के छींटे मुझे दिखाई पड़े, लेकिन उसे अदेखा करके मैं कहने लगी :

'रहने दो देवर जी, छोड़ो... तुम जाकर सो जाओ। कैसी दवा दे रहे हो ? दर्द कम करने की दवा मुझे नही चाहिए... इतनी दवाइयां हैं कहां... यह दर्द भी अपने आप ठीक होगा...'

वह अपनी जगह से हिला नहीं। मुझे अपनी ही आवाज फिर सुनाई पडी :

'जाओ न... कह दिया... काफी नहीं है...'

मेरी बात की तरफ उसने ध्यान नहीं दिया। बल्कि और क़रीब आ गया। धीरे-धीरे मेरा सिर सहलाने लगा... फिर पास ही पड़ी बेंत की कुर्सी पर बैठ कर पाव दबाने लगा।

ठीक इसी समय देवर को पुकारते हुए मां ने कमरे में प्रवेश किया... शायद मेरी ननद का फोन आया था... सवेरे-सवेरे कोई फोन आ जाय तो मां खुद उठाती नहीं थीं इसीलिए देवर को बुलाने आई थीं और वहां कमरे का आलम देख कर एकदम

अचकचा गईं... बिखरे हुए खून के क़तरे और फर्स्ट एड का सामान...

'तुम्हें क्या हो गया बेहुला... तुम यहां...' आगे के शब्द वे चबा गईं... बेटे की ओर मुखातिब हुईं।

बेटा कह रहा था :

'ऊपर से आते-आते भाभी को चक्कर...'

मां ने बेटे की बात काट दी :

'कितना कहती हूं, अपने स्वास्थ्य, अपने शरीर का ध्यान रखो। ठीक से इलाज कराओ... पर मेरी सुनता कौन है... सब अपनी-अपनी जगह स्वतंत्र हो गए हैं और एक मेरी उम्र है जो द्रौपदी का चीर बनती जा रही है...'

'ऐसा कुछ नहीं है मां, इनके पैर में थोड़ी चोट आ गई है। मैंने पट्टी बांध दी है, ठीक हो जाएंगी...'

पता नहीं, उस घड़ी मेरा वहां होना सास जी को अच्छा लगा या बुरा पर मैं भी क्या कर सकती थी और शायद वह भी जिंदगी के कड़वाहट पीकर पचाने की आदी हो गई थीं।

मेरे प्रति कोई कलुष आया उनके मन में ऐसा मैं नहीं सोचती, लेकिन मैं जानती हूं वह लोकोपवाद से बहुत डरती हैं...

दूसरे दिन देवर जब सोकर उठा तो बुखार से तप रहा था... उस ताप में पानी से निकाली गई मछली की तरह तड़प भी रहा था...

सास, उड़ा हुआ चेहरा, जागी हुई आंखें लिए मेरे कमरे में दाखिल हुईं। मैं हड़बड़ा कर खड़ी हुई तो उन्होंने मुझे थाम लिया :

'उठो मत, तुम तो खुद ही जख्मी हो, तुम्हारा पैर... कितनी सूजन है... न तो तुमने एक्सरे करवाया न मालिश करवाकर पट्टी ही बदलवाई...' मां का स्वर अत्यंत धीमा था।

मैं तब तक उठ कर खड़ी हो गई थी, सिर पर पल्ला डालते हुए मैं पूछ रही थी :

'आप इतनी घबराई हुई क्यों हैं मां...'

'नन्हें फिर से बुखार में पड़ा है... उसी को देख कर आ रही हूं... मुझसे तो कुछ कहता नहीं, तुम ही चल कर देखो, कितना ताप है ?'

नन्हें यानी मेरा देवर यानी रोहिल...

मां बुदबुदा रही थीं :

'पता नहीं क्या हो गया है इस लड़के को... इतना बीमार रहने लगा है... पिछली बीमारी के बाद तो मैं इतनी डर गई हूं कि इसे जरा-सा कुछ हुआ नहीं कि मेरे

होश उड़ जाते हैं... तुम चल कर जरा देखो, किसी डाक्टर को बुलाओ... उसे संभालो...'

मैंने अपनी ओर से सास जी को आश्वस्त किया :

'घबराइए नहीं मां, आजकल शहर में चारों ओर फ्लू का प्रकोप है। देवर जी में जरा भी रेजिस्टेंस तो है नहीं, थोड़ा भी कष्ट हो तो भारी लगने लगता है... आप चलें, मैं आ रही हूं...'

थर्मामीटर देखने के लिए मैंने मेज की दराज खोली। मेरी सास पीठ पर हाथ बांधे कमरे से बाहर हो गईं।

मैं देवर के कमरे की ओर अग्रसर हुई। पैरों में उसी की बांधी हुई पट्टी थी...रात का सिलसिला अभी चल ही रहा था कि सुबह हो गई... मन उन झकोरों से मुक्त कहां हो पाया था।

कई रेशमी दुलाइयों से ढका मेरा देवर शीत से अब भी कांप रहा था। एक बुझती हुई कराह उसके मुंह से निकल रही थी। उसके जबड़े आने वाले कष्ट के एहसास से बंद हो गए थे, उसका हंसता-मुस्कुराता चेहरा भावहीन नज़र आ रहा था जैसे उसे किसी कारावास में बंद कर दिया गया हो।

एक लम्बी बीमारी के बाद, अभी हाल ही में तो उठा था... इलाज के लिए उसे लंदन ले जाना पड़ा था क्योंकि यहां के डाक्टर खोज ही करते रह गए थे, न उन्हें बीमारी का पता चला, न वे सही इलाज ही कर पाए। पैसा पानी की तरह बहा, वह तो एक बात, शरीर के कितने अंगों से छेड़छाड़ शल्य-क्रिया में हुई लेकिन न ज्वर टूटा, न घाव भरे और न ही बीमारी छूटी।

लगातार कष्ट झेलते-झेलते अब तो रोहिल यह भी भूल गया था कि स्वास्थ्य भी देह का आयाम होता है।

सास जी ने उसकी बीमारी का सारा चार्ज मुझे ही दे दिया था। उसका खाना-पीना, दवा-दारू, तीमारदारी, मरहम-पट्टी, सब मेरे ही हाथों सम्पन्न होता। यहां तक कि अपनी चारपाई के साथ मेरी चारपाई भी उन्होंने वहीं, देवर के कमरे में डलवा ली थी। मेरा अधिकांश समय वहीं बीतता, दिन और रात को भी।

सच पूछा जाय तो मैं अपने आपको दो मरीज़ों के बीच पाती थी। बेटा एक तरह का मरीज था और मां दूसरी तरह की। एक मजबूत स्तम्भ की तरह दोनों को मैंने अपने कंधों पर उठा लिया था।

मेरा देवर तो एक नम्बर का चुप्पा था। किसी से बोलता ही नहीं था। बेशक, मां की बातों का 'हूं-हां' में जवाब देता। मेरे साथ उसकी बातचीत एक अपवाद था। बोलता तो जम कर बोलता।

रात की नीरव घड़ियों में जब वह गर्म तवे पर रोटी की तरह बुखार में सिंकने लगता तो मैं उसके पास बैठ कर अपनी ठण्डी गद्दीदार नरम हथेली से उसकी पीठ सहलाती और वह अपना मन कहानी का जामा पहना कर खोलता चला जाता। आवाज इतनी धीमी होती कि कभी-कभी अपने कान उसके होंठों तक ले जाना पड़ता।

मेरे मन में कोई भय नहीं था। निस्संकोच मैं उसके पास बैठती, कभी मां की तरह उसे सांत्वना देती, समझाती, हौसला-अफजाई करती :

'चिंता क्यों करते हो... जल्दी ही ठीक हो जाओगे...'

कभी बहन की तरह चुटकी लेती :

'खाते-पीते नहीं हो न, इसीलिए... ठीक होने के बाद भी कमजोरी रहेगी, इसीलिए कहती हूं थोड़ा-बहुत अनिच्छा से भी खा लिया करो, वरना... बड़ों की बात मान लेते हैं लल्ला जी। हमेशा अपनी ही जिद नहीं चलती। मां जो कहती हैं चुपचाप मान लिया करो।'

हमारी बातें 'स्वीट नथिंग' के अलावा कुछ नहीं होतीं लेकिन हम उनमें ऐसे डूब जाते कि सुबह का एहसास ही खलने लगता।

उसकी परिचर्या में देर हो जाती तो बार-बार जिद करता, 'जाकर खाना खा लो वरना महाराज चूल्हा-रसोई बंद करके चला जाएगा... मुझे तो सरेशाम ज़िद करके खिला देती हो और खुद भूखी बैठी रहती हो...'

पर मुझे भूख-प्यास का ध्यान कहां रहता। उसके पास बैठ कर तो मैं दुनिया से ऐसे कटती कि अपनी दैनंदिन जरूरतों का भी मुझे ध्यान नहीं रहता।

उसकी बातें सुनी-अनसुनी करके मैं बैठी रहती। अलसाई रातों की हवा 'सर-सर' कर खिड़की-दरवाजों के परदे हटा-हटा कर अंदर झांकने लगती। आम और जामुन के पेड़ों की मरमर ध्वनि मेरे कानों में जाने कैसे-कैसे संदेश सुना जाती। कलेजा दरकने लगता, शरीर की गति जड़ होने लगती। रोहिल के माथे पर ढुलक आए बालों को सहलाते हुए मेरे हाथ जहां के तहां रुक जाते...

उसकी अधमुंदी आंखें एक निःश्वास के झटके से एकदम खुल पड़तीं। शायद वह अपने अनिश्चित भविष्य और स्वास्थ्यहीन काया के बारे में सोचता हुआ किसी सीमाहीन क्षेत्र में दूर निकल जाता। मुझे दिखाई पड़तीं, उसकी दुखती रगें, अशक्त अवयव... और मैं सोचती, कितना असहाय हो गया है मेरा देवर...

बीच-बीच में सासु जी की बज्र कठोर आवाज को ढाल कर बनाया गया 'कोमल' स्वर सुनाई पड़ता :

'अभी सोया नहीं क्या नन्हें ?... बुखार कितना है...' आगे की बात मुझसे मुखातिब होती, 'तुम भी सो जाओ बहूरानी, देर तक जागोगी तो तबीयत खराब हो जाएगी... मैं आ रही हूं... थोड़ी देर बैठ लूंगी नन्हें के पास...' कहते हुए वह बाथरूम की ओर निकल जातीं और उनके वापस आने तक रोहिल मेरी ओर शांत-स्थिर दृष्टि

से देखते हुए कहता :

'मैं सो रहा हूं। तुम भी अपने सोचों के हाथ में अंगुलियां उलझा कर निर्वासन के दण्ड का अनुभव करो...'

यह कैसी स्थिति थी ?

न मैं स्वयं को दोषी मान रही थी, न ही उससे इनकार कर पा रही थी और एक वह था कि न जाने किस बिसात पर जान की बाजी ही लगा बैठा था।

बार-बार मौत के मुंह में जाने को तत्पर रोहिल... मेरा देवर और पूजा-पाठ, महामृत्युंजय का जाप करा कर मौत के मुंह से उसे छीन लाने वाली मेरी सास... वक्त उनके विपरीत था और मैं इस आड़े वक्त उनकी कमजोरी बनती जा रही थी...

उन्ही दिनों की एक बात जेहन में ताजी हो रही है। उन दिनों नन्हें का इलाज जिस शहर में चल रहा था वहां आने-जाने वालों का सिलसिला कभी टूटता ही न था। और आप तो जानते हैं इस तरह के आने-जाने वाले कभी बंद जुबान नहीं होते। जो आता वही बातों की गठरी सिर पर उठाए लाता जिसे सुन-सुन कर मेरा दिल दहकता, छाती दरकने लगती...

'बहू को क्यों नही लाई... भेज दो यहां से, बेचारी के छोटे-छोटे बच्चे हैं, देख-रेख ठीक से न हो रही होगी... अपना पति है, उसे भी तो परेशानी होती होगी...'

पति के ताने एक-एक कर मन में नक्श लेने लगते, सीधा कलंक तो मुझ पर नहीं लग सकता था लेकिन आधी बात कह कर जब कोई रुक जाता तो असर सीधी-सपाट कही गई बात से ज्यादा होता।

मुझे उन बातों का दुख पहुच सकता था लेकिन मैं जानती थी कि इस तरह की बात कहने का अधिकार मेरे पति को नहीं था, दूसरों के गरेबां देखने के पहले अपने गरेबां में झांक लेना चाहिए। और अगर इस पर भी वह जहर उगलते तो उसका काट था मेरे पास। मेरी जेबखर्च के लिए मायके से प्रति माह आने वाली रकम जिस तिजोरी में रखी जाती उसमें ताला मैं बंद कर सकती थी और मेरे पति को पैसों की बहुत जरूरत रहती थी।

जी हां, यह सही था, और मेरी तरह आप भी इसे सही मान लें।

'दुनिया कितनी घिनौनी है... संबंधों की पवित्रता नहीं रखने देती...' मैं सोचती। लेकिन दूसरे ही क्षण दूसरे विचार मुझे आईना दिखा जाते :

'कब तक चला पाओगी यह झूठ... आसमान की कितनी ऊंचाई नाप सकोगी उधार के इन पंखों से... यह सच नहीं कि रोहिल को अपने मोहपाश में तुमने फांस लिया है... खुद भी उसी खोह में उतरती जा रही हो... कितनी दूर तक यह सिलसिला खींच पाओगी...

'चेत जाओ बेहुला। उसे मुक्त कर दो... वह तुम्हारा जीवन नहीं बन सकता...अपने लिए भी मुक्ति हासिल करो, तुम्हें इसकी सख्त जरूरत है...

'इस तिनके से बने आयाम से बाहर निकल कर देखो, यह धरती रत्नगर्भा है, कितनी सुन्दर है... और तुम्हारे ही मन जैसा खुला यह विस्तृत नीला आसमान...

'बेहुला, फूलों के पराग और उसकी खुशबू के पीछे छिपा हुआ तुम्हारा यह प्रेम हवा के झोंके से झूमता हुआ निकल जाएगा... तुम्हारे हाथ लगेगा अनन्त सूनापन, भयानक उमस कि तुम्हारा दम घुटने लगे...

'रोहिल कल ठीक हो जाएगा, अपना विवाह कर घर बसा लेगा... तब तुम्हारी क्या स्थिति होगी ? उस न समझ में आने वाले असहज शून्य को तुम कैसे भर पाओगी ?

'रात को अंधेरी घड़ियों में गुजरे हुए कल की स्मृतियां चमगादड़ों की तरह उड़-उड़ कर अपशगुनी करते हुए तुम्हारे मन के दरीचों से टकराएंगी, तब संवेदना का हाथ तुम्हारे कंधों पर कौन रखेगा... स्नेह और सहानुभूति की चादर डाल तुम्हारे साथ कौन बैठेगा ?

'कौन... मयंक... तुम्हारे देवर का दूर-दराज़ का कुंवारा भाई... जो तुम्हारी ननद के पास रह कर उससे कार्यालय का काम सीखने आया था ? गांव से आया था सदाचारी भगत बन कर और अब शहरी छैला बन कर दुखी-पीड़ित सुंदरियों की दिलजोई का कारोबार करता है ?... न शादी, न ब्याह... मां-बाप को इस तरह भूल गया जैसे पंख निकल आने पर पंछी उड़ कर नया नीड़ बसा लेता है...

'मयंक की सहानुभूति की तू तलबगार बनेगी... जो अपनी मां-बहन को भी नकार चुका है... इसी शहर में तो उसकी बहन रहती है... उसके नाते-रिश्तेदार... सगे-संबंधी, सभी तो हैं यहां लेकिन उनकी ओर पलट कर देखना भी उसे जंजाल लगता है... 'स्टैण्डर्ड' की बात करता है, उन्हें 'ओछा' समझता है... आज तुझे 'भगवान' मान कर पूज रहा है या पूजने की बात करता है लेकिन उसकी यह 'पूजा-भावना' कितनी दूर चल पाएगी ?'

अपंग पिता और बीमार मां को उनके हाल पर छोड़ कर वह अपना भविष्य खोजने चला था... यहीं तो आकर पनाह ली थी सासुजी के चरण-छाया में। जाने कहां का रिश्ता निकाल कर बहन का लड़का बन गया था। मां ने भी आपत्ति नहीं की, सोचा बड़े बेटे के नए कारोबार में एक सहायक की भूमिका निभा ले जाएगा...उसका काम भी बन जाएगा और मां का लाड़ला केशव यानी मेरा पति नैतिक रूप से अकेला महसूस नहीं करेगा...रिश्तेदारी में बेईमानी का सवाल कहां उठता है ?

'लेकिन अपनी सोची हुई बात कब सही उतरती है... मां की सोची बात तो

कभी सीधी बैठी ही कहां... ख़ैर, वह एक अलग कहानी है... मुझे ऐसों की सहानुभूति पर जीना पड़े, इससे तो बेहतर मौत होगी...

लेकिन अभी मेरे सामने रोहिल था... बीमार रोहिल... जिसे मेरी जरूरत थी...शायद मेरी जरूरत भी वह था लेकिन...

एक झटके से विचारों का तारतम्य बदल दिया। कल क्या होगा इसके अंदशे से आज जो है, उससे आंख बंद कर लेना कोई बुद्धिमानी तो नहीं कही जा सकती...और फिर जिंदगी, एक समूचे रूप में कब किसको मिली है ? इसके तो क़तरे ही बटोरने पड़ते हैं...

अभी मेरे सामने रोहिल था... एक बेशक़ीमती टुकड़ा जिंदगी का... मयंक तो उसकी छाया भी नहीं बन सकता। केशव के साथ कारोबार का भट्ठा वह बिठा चुका था जिसके लिए वह पूरा न सही, आधा जिम्मेदार तो था ही। जब किसी नए काम मे दो नौसिखिए लगे हों और ऊपर से किसी बड़े का मार्गदर्शन न मिले तो सफलता नसीब वालों को ही मिलती है।

कोई व्यापार हो, ठेकेदारी हो, उतना अनुभव या होशियारी न सही, परिश्रम तो चाहिए और यहां दोनों ही रंगमिज़ाज... रुपया जो डूबा तो डूबता चला गया और होश इन दोनों नौसिखियों में से किसी को न आया। मामला जाकर कोट-कचहरी में फंसा तो ले-देकर दोनों को क़ानून की पकड़ से बाहर करने का प्रयत्न भी मुझे ही करना पड़ा...

कहां-कहां नहीं घूमी मैं... जिसका चेहरा देखना भी उचित नहीं था उसके पैर भी देखने पड़े... उस झमेले पर भी आइए एक नज़र मारते चलें...

सारे कर्जदार उन दिनों सर हो गए थे क्योंकि जो सामान नई इमारत खड़ी करने के लिए आता था उसमें से आधा तो चोरी चला जाता था और बाक़ी आधा मेरे पति बिना किसी मोल-भाव के औने-पौने दाम बेच कर रुपया अपनी जेब के हवाले करते। मयंक बोलने की स्थिति में नहीं था, एक तो उम्र में छोटा, दूसरे पोजीशन कुछ नहीं... आखिर सारा कारोबार तो मेरे पति का था, वह मालिक थे, कैसे बोलता...

दिवाला निकाल कर पति महोदय तो घर बैठ गए...मयंक बेशक काम को सलटाने के लिए इधर-उधर भाग-दौड़ करता रहा... भाग-दौड़ में उसने मेरी भी मदद की, तभी थोड़ा क़रीब आने का मौक़ा मिला उसे।

मुझे तो किसी बात का होश ही नहीं था। सुबह घर से निकलती तो देर रात थक-पिट कर घर वापस आती... लेकिन इससे मुझे एक जबर्दस्त फायदा हुआ जो शायद इसके बिना संभव नहीं था। मुझे पहली बार इस भागा-दौड़ी के बीच यह लगा कि औरत होने के अलावा मुझमें एक व्यक्तित्व भी है कि अपनी बात मैं समाने वाले से मनवा सकती हूं, कि लोग मेरा आदर करते हैं... मुझे सम्मान की दृष्टि से देखते

हैं... मेरे लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं।

मैं एक नए आत्मविश्वास से अपने आपको देखने लगी और इसमें प्राण-संचार तब हुआ जब मैं विजयी होकर घर लौटी। सारा काम बंद करने में जितना पैसा देना पड़ा उतना ही देकर मैंने मामले को रफा-दफा करवाया। किसी तरह इस मामले से पति का पिण्ड छुड़ाया...

अपनी विजय पर मैं फूली नहीं समाई लेकिन मेरे घर में किसी ने मुझे प्रशंसात्मक दृष्टि से देखा नहीं। मां से मुझे शाबासी की उम्मीद थी लेकिन उन्होंने सहानुभूति की चिकनी तह उन कड़वे उलहनों पर लगाई जो मेरे परिवार के लोगों को वह देने लगी थीं। उन्हें आपत्ति थी कि मेरे घर वालों ने मुझे लुंगाड़ों की जमात में अकेले छोड़ दिया, सहायता के लिए आगे नहीं आए, न मामले को रफ़ा-दफ़ा करने में मेरी मदद की...

लेकिन मैं जानती हूं, मां का यह सोचना सही नही था। मेरे पिता ने कई तरह से मेरी मदद की, आर्थिक मदद की, मैके से कई आदमी आकर मुझसे मिले भी, हर कदम पर खोज-खबर लेते रहे, जरूरत के हिसाब से मदद करते रहे। इतना जरूर था कि यह बात उन्होंने प्रत्यक्ष नहीं होने दी और मां यह सोच कर कि मैं अकेली ही जूझ रही हूं मेरे मैके वालों पर लगातार कड़वी होती चली गईं। पिताजी ने मना किया था इसलिए मैंने भी किसी बात का खुलासा नहीं किया।

दूसरी ओर मैंने जो कर्जदारो का कर्ज़ा चुकाया... मेरे लिए वह एक दिलचस्प अनुभव साबित हुआ—राजकीय अफ़सरों, कारकूनों, श्रमिकों के सम्पर्क मे मैं आई और सबकी ओर से सहानुभूति और सम्मान मुझे मिला... किसी ने मेरे साथ अभद्र, ओछा या छिछला व्यवहार करने की हिम्मत नहीं की। सबसे बड़ी बात जो मेरे मन को छू गई वह थी उनका सम्बोधन। कोई कुछ भी कर रहा हो, मुझे देखते ही 'बहू मां आ गईं' की गूंज कानों में पड़ती तो मन तृप्त हो जाता। कितना स्नेह, कितना सत्कार था उनके इस सम्बोधन में...

मक्की की रोटी, सरसों का साग खाते-खाते मजदूर मुझे देखते और खाना छोड़ कर उठ जाते, 'बहू मां आ गईं...' उनकी पत्निया शर्म से आंखें झुका कर कनखियों से मेरे कीमती कपड़े देखतीं और अपनी फटी-पुरानी साड़ी सिर पर डालते हुए मेरा स्वागत करतीं, 'आओ बहू मां, रोटी खा लो...'

मेरे पहुंचने पर सभी लोग इस तरह खड़े हो जाते जैसे शिक्षक के कक्षा में प्रवेश करते ही विद्यार्थी खड़े हो जाते हैं... कहते, 'कहिए बहू मां, आप बस, हुकुम भर कीजिए... आपके लिए हम कुछ भी कर सकते हैं... हमारे अहोभाग्य कि अन्नादाताओं के घर की लक्ष्मी हमारे बीच आई हैं... मजदूरी के जितने पैसे काटने हों काट लीजिए, आप जितना दे देंगी हम उसी में सब्र करेंगे, आपसे कभी कुछ नहीं मांगेंगे, यूनियन का पल्ला भी नहीं पकड़ेंगे... आप निर्भय रहें हमारी ओर से...'

अनंत बातें फूलों की तरह उनके मुंह से झरने लगतीं। मेरा सीधा-सादा मन ईमानदार प्रतिष्ठा पाकर निहाल होता रहता... एक आध बार मैंने उनके टिक्कड़ का टुकड़ा और प्रेमपगी चटनी भी चखकर देखी, स्वाद से रसना अघाई लेकिन संकोच आंचल थाम कर खड़ा हो गया, मैं दूसरा टुकड़ा नहीं ले पाई।

डर पेट खराब होने का भी था जो पहले ही बिगड़ चुका था और कई तरह की उलटबांसियां दिमाग में भी झिंझोड़े जा रही थीं।

अक्सर वहीं पर शाम हो जाती। ढिबरियों का प्रकाश उस गाढ़े अंधकार के शरीर पर उग आए सफ़ेद कोढ़-सा लगता...

मैं आपके सामने स्वीकार करती हूं कि शुरू-शुरू में मुझे डर भी लगता। क़ीमती तूश की शॉल और चीनी रेशम की दमदार साड़ी अपने देह पर ऐसे लपेटती की अपना दैहिक अस्तित्व कहीं से झांक भी न पाए... उन्हीं की चारपाई पर बैठ कर उनके चुकारे का हिसाब करती... सामने आधी-अधूरी बनी हुई वह इमारत, राक्षसनुमा लम्बे पेड़ों की झुरमुट से ऐसे झांकती जैसे किसी भावुक-बदसूरत लड़की की सगाई होते-होते टूट गई हो और वह भयभीत अपने ही नसीब का रोना रो रही हो... भविष्य का आतंक उसकी पलकों पर लहक आया हो, कि, वह अपने स्वप्निल संबंधों का स्यापा करने के लिए बाध्य कर दी गई हो। कभी लगता वह चीख़-चीख़ कर आवाज दे रही है और सहायता की भीख-सी मांग रही है कि कोई आगे बढ़ कर उसे सुकून दो, कि उसकी अभी-अभी उजड़ गई दुनिया को हौले से बसा दो...

कभी लगता अपने आपको आज की हक़ीकत से जोड़ने के लिए बार-बार, उझक-उझक कर आंखें फाड़े इधर ही देख रही है, आंसू को बिना रोके, जबान को बिना हिलाए वह अपनी सारी दास्तान सुना रही है... कि रोते-रोते थक कर उसकी शक्ल एक खलनायिका में बदल गई है... जहां ये मज़दूर अपने टिक्कड़, रोटी-चटनी खाकर सोने आ खड़े होंगे... खाटें कम पड़ जाएंगी, सोने वाले ज्यादा होंगे... फिर क्या होगा ?

दारोगा के पास एक बड़ी खाट थी जिस पर उसने अपने सारे असबाब लाद रखे थे, कथरा, तकिया, पहनने के कपड़े... सभी कुछ गुच-मुच करके ऊपर से उसने एक चौखाने वाली चादर डाल दी थी... एक दिन जब मैं पहुंची तो उसी चारपाई पर मुझे बिठाने का आग्रह भी वह करने लगा लेकिन मैं जाकर बैठी एक नंगी चारपाई के कोने में...

उस दिन का निमंत्रण मुखिया की ओर से भी आया... जाने कैसे मिली-जुली बदबू का एहसास हुआ मुझे... ग्लानि भी हुई कि मुझे इस तरह के लोगों के बीच आना-जाना पड़ता है... लेकिन पति महोदय को बचा ले जाने का फैसला जब मैंने ले लिया था तो भुगतने से कौन बचा सकता था मुझे ?

गनीमत इतनी होती कि जहां मैं जाती वहां ठर्रा पिए लोग भी अपने कुटुम्ब के साथ होते... उनकी आंखों में शरारत के कतरे कभी उभर कर आए हों, अभद्रता मेरे साथ कभी नहीं हुई। वरना, घर मेरा वहां से कोसों दूर... पर्स में चुकारे के पैसे...बदन पर कीमती कपड़े-गहने और कृष्ण पक्ष की अंधेरी रात...

मैं अंदर से भयभीत, ऊपर से निडर कभी अंधकार को घूरती, कभी अपने आपको...मन कहता, 'गोली मारो इन वहशियों को.. घर चलो।'

लेकिन फिर सोचती, 'अगर यह हार मैं स्वीकार भी कर लूं तो इतने दिनों से जोड़ा-समेटा आत्मविश्वास मेरा हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगा... और फिर घर में एक नया हंगामा उसी तरह उठ खडा होगा जैसा पंचायती राज के बिल पर लोक सभा में खड़ा हुआ था...

मैंने अपने आपको यह समझा कर भी तसल्ली दी कि यदि यह छोटा-सा काम भी मुझसे नहीं हुआ तो एक स्वतंत्र अस्तित्व रखने या बनाने की बात कितनी बचकानी लगने लगेगी।

ऐसे समय मेरा मन कभी-कभी खुले जंगल में सन्नाटे की तरह बेचैन घुटन से भर जाता... मैं रोहिल या मयंक के आने तक उन भेडियों के बीच उनके हिसाव की नरमा-गरमी करती रहती...

अंदर ही अंदर मन कलपता, 'कहा आ फसी हूं मैं... कौन विजय का सेहरा मेरे माथे पर बंधना था, सुलह-सफाई होने के बाद भी...' तभी किसी की आवाज सुनाई पड़ती :

'इतने पैसों की क्या अहमियत है मैडम, आप लोगो के लिए। आप तो अन्नदाता हो... आप लोग न हों तो हमारे घरो के चूल्हों में कभी आग न जले... मुसीबत तो हमारी है, बच्चे छोटे-छोटे, कच्ची गृहस्थी... घरवालियां सर्दियो में ठिठुरती रहती है'...तीन महीने हो गए, बाबूजी ने धेला भी नही दिया है हमें... आज-कल कहते-कहते ही टपाते रहे... फिर भी हमने उनका लेहाज किया...'

'यह कैसा लोकतंत्र है मैडम, चोरी करने वाले, डाका डालने वाले, पूजा के नाम पर व्यभिचार करने वाले आराम से चुपड़ी खाते हैं... प्रासादों में रहते हैं... और हम घर-परिवार से दूर, कबीले से दूर, पत्थर-रोड़े ढोकर, पत्थर कूट कर, धूप-बरसात में पसीना बहा कर अपना पेट भी नहीं भर सकते...'

'कटौती की बात करता है वह... बहू मां, आप बीच में न होतीं तो हम सिर फोड़ देते उस मोटे का... साला, मालिक बना फिरता है... अम्बा मां की कसम, हम तो उसका लहू पी गए होते...'

'ठेकेदार के साथ मिलकर दारू पीता है और सरिए बेच कर शीरनी बांटता है...'

मैं पत्थर हो जाती। सब सुनती... हज़म करती...

उन्हें क्या मालूम जिन्हें वे गालियां निकाल रहे हैं उसी बदनसीब की मैं पत्नी हूं।

उन्होंने तो रोहिल को मेरा पति मान लिया था, या मयंक को... दोनों ही मेरे साथ आते-जाते, दोनों ही अंतरंगता से मिलते, बात करते... उनके आने में देर होती तो समय का लहू बहाते हुए उनके बीच बैठ कर ही मैं उनका इंतजार करती...

एक दिन रोहिल मुझे छोड़ कर किसी इंस्पेक्टर से कोई चिट्ठी लिखवाने चला गया और दिए हुए समय तक लौट कर नहीं आया।

मैं हलकान... आखिर हुआ क्या ? वह आया क्यों नहीं... कहीं गाड़ी पंचर हो गई, किसी से टक्कर हो गई... कोई भयंकर दुर्घटना हो गई ?...

जैसे-जैसे वक्त बीतता गया, मेरा लहू ठण्डा होता गया, उन विषधर सर्पों के बीच बैठी मैं...मेरा सारा वजूद ही बर्फ होता जा रहा था...

वह शाम मैं कभी नहीं भूल सकती।

मजदूर तितर-बितर होने लगे थे। कुछ मजदूरनियां अपने लहंगे फैला उसी पर अपने बच्चे सुला रही थीं। कुछ ने पुआल जला कर आग तापना भी शुरू कर दिया था...

उस आग की आंच मुझ तक आ रही थी। भयभीत अनिश्चितता के बावजूद वह आग मुझे अच्छी लग रही थी...

धीरे-धीरे ठण्ड के जबड़े फैलते जा रहे थे। आग की लौ कांपने लगी थी...

मैंने पंख पसारे पक्षियों की तरह उन छोटे बच्चों को कथरियों पर सोते देखा जो कुछ ही देर पहले मेरे गिर्द गोल-गोल घूम रहे थे... बिज्जू-सी छोटी-छोटी आंखें मुझ पर गड़ाए मुझे घूर रहे थे जैसे मैं आसमान से उतरी कोई परी हूं या किसी दूसरी दुनिया से पकड़ कर लाई गई कोई विचित्र-सा जानवर हूं... किसी की नाक बह रही थी, किसी की आंखों से गंदगी मिश्रित पानी झड़ रहा था...कोई कहीं से पत्थर के टुकड़े लाकर ऐसे दिखा रहा था जैसे कुबेर के ख़ज़ाने से कोई रत्न उठा लाया हो, कि किसी रानी-महारानी को भेंट कर हीरे-मोती का इनाम चाहता हो...

उनकी माताएं उन्हें मना कर रही थीं कि वे मेरे पास न आएं लेकिन मानने की तालीम उन्हें कहां मिली थी... और मैंने भी अपनी ओर से आपत्ति कब की थी।

सुबह जब आती, बच्चों के लिए हमेशा कुछ न कुछ लेकर आती थी—मीठी गोलियां, बताशे, कभी चाकलेट... मजदूरों के लिए लड्डू, जलेबी के ठोंगे, कचौड़ी-समोसों के दोने... ताकि किसी तरह वे शांत हों और मैं उनके अभिशापों से बची रहूं।...

पता नहीं कहां रह गया था रोहिल उस दिन...

उस पूरे प्रसंग में कितनी बुरी तरह फंस गई थी मैं... जान-बूझ कर परिस्थितियों का जाल मैंने अपने ऊपर डाल लिया था, 'आ बैल, मुझे मार' के तर्ज पर...

लेकिन होनहार अगर सही है तो यह तो होना ही था। मैं न चाहकर भी क्या कर लेती ?

सबकी नाराज़गी के बावजूद मैं इस पंक में कूद गई थी और इसे सुलटा देने के लिए मैंने कमर भी कस ली थी, क्योंकि इसमें एक पेंच था...

इस काम में जो रुपया लगाया गया था वह मेरी सास ने मेरे बीच के देवर से छिपा कर लगाया था ताकि उनका बड़ा बेटा नाकारा न बैठे। उनका विचार था कि काम सम्पन्न हो जाएगा फिर उसका 'रिटर्न' आएगा तो रकम ज्यों की त्यों रख देंगी। लाभ की रक़म लगा कर कोई दूसरा ठेका दिलवाएंगी और इस प्रकार काम का सिलसिला चलता रहेगा। मेरे पति नाकारा नहीं बैठेंगे और पूंजी में इजाफा होता रहेगा...

लेकिन लाभ तो होना ही नहीं था, पूंजी अलग गल गई और उतनी ही रकम लगानी पड़ी कर्ज़ा चुकाने में... यह रक़म आई कहां से यह परेशानी अलग थी। इतनी बड़ी रक़म देता कौन, व्यवस्था कहां से होती... किसके पास था इतना रुपया, एकमुश्त देने के लिए...

मैंने भी एक तरह से बेवकूफी ही की, इस जंजाल में कूद पड़ी... गहन चिंतन-मनन के बाद इसे अपनी जिम्मेदारी मान ली... क्या करती ! न भी जुड़ती तो बच कहां पाती, मेरा आधा अंग कहा जाने वाला मेरा पति जो शामिल था इसमें...

मुझे कोई शिकायत नहीं किसी से, यह चुनाव तो मेरा अपना था। अफ़सर भी अनुकूल ही मिले, काम के सिलसिले में जिनसे मिलना पड़ा। पता नहीं क्यों इनके सम्पर्क में आने वाली या दफ्तरों में कांम करने वाली स्त्रियां यह कहती हैं कि पुरुषो से काम निकलवाने के लिए बहुत कुछ दांव पर लगाना पड़ता है, इनकी निगाहें उनके शरीर की मांसलता पर पनाह ढूंढ़ती हैं, आंखों में स्वीकृति की रोशनी देखना चाहती हैं... या कि हर व्यक्ति औरत की नर्मी का लाभ उठाना चाहता है और यह कि अगर औरतें अपने अफसरों की वासना से बचना चाहें तो उन्हें अपनी तरक्की से भी वंचित रहना पड़ता है...

दूसरों को कहते सुना था कि सभी जगह बिना दांत के ये सांप अवसर की ताक में रहते हैं और मौक़ा मिलते ही टांगों से लिपट जाते हैं... लोग यह भी कहते हैं कि सबसे बढ़िया घूस औरत है, दूसरे नम्बर पर शराब और तीसरे पर पैसा...

लेकिन घूसखोरी के इस गरम बाजार में मैं हर जगह धड़ल्ले से गई और काम बना कर लौटी...

घर वाले कहते हैं मैं भाग्यशाली हूं, चाहूं तो कुछ भी कर सकती हूं... लेकिन

अभी तो वेदना के इस अंधकूप में उस मछली की तरह पड़ी थी जिसकी समस्याओं और तकलीफों के लिए वह गर्त बहुत छोटा पड़ गया था...

मैं स्वीकार करती हूं कि यह सोच कर कि मैं कुछ भी कर सकती हूं, दिल में एक प्रकार की हलचल होती थी। खुद पर गर्व होता था कि किसी की पैनी पलकें मुझे नोचती-खसोटती नहीं... जिस काम में हाथ लगाती हूं उसकी कामयाबी का सेहरा भी मेरे सिर बंध ही जाता है, और जहां नहीं बंधता वहां मेरे प्रयास में ही कमी रह जाती है और असफलता का एहसास मुझे रहता है, शायद इसीलिए मैं प्रयास में भी कोताही कर जाती हूं।

मन के कोने में दुबकी एक पुरानी स्मृति आ रही है... कॉलेज के दिनों की। मेरा मन ऐसे वक्त पगुराने लगता है जैसे हमारी गाय ढलती दोपहरी में पेड़ के नीचे बैठी, आधी आंखें मूंदे खाया हुआ घास पगुराती रहती थी...

अन्य किसी भी लड़की की तरह, मैं भी ढेर-सी अभिलाषाएं लेकर उत्पन्न हुई थी। शरीर नाजुक था, मिजाज नरम लेकिन मन का अहाता इतना विशाल कि वर्णमाला उसका वर्णन करने में हमेशा असमर्थ ही लगती।

माता-पिता ने भी किसी अनमोल रत्न की तरह सोने की डिबिया में रूई के आसन पर बैठे किसी कोहेनूर की तरह ही मेरी देखभाल की थी, हिफ़ाजत से रखा था। लम्बी-नुकीली पलकों से ढकी रहने वाली तारों-सी चमकती मेरी आंखों में काजल की मोटी-मोटी रेखाएं खींच कर मां कान तक ले जातीं... बालों के रेशमी गुच्छे सुलझा कर पीठ पर छोड़ती कि मखमली लिबास की तरह मेरे बाल लहराते। कभी उन्हें समेट कर मोटी चुटिया बना कंधों के साथ एक झटके से आगे लटका देतीं कि मेरी पीठ चोटी का भार कैसे सहन करेगी।

फिर मैं आइने के मामने जाकर खड़ी होती। आगे-पीछे होकर अपना शृंगार देखती और शिकायती नजरों से मां को देखते हुए कहती :

'ओफ़ओ ... मां, आपने तो तेली ही बना दिया मुझे, सांप की तरह चिकने और चमकीले बाल मुझे अच्छे नहीं लगते...'

'शुभ-शुभ बोल लड़की। भगवान ने जब इतने अच्छे बाल दिए हैं तो उनकी देख-रेख नहीं कराएगी... ?'

'देख-रेख का मतलब तेल चुपड़ना तो नहीं होता मां !' मैं ठुनकने लगती।

'कहां चुपड़ा है तेल... तू खुद ही हाथ लगा कर देख ले। कहीं पता चलता है तेल का। तेरे बालों का रंग खुद ही काला भुजंग है इसीलिए तो चमकते हैं इतने...'

मैं अपनी हथेलियों से, मां के आचंल से सिर का तेल ऐसे पोंछती कि काढ़े गए बाल बिगड़ न ज़ाएं।

मेरा मन अक्सर घर की दीवारें फांद कॉलेज के प्रांगण में जा पहुंचता जहां

असंख्य प्रशंसकों के साथ एक कोने में दुबका वह भी मेरी प्रतीक्षा करता रहता था...

छः फुटे कद का वह बंगाली युवक—सुदीप चटर्जी... नदी के पाट-सा चौड़ा वक्षस्थल, बिल्लौरी आंखें... बंगालियों में इस तरह का पुरुष-सौन्दर्य कम ही मिलता है, उसके चेहरे का तेज ही बता देता, किसी शाही परिवार से जुड़ा अवश्य होगा। कॉलेज में कभी सामने पड़ जाता तो नाज-नखरे में ठुमकते मेरे पैर भी ठिठक जाते। मेरी सहेलियां ठिठोली करतीं :

'इतना उत्तुंग पुरुष कभी देखा क्या सुना भी नहीं है, बेहुला। तेरी ओर ऐसे देखता है जैसे तू ही उसकी 'ड्रीम गर्ल' है। तू उससे बात क्यों नहीं करती...'

'धत्... मैं क्या बात करूं उससे...'

'तुझे सिर-आंखों पर बिठा कर रखेगा !' वे जिरह करती।

'मुझे नहीं बैठना किसी के सिर-आंखों पर...'

आप सच मानें, जब मैं ऐसा कहती तो अंदर से कोई 'फीलिंग' नहीं होती मेरे अंदर। बस कह जाती। ऐसा भी नहीं था कि मुझे वह अच्छा नहीं लगता। सच्चाई तो यह थी कि उसे देख कर मैं अपना आपा खोने लगती... अपनी सुध-बुध किसी अनजानी कंदरा में जाकर छिप जाने के लिए मचलने लगती।

और जब-जब ऐसा होता कितनी मुश्किल से मैं अपनी सहेलियो को आवाज देती कि वे कहीं से आकर मुझे थाम ले, चिकोटी भरे कि मै अपने होश में आ जाऊं...

मैं जानती थी सौन्दर्य के साथ सदाचार भी उसे उच्चकुलीन संस्कारों में मिला था। जिधर से भी निकलती मुझे एहसास रहता कि हजारों जोडी आंखें मेरी पीठ पर सुइयां चुभो रही हैं केवल एक जोड़ी आंखों को छोड कर और वे एक जोड़ी आंखें सुदीप के आकर्षक चेहरे पर ही गड़ी हैं... मुझे वे रक्षा-कवच-सी लगतीं और मैं एक अजीब तरह की झुरझुरी महसूस करती।

ऐसा नहीं था कि हमारी बातचीत कभी हुई नहीं। अनेक बार हम आमने-सामने एक-दूसरे को देख कर ठिठक गए। प्रारम्भिक संकोच का दौर गुजर जाने के बाद हमने एक-दूसरे के साथ बात की, अनेक बार कॉफी पी, सखी-सहेलियों की उपस्थितियों में हंसी-मज़ाक भी किया...

सुदीप मुझसे विवाह करना चाहता था। अक्सर मुझसे बात करते समय उसकी आंखें झुकी ही रहतीं। उस दिन सीधे मेरी आंखों में देखते हुए उसने ब्याह की बात की थी...

वह मुझे अपने दिव्यद्वीप की रानी बना कर ले जाना चाहता था। बुरी नज़रों से मुझे बचा कर रखना चाहता था। वीभत्स गानों, फूहड़ मज़ाकों और कांटों-सी चुभने वाली निगाहों से परे कर देना चाहता था...

वह मुझे फारस के गुलाब की तरह अपने कोट पर लगा कर अपने हृदय का संगीत सुनाना चाहता था... लेकिन मैं तो तब लाजवंती थी। अपने पिता की लाड़ली, भाइयों की प्यारी...भाभियों की गुड़िया... और भी पता नहीं क्या-क्या...

कितनी मानिनी थी मैं... अब सोच कर ही आंखों के आगे अंधियारा छाने लगता है... क्या कर लिया था मैंने अपनी जिंदगी का। जिंदा लाश किस तरह चलती-फिरती है, यह किसी को देखना हो तो मुझे देखे...

यहां बैठी मैं रोहिल का इंतजार कर रही हूं कि वह आकर मुझे घर ले जाए... वही तो एक ठौर बचा है जहां किसी तरह सांस लेकर अपने होने का एहसास जागता है, वरना और क्या मिला है मुझे अपनी जिंदगी से ?

एक मानसिक रूप से अविकसित... परले सिरे का गैर जिम्मेदार... निम्नवर्ग में रगरलियां मनाने वाला पति... सहानुभूति की चाशनी में व्यंग्य के कोड़े बरसाने वाली सास... मौक़ापरस्त ननदें... और यह बीमार... भविष्य में अपनी राह बना कर पीछे कभी न देखने वाला रोहिल... यही तो मेरी कमाई है जीने के श्रम से हासिल...

सासुजी शायद ठीक-ठाक ही चलतीं अगर रोहिल की आंखें मेरी आंखों के रास्ते मेरे वीरान मन में न प्रवेश कर जातीं। उन्हे तो यही नागवार गुजर रहा था कि मुझे अपने नन्हें की तीमारदारी के लिए उन्हे रखना पड़ा था, क्योंकि अन्य कोई विकल्प नहीं था। अपना शरीर इतनी उठक-बैठक करने से मजबूर था, लड़कियां सुनने वाली नहीं थीं... क्या करती हैं, कहां जाती हैं कोई नहीं जानता लेकिन व्यस्त हैं यह बात तो सबको मालूम है।

फिर बची एक मैं, जिसे पति की गैर जिम्मेदारी ने ठाली बना दिया था। जिसकी रगों मे जवान लहू था, जो रात भर जागकर तीमारदारी कर सकती थी। क्या हुआ अगर बेटे के साथ घड़ी भर का रागात्मक संबंध जुड़ गया था, कोई क्रांति तो खड़ी होने वाली नहीं थी... परिवारों मे ऐसे कितने ही संबंध बनते-टूटते रहते हैं...

एक न एक दिन रोहिल की शादी हो जाएगी, सब फिर अपने आप राह पकड़ लेगा। अभी वह बीमार था... उसका ठीक होना सबसे जरूरी था और मैं इस प्रक्रिया में सहायक हो सकती थी इसलिए सासुजी बहुत कुछ देख कर भी अनदेखा कर सकती थीं...

उस दिन मजदूर बस्ती से मुझे घर ले जाने के लिए रोहिल आया तो लगा एक पूरा जीवन मुझे किसी ने दान में दे दिया हो, कि मेरे दो पंख लग गए हों और मैं आसमान

में उड़ती चली जा रही हूं, कि परियों से होड़ लगा कर उन्हें पछाड़ने का दमखम भी मैं रखती हूं।

मानसिक जिल्लत के जो घण्टे मैंने उस रात मजदूर बस्ती में बिताए थे। उससे मेरी रक्षा करने वाला एक देवदूत ही हो सकता था। मेरे देवर के रूप में वही तो आया था, मेरे कालेज के दिनों का मेरा रक्षा-कवच, मेरा रक्षक, जो मुझ दिव्यद्वीप की रानी बना कर ले जाना चाहता था, जो मुझे फ़ारसी गुलाब बना कर अपने कोट में लगा कर अपने हृदय का संगीत सुनाना चाहता था...

मुझे लेकर रोहिल जब मजदूर बस्ती से चला तो मुझे अपने पीछे बंद होते नरक के द्वार की आवाज साफ सुनाई पड़ी। मैं अपने होशोहवास खो रही थी और मेरा वह लाड़ला देवर ?

मेरी मनःस्थिति वह समझ रहा था लेकिन मेरे विचार तरंगों की पकड़ उस अल्हड युवक में कहां थी ?

मेरे सामने था सुदीप चटर्जी। मैं किसी की पत्नी, बहू या भाभी नही, सिर्फ बेहुला थी जिसकी रक्षा का पूरा दायित्व सुदीप का था। वह कॉलेज के भूखे भेड़ियों से मेरी रक्षा करता था और मुझे पता भी नही था कि मेरे सिर पर हर तरह की धूप से मुझे बचाने के लिए वह फन फैलाए बैठा है...

'मुझसे विवाह कर लो, सारी जिंदगी तुम्हें संभाल कर रखूंगा।' वह कह रहा था।

और मैं ? 'ना' कह कर उसी दिन मैंने एक कड़वे भविष्य को आमंत्रण दे लिया था...

उसने एक सवाल किया था मुझसे कि क्या मैंने किसी का मांनसिक चुनाव कर लिया है।

उसकी बात पर उस दिन भी हंसी आई थी। उस पगले को मैं कैसे समझाती कि चुनाव की अक्ल ही होती तो क्या उसी का चुनाव मैं न करती।

दूसरे दिन से उसे कॉलेज मे फिर किसी ने नहीं देखा था। उसकी कमी भी बहुत देर से महसूस की गई।

महीने भर बाद मुझसे मेरी एक सहेली ने कहा :

'कॉलेज छोड़ कर वह चला गया ?'

'घर ही तो गया होगा, चलो एक चिट्ठी लिखते हैं।' मैं अभी भी ठिठोली के मूड में थी, 'कॉलेज-आफिस से उसका पता तो मिल ही जाएगा...'

'कौन-सा पता... वह तो घर वापस ही नहीं गया। सुना है देश छोड़ कर चला गया...'

मैंने व्यंग्य किया :

'जो एक इनकार का बोझ नहीं उठा सकता वह किसी की जिंदगी का बोझ

क्या उठाएगा...'

मेरी सहेली पूछती रही कि मैंने क्या कहा ? उसका मतलब क्या था, लेकिन वह कोई बताने वाली बात तो थी नहीं।

अब, इस जिंदगी के घुप्प अंधेरे में स्मृतियां आकर जोंक की मानिन्द चिपक कर लहू पीती रहती हैं और मुझे कुछ पता भी नहीं चलता।

वह मर्म अब, समझ में आता है कि जब मेरा इनकार सुन कर उसकी जलते हुए सूर्य-सी तेज आंखें अचानक बुझ गईं तब उसके मन पर क्या बीती होगी।

सुना है आज तक वह अविवाहित है और मैं यह भी जानती हूं कि मेरे सिवाय उसका अन्य कोई कारण हो ही नहीं सकता।

कभी ध्यान लगाऊं तो उसी तरह मुस्कुराते हुए सामने आ खड़ा होता है :

'चलो, कॉफी पीने चलते हैं ?'

'और मेरी सहेलियां ?'

'उन्हें भी ले चलो...'

मैं इधर-उधर देखती हूं। वर्तमान की कठोर धरती मेरे पैरों के नीचे एकदम से चुभने लगती हैं। कहां सुदीप और कहां बेहुला...

इतनी अलग हो गई हैं दोनों की जिंदगियां कि पल भर की मुलाक़ात भी अब ध्यान मे ही होती है...

रोहिल ने एक पार्क के किनारे गाड़ी लगा दी थी और मेरे स्वस्थ होने का इंतजार कर रहा था कि मैं मानसिक रूप से इतनी संभल जाऊं कि घर जाया जा सके।

और जब मैं संभली तो पूछ रही थी :

'गाड़ी खड़ी क्यों कर दी ?'

उसने शाब्दिक रूप से उत्तर नहीं दिया लेकिन गाड़ी स्टार्ट कर ली।

आगे का रास्ता अंधेरे में अस्त-व्यस्त-सा दिखाई पड़ रहा था।

मैं अपनी उद्विग्नता पर घूघट डाल कर ही घर पहुंचना चाहती थी...

रात के दस बज चुके थे। अचानक मुझे एक झटका लगा। दिल तेजी से धड़कने लगा। शरीर को जैसे काठ मार गया।

चिंता की उत्तेजना लेकर मां घर में इधर से उधर अंदर-बाहर टहल रही होंगी। हर मोटर-कार का हॉर्न उनकी दृष्टि को फाटक की ओर ले जाकर खड़ा कर देता होगा। मेरे पहुंचते ही उनकी चहलक़दमी में समाधान दीखेगा, किंतु सड़क से बरामदा पार कर अपने कमरे में पहुंचने तक कितनी कौतूहली आंखें मुझे कितनी देर तक कुरेदती रहेंगी।

अब तो मेरे हिस्से में चंद यादें ही शेष रह गई हैं... सब चले गए, जो अच्छे थे वे भी और जो छिछोरे थे वे भी... रह गया है एक मेरा देवर जो बीमार है, पर एक दिन ठीक होगा और अपना रास्ता पकड़ कर हमेशा के लिए अलग हो जाएगा... और एक शिव जी के बराती मेरे पति, जिनके साथ मुझे निभाना है क्योंकि मैं भारतीय कन्या हूं। निभाना तो मुझे पड़ेगा ही...

देखेंगे... फिलहाल मैंने अपने होंठ, लड्डू भरे कटोरदान की तरह कस कर बंद कर लिए हैं।

विभूति

मैं नहीं जानता मैं कब पैदा हुआ, दिन या रात, सुबह या शाम के समय... उस समय जगमगाता उजाला था या घुप्प अंधेरा...

कोख के बियावां में मै मां की गरम सांसों या पिता के ब्रह्म बिंदु के साथ प्रविष्ट हुआ... मेरी मां के अलावा कौन बता सकता है ?

मुझसे कुछ पूछना या उल्टे-सीधे सवाल करना आपके हक़ में नहीं होगा, पता नहीं मेरा उत्तर आपको मान्य हो या नहीं...

मन की गूंज को प्रकट करने के लिए किसी सच का दुकूल मेरे पास नहीं है...

शायद मेरी मा के मन में कोई अजाना भय था, एक गहरी असुरक्षा थी और उसी आतरिक माहोल में मैने नौ मास की क़ैद काटी।

मा ने सोचा होगा, वह किसी छिपे हुए अनगढ़ विश्वास के बूते पर धीरज और सहिष्णुता के साए मे मुझे छिपा लेगी या समय आने तक ढके रहेंगी... फिर तो मैं अपनी शक्ति से संचालित होऊंगा...मेरी शक्ति यानी मां से मिले संस्कारों की शक्ति...काश, ऐसा ही होता...

मेरी छोटी-सी जान को. . कैद काल में ही हाल के फूटे अण्डे से निकले चूजे-सी नरम बनती हुई मेरी गुच्छड़-मुच्छड़ काया को... कम्पन के सहारे मां सहलाया करतीं।

शायद उन्होने चार या छः बच्चों की योजना बनाई होगी, मैं उनका छठा गर्भ था...

लड़के पैदा करके शायद मेरी मां एक पूरी बैटलियन तैयार करना चाहती थीं ताकि ताउम्र वे अपने बच्चों के घेरे में सुरक्षित बनी रहें... कैसे कह सकता हूं... लेकिन अपनी बात ?

कहने का मन कर रहा है इसलिए कह रहा हूं।

शाम का समय था। सुमेरु पर्वत की सीढ़ियां उतरता सूर्य पश्चिम दिशा की ओर सरकता जा रहा था। कहीं-कहीं आम की फुनगियों पर कमजोर धूप के नन्हे-नन्हे टुकड़े अटक गए थे... आसमान पर बादलों के बेल-बूटे उगने लगे थे।

मां की मोटर पोर्च में खड़ी थी। वह हनुमान मंदिर जा रही थी... पर उनकी

तबीयत कुछ ठीक नहीं थी। आंखों के आगे काले-सफेद धब्बे तैरने लगे थे...

बहुत दिनों बाद मौसी को कहते सुना था :

'इस बार मां बहुत कमजोर हो गई थीं... हमेशा सुस्त पड़ी रहतीं... कभी-कभी चलते-चलते लड़खड़ा भी जातीं...'

उस दिन पोर्च की ओर जाते हुए लड़खड़ाईं जरूर पर रुकीं नहीं। पोर्च की ओर बढ़ती ही चली गईं।

चौड़े लाल रंग के किनारे की सफेद रेशमी साड़ी उन्होंने पहन रखी थी और जैसे-तैसे डगमगाती अपनी गाड़ी 'प्लेमाउथ' में जाकर मौसी की बगल में बैठ ही गई...

लौटी तो उनके चेहरे पर एक अलौकिक नूर था, आंखों में स्निग्ध मुस्कान और पतली अगुलियों में फंसा एक गुलाब का फूल जो पुजारी ने प्रसादस्वरूप उन्हें दिया था...

मां की निगाहें उस दिन अंतरिक्ष में उड़ते पक्षी की तरह किसी अनजान गतव्य की ओर लगी हुई थीं। बाहर का सहन, कमरे-बरामदा लांघती हुई वह अपने कक्ष में चली गईं।

उसी समय मुल्ले की बांग सुनाई पड़ी...

मंदिर में आरती के घण्टे-घड़ियाल बजने लगे.. सुदूर कहीं धुआं छोड़ती, झक-झक करती हुई, सीटी मारती रेल गुजर रही थी...

मां के पेट में एक तीव्र सिहरन, पूरे शरीर को सर्प की कुण्डली में कसते हुए, टांगों को टीसती अंगूठे तक पहुच गई। उनके रोम-रोम में बिजली तड़कने लगी...

मां जड़वत थीं, बैठी रही... अगर एक लड़की और हो गई तब ? यह एहसास पत्थर की तरह उनके सीने पर सवार हो गया।

तेजी से आती-जाती सांसों को उन्होंने अनुशासन के हाथो दबाए रखा...

अम्मा उनके लिए निखालिस दूध में डली हुई चीनी का काढ़ा लेकर कमरे में दाखिल हुई...

मां की आंखों म लड़के-लड़कियों की आकृतिया तैर रही थीं, कभी वे बादलों के टुकड़ों में बदलतीं उनके पेट में उतरने लगतीं... एक उबकाई-सी बनकर गले तक आतीं...

और वह बेहाल होती रहीं।

अम्मा ने उन्हें हाथ पकड़ कर जबर्दस्ती लिटा दिया था। टेलीफोन पर टेलीफोन करवाए। डाक्टर, नर्स, दाई... आनन-फानन में सब एकत्रित हो गए...

पिता का ख्याल मां को जरूर आया होगा। वह किसी कार्यवश विदेश गए थे। बच्चा होने तक मां उन्हें देखना चाहती थीं : कितने ताने-बाने बुने उन्हें रोकने

के लिए लेकिन मेरे पिता को बच्चों से अधिक काम की चिंता थी और एक बच्चे के इस दुनिया में पहली बार आंख खोलने की प्रक्रिया में उनकी भूमिका भला क्या हो सकती थी।

मेरे पिता इस दृष्टि से दुनियावी हर्गिज नहीं थे। उनके लिए 'अर्थ' अधिक महत्वपूर्ण था, बच्चे तो आते-जाते रहने वाले थे...

आप सोचेंगे, बयानबाज़ी ऐसे कर रहा हूं जैसे सारी स्थितियों का चश्मदीद गवाह मै ही रहा होऊं...

नहीं, मैं गवाह नहीं था। लेकिन अम्मा ने ये किस्से मुझे इतनी बार सुनाए थे कि गवाही की जरूरत पड़ती तो मैं एक पक्का गवाह बन सकता था।

रात को जब सारे भाई-बहन सो जाते मैं अम्मा का आंचल पकड़ कर झूल जाता और उससे अपने सभी भाई-बहनों के इस दुनिया में आने की दास्तानें उगलवा लिया करता था। बचपन का यह एक ऐसा राज़ था जो सिर्फ मेरे और अम्मा के बीच महदूद रहा, शायद अब भी है...

अम्मा ने बताया था :

मेरी मां के लिए हर बच्चा उदासी के आलम में क़यामत बन कर ही आया क्योंकि किसी का आना इतना भाग्यशाली साबित नहीं हुआ कि पिता मां के क़रीब आए, या मां के प्रति उनका रवैया बदले...

जब लड़की हो जाती तो मां का उबाल उसी अनुपात में भभक कर बाहर आ जाता...

मेरे माता-पिता के बीच एक ठण्डी तक़रार जाने कब से चली आ रही थी। मैंने अपने बचपन से किशोरावस्था और उसके बाद जब तक पिता जीवित रहे, दोनों के रिश्ते बिगड़ते ही देखे।

दोनों के बीच का तनाव जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया वैसे-वैसे किसी अज्ञात भय और खतरे में मुझे डालता चला गया।

इसका असर मुझ पर यह पड़ा कि मां से जुदा होने का एहसास मुझे खतरनाक लगता। मैं उन्हीं से सटा रहता, रात में उन्हीं के पास सोना चाहता, ताकि सुरक्षित रहूं।

मैंने मां को आंसू बहाते देखा था। पिता के साथ उनकी चखचख सुनी थी। रातों में बेज़ार झींकते मां को देखा था।

किसी अज्ञात भय से सहमा-सिमटा मैं अक्सर आंखों के नीचे की जमीन ही

निहारता रहता, शायद इसीलिए मेरे दोनों कंधे अदृश्य बोझ से झुकते चले गए थे। मस्तक में एक अनंत शून्य और जवान पर ताले। अपने सभी भाई-बहनों में यही हुलिया थी मेरी।

मैंने अपने बचपन में शायद गाली-गलौच और रोने-धोने के अलावा और कुछ देखा ही नहीं था.. कम से कम आज मुझे यही याद है।

बहुत कम, पर मां को खुश होते भी मैंने देखा है...

जब मेरे पिता अपने अन्य घरों के बावजूद घर आते तो मां अपने हाथ से उनका खाना बनाती, परोसतीं, खिलाती...

डरते-लरजते किसी बात का आग्रह भी कर लेती...

कुछ बच्चों, कुछ इधर-उधर की समस्याओं के नाम से अर्जियां भी पेश करती जिनमें कुछ रद्द हो जाती, कुछ को मजूरी मिल जाती।

मुनीम को बुला कर पिता हुक्म देते :

'इतने नगद रुपए भिजवा देना।'

और बस... यही संबंध बाकी रह गया था, पिता और उनके परिवार का।

किसी की नौकरी की बात होती तो भी मुनीम जी बुलाए जाते :

'चिट्ठी लिख कर अमुक-अमुक को श्रीवास्तव के पास भेज देना...'

अपने हुक्मनामे, आराम से बैठ कर पिता ने कभी जारी नहीं किए। तेज कदम चलते हुए, दालान पार करते-करते जरा-सी गर्दन घुमा कर मुनीम को आदेश दे दिए जाते... वह भी अक्सर नहीं, वर्ष में दो या तीन बार यानी औसतन चार महीने में एक बार...

आपको इस तरह की परिस्थितियां विचित्र लगती है न ? जी हां, इन्हीं परिस्थितियों में हमारे बचपन ने आंखें खोली और फिर जवानी की देहरी भी पार कर गया...

मेरी दादी थीं लेकिन कभी हम बच्चों को उनकी प्यार भरी गोद नसीब नहीं हो पाई।

अम्मा कहती है, जिस कमरे में मेरा जन्म हो रहा था, ठीक उसके सामने वाले कमरे में डाक्टरों का आना-जाना लगा हुआ था, क्योंकि मेरी नानी को हार्ट अटैक हो रहा था।

मां का लगाव, नानी से कुछ अधिक ही था इसलिए मेरे जन्म की खुशी से अधिक उन्हें नानी के दिल के दौरे की चिंता थी, रंज था।

अम्मा बताती है—मेरी नानी बड़ी मिलनसार, हरदिल अजीज़ महिला थीं, बेशक बीमारियों ने आखिरी दिनों में उन्हें कुछ चिड़चिड़ा बना दिया था।

पहली बार जब उन्हें दिल का दौरा पड़ा, उसके बाद मां ने उन्हें अपने घर जाने ही नहीं दिया। नाना जरूर कभी अपने बेटों, कभी बेटियों के यहां आते-जाते रहते, वैसे उनका अधिकांश समय मेरी मां के पास ही बीतता क्योंकि अपनी इस संतान यानी मेरी मां से उनका लगाव अन्य बच्चों से कहीं ज्यादा था।

नाना अंग्रेजी और हिंदी के प्रकाण्ड पण्डित थे। बालकनी में हम बच्चों को साथ लिए गीता-पुराण, रामायण-महाभारत, पता नहीं कहां-कहां की कहानिया सुनाया करते।

मुझे और मेरे ऊपर वाली बहन को नाना सबसे अधिक चाहते थे।

मेरी गुमसुम-अन्यमनस्क रहने की आदत उन्हें बिल्कुल अच्छी नहीं लगती।

मा के कमरे मे जब कभी मुझे चुप बैठा पाते, अपने पास बुला लेते...

'अपने हमउम्र बच्चों के साथ तुम बाहर जाकर खेलते क्यो नहीं विभु...' नाना ने मेरा पूरा नाम 'विभूति' कभी नहीं लिया।

मैं कुछ कहू इससे पहले ही मेरी बहन मेखला आखें नचा, मुंह गोल करके कहती :

'यह बचपन मे ही बूढ़ा हो गया है नाना... हमेशा रोनी सूरत बना कर मां से कुछ कुनमुनाता रहता है... कभी पुराने सामानों को निकालकर पोछता-चमकाता रहता है...उनके खरीद की तारीख पूछता है, कीमत आंकता है.. सारे घर की रद्दी इकट्ठी कर कबाड़ी वाले को तौलवाता-बेचता रहता है...इतना ही नहीं, मा-पिता जी के नाम से रजिस्टर्ड हथियारो को धूप दिखाता-चमकाता भी रहता है।' इसके बाद जरा देर चुप रह कर जैसे कुछ याद आ गया हो :

'जब हम सब बगीचे में जाकर स्वामी जी के साथ कबड्डी खेलते हैं तब भी यह किसी कोने में बैठा बनिये की तरह कुछ जोडता-घटाता रहता है...

'आप कुछ भी कहिए नाना, इस पर कोई असर नहीं पड़ने वाला...

मेरा पुराण यही तक पहुंचा होता कि दूध का गिलास, सूखा मेवा या आम काट कर मां ही हमारी तरफ़ निकल आतीं या नाना जी के लिए दूध का गिलास लेकर आती अम्मा दिखाई पड़ जाती...

हम भाई-बहन किसी न किसी बहाने भाग छूटते क्योंकि किसी न किसी रूप में हम अपराधी होते...

कोई अनेक बार बुलाए जाने पर भी खाने की मेज पर न पहुंचा होता, किसी ने स्कूल से आकर हाथ-मुंह न धोया होता, यूनिफार्म न उतारी होती... किसी ने केसर-इलायची पड़ा हुआ गुलूकंद कमरा बंद करके चाटा होता, कोई चाट-पकौड़ी खाते हुए पकड़ा गया होता... इसी श्रेणी के अपराध सजा के इंतजार में तैरते रहते

पूरे परिवेश पर।

इस भाग-छूट में कोई पकड़ा जाता तो शामत आती :

'खेल के पीरियड में शामिल हुए बगैर स्कूल से भागे क्यों... चाट-पकौड़ी के पैसे कहां से मिले ? घर का खाना स्कूल से वापस क्यों आया ? चोरी से खाने की गंदी आदत तुमने कहां से सीखी...'

मां शायद यह मानना नहीं चाहती थी कि चाट-पकौड़ी के पैसे अक्सर हमें नाना दिया करते थे... लेकिन बताने की गद्दारी कौन करता ?

मां के सारे प्रश्न हम चुपचाप यूं ही सुन लेते। उनके उत्तर जरूरी भी नहीं थे।

दुनिया का बोझ अपने सिर पर अनुभव करते, गर्दन झुकाए, मां की क्रोधित आंखों में दूर तक झांकते हुए मैं, अतीत का सिंहावलोकन करने लगता...

ऐसे मौकों पर मुझे मां से डर नहीं लगता, बल्कि उनकी पीड़ा और असहाय वाणी मुझे भीतर तक झकझोर जाती।

मुझे, स्कूल या स्कूली माहौल, शिक्षकों का बर्ताव, पढ़ाई-लिखाई कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

स्कूल मैं केवल मां की खुशी के लिए जाता लेकिन अपना मन, अपनी चेतना मैं मां के पास ही छोड़ जाया करता।

छुट्टी होने का इंतजार मैं ठीक उसी तरह करता जैसे पिंजरे में बंद शेर अपने खाने के समय मिलने वाले कच्चे मांस की करता है।

मां का साया, उनका सान्निध्य मुझे हर पल चाहिए था। पता नहीं मैं किसी ग्रंथि का शिकार था, मोहग्रस्त था या अपने आसपास मुहवाए हिंसक पशुओं-सी डरावनी समस्याओं से डर कर मां के भीतर ही उनका समाधान ढूंढ़ना चाहता था।

कभी-कभी मैं निःश्छल और विश्वास-विकीर्ण आंखों से नाना की ओर देखता, कभी मां की ओर देखते-देखते सिर झुका देता।

मैं मां को कैसे समझाता कि मेरा मन न पढ़ने-लिखने में लगता है, न खेल-कूद में।

लेकिन होश संभालने से बहुत पहले ही अपने अधिकारों को समझ कर उनके प्राप्ति की मैं उपाय सोच लेना चाहता था...

बचपन के बाद कुछ समय और बीता...

मैं इतना बड़ा बहुत जल्दी हो गया कि स्थितियों को अच्छी तरह समझ लूं ...जो कुछ था उसमें मैं संतुष्ट नहीं हो सकता था।

मैं अपने अंदर, हृदय की गहराइयों में नजर गड़ाता हूं तो मुझे अपने आप

में एक होनहार श्रीमंत... एक नया व्यापारी हिचकोले खाता अब भी दिखाई पड़ता है...

मन को तसल्ली देने या आगे बढ़ने के लिए पूरा हौसला जोड़ कर आजमाने के लिए यह पर्याप्त होना चाहिए और शायद होता भी लेकिन मन की परतों में दबा-छिपा सन्नाटा मुझे ऐसा करने नहीं देता और मैं उसे तोड़ नहीं पाता।

मेरे व्यक्तित्व के विकास मे यही सबसे बड़ी रुकावट है। मैं जानता हूं मुझमे कोई हीन ग्रंथि नहीं लेकिन मेरा अर्जुन-विषाद मेरे सामने बिखरा, खुशियों को दर्दनाक हूक में बदल देता है। आज भी...

पिता की ओर से न कभी मुझे प्यार मिला, न आश्वासन। कभी प्यार से पास बुला कर उन्होने थपथपाया हो, मुझे याद नहीं।

उनके वाक्य मेरे मर्म को सदा भेदते ही रहे। बचपन के व्यंग्य प्रहारों ने मुझे आहत ही किया, दूसरो के लिए मन में ईर्ष्या पैदा की, अपने अधिकारों के प्रति सजग किया।

किसी बालक में इतने 'गुण' एक साथ हो जाएं तो उसे कपूत बनते कितनी देर लगती है।

मै जानता हू मेरे आचरण से मेरे पिता कभी प्रसन्न नहीं हो पाए। उनके आरोपों-आक्षेपों मे से कुछ आज भी मेरे कानों मे गूंजते है...

'तुम छल-प्रपंच को बढ़ावा देते हो...

'तुम झूठ बोलते हो...

'झूठे-सच्चे इलजाम लगा कर तुम भाइयो से लड़ते रहते हो...

तुम कुटिल वृत्ति के हो... तुम्हारे-साथ मिल-जुल कर रहने वाला हमेशा धोखा खाएगा... तुम धोखेबाज हो...'

अपने अंदर की सारी कटुता-तीक्ष्णता अपनी आंखों मे भर कर पिता मेरी ओर देखते...

मुझे रोष तो बहुत आता लेकिन दांती भीच कर मैं अपने पर जब्त रखता, शब्दों को चबा ले जाता...

उनकी क्रोधाग्नि के सामने मेरे सत्य के शाश्वत प्रश्नों का मूल्य क्या था ? सच का जामा पहन कर झूठ ही घर-समाज में, व्यक्तियों के हृदय में आसानी से प्रवेश पा लेता है...

ऐसे में मैं अगर झूठ ही बोल कर कुछ कहूं तो इसमें मेरा अपराध क्या था।

मन कहता :

पिता के लिए तो सभी बच्चे एक-से होने चाहिए...

यह मैंने अपने ही घर में देखा कि पिता भी मुक्त हृदय से अपना वात्सल्य दान नहीं करते...उनकी दृष्टि सब पर समान नहीं थी।

एक पेड़ के पत्ते होने पर भी हम में से प्रत्येक का अलग व्यक्तित्व था जिनमें से मेरे पिता अपने प्रेम-वात्सल्य के लिए उपयुक्त पात्र ढूंढ़ा करते थे। और मैं जानता था उसका अधिकारी उनकी संतानों में मैं नहीं हूं।

और इसलिए मैं मां के अधिक निकट था। सम्भावना इस बात की भी थी कि मां के अधिक निकट होने के कारण ही मैं पिता से दूर होता चला गया था।

इतना ही नहीं, मैं उनकी गोद से, उनकी सहज प्राप्त सम्पत्ति से, उनके विश्वास की छत्रछाया से भी निरंतर दूर रहा... और उम्र के साथ रहता चला गया।

मां के बेहद करीब शायद मै ही था इसीलिए मां ने मुझे अपना आश्वासन और आशियाना दोनों बना लिया।

मनस्विनी होते हुए भी मेरी मां पति की दुनिया नही देख पाई। अपने ही ढग से अपनी तपस्याओं मे लीन, अपने भौतिक-आध्यात्मिक पापो को धोकर परलोक बनाने मे लगी रहीं।

खेत की पून्नियों की तरह अनियंत्रण मे बड़े हुए लेकिन उस अनियंत्रण में भी एक नियंत्रण था। पर उसे कोई देख नही सकता था...

मेरी बहनो में अनेकता होते हुए भी एक ख़ास तरह की एकता थी। और यह एकता बाहर वाला भांप नही सकता था।

मंझली और छोटी मे कहने को बड़ी दोस्ती थी लेकिन उनके गुण-स्वभाव की भिन्नता को मां के असंतुलित व्यवहार ने और अधिक बढ़ा दिया... ऐसा मै मानता हूं, वरना...

मंझली नाटी और सांवली थी। छोटी बांस की तरह लम्बी, चुस्त और गोरी। उसकी देहयष्टि ठीक पिता की तरह थी, इसलिए वह मेरी मा की दुलारी बेटी थी। खूब हंसने-बोलने वाली, सहज, प्रांजल विचारधारा की, पढ़ने-लिखने मे होशियार, प्रतिभावान...

वह सबकी मुंहलगी भी थी। और सच कहूं तो धुंध की तरह छाई हमारे घर की मनहूसियत, उसकी धूप की तरह खिली हुई मुस्कान के आगे न जाने कहां ग़ायब हो जाती।

मेरी वह बहन निडर थी। अपने भीतर उसने निर्भ्रांत आसमान जैसे समेट रखा था।

मां के दमघोंटू भाषण सुन कर भी वह हंसती रहती।

उनकी आंखों के आंसू पोंछ कर वह मुस्कुरा देती और मां की आंखों में सबसे

ऊंची उठ जाती।

सौ गुनाह करती, पर सत्य की क़समें खाकर, सुबूतों के अनगिनत सिलसिले जोड़ कर तथ्यों को बौना बना देती..

मां की हर चेतवानी स्वीकार करती, सहर्ष मान लेती, और फिर अपने सोच की यात्रा पर निकल पड़ती।

मैं उससे प्रभावित था। मेरी-उसकी निरंतर प्रतियोगिता में अक्सर मैं ही हार जाता क्योंकि वह तनी रहती अपनी जगह और मै पस्त होकर झुक जाया करता। उतनी दृढ़ता शायद मुझमें नहीं थी।

मैं, चिर अतृप्ति के जगल मं मुर्झाए फूल की तरह बिखर जाया करता और इसीलिए मां के टूटे हुए व्यक्तित्व को अपने में जोड़-समेट लेता...

दिन यूं ही निकलते चले गए।

पिता की मृत्यु के बारहवें दिन बड़े भाई के सिर पर पगड़ी बध गई और बांस टूटे मेरे सिर पर...

शुरू से ही मैं पत्थर बन कर घर की जिम्मेदारियां समझता आ रहा था।

पिता के जीवन काल मे ही हमारी घर रूपी नौका परिस्थितिजन्य अंधड़ों के थपेडो से कितनी बार डगमगाई थी, डूबने की दहशत भी पैदा हुई थी, और अब, उनके बाद विकल होकर अंधेरी दरिया में उसे डूब ही जानी थी...

लेकिन मे खड़ा था सामने, चाकचौबंद... सामने लुढ़कती आती चट्टानों को दोनों हाथों की ताकत से ढकेलता हुआ।

अपने परिवार का मनु मैं ही साबित हुआ–सृष्टि की पुनर्सरचना मे रुचि लेता हुआ। बाकी सब लोग जिंदगी के हिचकोलो से नीद की खुमार मे थे। मैं, बेशक अपने ही विषाद योग की दुनिया में सदा जाग्रत मानव बच गया था...

और ऐसी हालत में वही हुआ जो होना था...

सबसे बड़ी बहन का विवाह हो चुका था लेकिन जब भी वह आतीं अपने दुख और शिकायतों की पोटली मां के पास छोड़ जातीं। पिता थे तो मां की व्यथाएं दुगनी होकर फिर ढर्रे पर आ जातीं और अब, पिता की मृत्यु के बाद मा के कृत्रिम संतुलन का आवरण भी पूरी तरह खुल गया था।

परिस्थितियों के खुलेपन से भयभीत वह अष्टांग योग में अपने मन की शांति ढूंढ़ने लगीं... उनके जीवन का उद्देश्य जीवन से आध्यात्म की ओर मुड़ने लगा '

मुझे लगा अब मैं सचमुच निराधार हो गया हूं।

पिता का व्यवसाय और बची-खुची जमींदारी मेरे चाचा ही देखते थे।

उनमें से सभी के पास सब कुछ था... सम्पत्ति का असली अवशेष...

उनके हर बच्चे के पास विदेशी, वातानुकूलित गाड़ियां थीं लम्बी-लम्बी...

बेशकीमती चीजों से लकदक अजायबघरों-सी लगने वाली ऊंची-ऊंची कोठियां...मुनीम-गुमाश्ते, नौकर-चाकर, नर्स-टहलुए...

लम्बी-चौड़ी, उम्दा छोटे स्कंधों, बड़े आवाड़ों और सुंदर सींगों वाली धौली-श्यामा गाएं... जिनकी देख-रेख स्वयं उनके मालिक करते।

हमारे कुल में गऊ पूज्या थी। पिता कहते :

'गऊ के अंग-अंग में देवताओं का निवास होता है। आज भी सम्मान-पूजा से प्रसन्न होकर कामधेनु की तरह वह मनोवांछित फल दे सकती है...'

हमारे घरो में केवल गऊ का दूध और उसी के बने हुए पदार्थ काम में आते थे।

ठाकुरवाड़ी के प्रसाद के लिए सुबह से ही दादी मां, ब्राह्मणियों को सामने बिठा कर मेवा घुटवातीं, छेने की छप्पन बानगिया बनवातीं और तब इन्हीं दूध की मिठाइयों का भोग लगता भगवान को।

बादाम, पिस्ते, केशर-कस्तूरी, इलायची, सोने-चांदी के वर्क इस तरह व्यवहार में लाए जाते जैसे आज के युग में चावल-दाल, रोटी-सब्जी।

भगवान के अतिरिक्त उस प्रसाद का उपभोग भी परिवार के प्राणी ही करते...

नौकर-चाकर, नौकरानी-दाइयों को तो वे ही गिनी-चुनी रोटियां, साग-भाजी और दाल ही मिल पाता।

लेकिन मेरे पिता के काम संभालने के बाद नौकरों को काफी सुविधाएं दे दी गई थीं। उनके वेतन बढ़ा दिए गए थे, कपड़े-ओढ़ने-बिछाने की बेहतर व्यवस्था हुई थी, गर्मी में पंखे और जाड़ों में उनके लिए गरम पानी का इतजाम भी हुआ था।

पिता कहते :

'भगवान के पार्षदों को, जितने अधिकार भगवान की तरफ से मिलते हैं उतने ही अधिकार हमारे कर्मचारियो को मिलने चाहिए...'

लेकिन पिता का यह दर्शन दादी मां या बड़ी मां कभी अमल में न ला पाईं। उनके लिए स्वामित्व और दासत्व का भेद पाटना असम्भव था...

और मेरे पिता ? समाज की परवाह किए बिना घर में भी क्रांतिकारी रहे। पर्दे की प्रथा उन्होंने अपने घर-परिवार से हटा दी, बिना दहेज लिए अपनी बहनों के बच्चों की शादियां करवाईं...

मेरे पिता ने आजीवन खादी पहनी और संस्थाओं को खुल कर दान दिया। जो याचक उनके द्वार पर आया वह खाली हाथ कभी नहीं गया, चाहे वह राजनेता

हो, धर्म-संस्थापक हो या समाज-सुधारक, उन्होंने दोनों हाथों, मुक्त मन से दान किया।

मेरे पिता ने सभी ऐश्वर्यों में अपना स्थान प्रथम रखा और अकूत पैसा कमाया अपने जीवन काल में।

पिता के गुजरने के बाद ऐसा लगा व्यवस्था विखर न जाय हमारी...

लगातार रोते रहने से मा का कलेजा फट कर आंखों में आ गया। हमारा वज़न तो उन पर पहले से ही था फिर भी एक अदृश्य सूत्र था जिसके सहारे वह टिकी थीं। वह टूट गया और मां सही अर्थों में निराधार हो गई।

हम भाई-वहनों पर ही नही, पूरे परिवेश पर उनकी हिदायते-नसीहतें पहले से कई गुना अधिक बढ़ गईं।

दार्शनिक मूड वना कर कहतीं :

'जमाना वहुत खराव है, तुम लोग उसकी लपटो से वचे रहो तो अच्छा...'

अजीव मन.स्थिति में रहने लगी थीं मेरी मां।

बडी हो गई वेटिया जव उनकी न सुनती या मनमानी करतीं तो वह स्वयं को अपमानित महसूस करतीं। कहती, उनके मातृत्व की खिल्ली उडाई जा रही है।

किकर्तव्यविमूढ होकर कभी वैठ जाती। एक ही विचार में डूबी बैठी रहतीं। उनकी सोच के पहलू एक ही दिशा में भागते, वह दिशा थी सुरक्षा की...

चाचा लोगों और उनके चंगुल से अपने वेटो को कैसे बचा ले जायं... बड़े-बड़े घरो मे वेटियों के ब्याह रचा कर किस तरह उन्हें उच्चस्तरीय समाज मे स्थापित करें ताकि उनका भी नाम हो, समाज-देश-धर्म के स्वरूप को उनकी बेटियों जैसे प्रतिभावान पथ-प्रदर्शक मिलें...

जीवन सही सृजन के मार्ग पर अग्रसर हो, मनुष्य, मनुष्य के साथ प्रेम के मार्ग पर आगे वढे। कल्याण का मार्ग सबके लिए प्रशस्त हो... यही तो कहा जाता है...

मेरी मा की कल्पनाओं का आदर्श-संसार यही था, और उनकी इस तरह की चिंतन का भागीदार केवल मैं था।

मैं, मा के पास ही सोता था।

जब तक उन्हें नींद न आ जाती मैं भी पड़ा-पड़ा पुराने पंखे की आवाज सुनता रहता या पलकों से ऊपर की छत को तोड़ कर आसमान में तारों की गिनती करने लगता।

सोचता :

'भगवान हमीं लोगों से रुष्ट क्यों हैं। चाचा के बच्चे मौज करते हैं, हमीं क्यों

उपेक्षित, अवांछित पड़े रह गए पिता की नजरों में...'

उस दिन चाचा और कानूनी सलाहकार के साथ जायदाद संबंधी मीटिंग थी।

वहां से वापस लौटा तो घिरनी की तरह मेरा सिर घूम रहा था। लग रहा था पूरे आसमान से किरचें टूट-टूट कर गिर रही हैं और मेरे तलवों में धसती जा रही हैं...

चाचा की बातें कांटों की तरह मेरी मांसपेशियो को खुरच गई थी। उनसे कुछ मिलने की उम्मीद व्यर्थ मालूम पड़ी थी। इतना ही नहीं, आभास यह भी मिल गया कि फूट का बीज बोकर हम सबका अस्तित्व वह पिता की वंशावली से ही मिटा देना चाहते थे।

इसका भी कारण था...

मेरे पिता उम्र के चौथे पड़ाव तक निःसंतान थे।

बड़ी अम्मा बीमार रहने लगी थी। हर पल मौत के नजदीक जाती उनकी हड्डिया गलन की पराकाष्ठा पर तेजी से पहुंच रही थी, सिकुड़ती-तड़पती वह अपनी जिन्दगी और मौत के बीच जूझ रही थी...

उधर मेरे पिता की कीर्ति आसमान छू रही थी, मन तीन डग में ही सारी दुनिया को नाप लेना चाहता था... पर घोर अशांत था क्योंकि जीवनसाथी उनके साथ मिल कर चल नहीं सकता था। सुख-दुख बांटने के लिए कोई नहीं था।

मेरे पिता को मन के किसी ऐसे मीत की जरूरत थी जिसके समक्ष उनका हृदय विवस्त्र हो सके... जिसकी झील-सी आखो को मुकुर बना कर वह अपना सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब देख सकें...

धन-कीर्ति और पुराने चेहरों ने उन्हें क्लांत कर दिया था... जितना कुछ था उससे अधिक पाने की उनकी चाहत थी। पर वह क्या था जिसके लिए उनका मन बेचैन रहने लगा था, यह शायद उन्हें पता नही चल पा रहा था।

इस मन की आतुरता से बचाव के प्रयास में वह शास्त्रों मे डूबे रहने लगे।

सहसा एक रात उन्होंने स्वप्न देखा या स्वप्न में उद्घोषणा सुनी :

'एक जीवन तुम्हें अभी और भोगना है।'

इसके बाद एक अबाध परिवर्तन उनमें आया। संत ज्ञानदेव के पिता की तरह उनका समस्त व्यक्तित्व संसार की ओर मुड़ गया।

उन्हीं दिनों उनका सम्पर्क मां से हुआ था। दोनों में पत्राचार हुए। आचार-विचार भी शायद मिलाए-परखे गए।

पता नहीं कितना साम्य था कितनी विपरीतताएं आईं, पर यह सत्य है कि मीरा बन कर समस्त जीवन काट लेने की प्रतिज्ञा मेरी मां ने तोड़ दी।

मां से पिता के इस अंतर्जातीय विवाह ने घर-परिवार में एक तहलका मचा दिया।

दादी मां ने मेरे पिता को बुला कर ऐलान कर दिया :

'बड़े, जो भी तुमने किया है ठीक नहीं किया, अब मेरी भी एक बात सुन लो। तुम जो चाहो करो हम कुछ नहीं कहेंगी लेकिन वह नवागता मेरे पारम्परिक घर में प्रवेश कर हमारी प्रतिष्ठा को धूल-धूसरित नहीं कर पाएगी।'

पिता मौन रह गए... पर लोग कहते है, उनका सुवर्ण जैसा रंग खान से काटे कोयले के समान हो गया, और उनकी काया सब्जी के डल्ले में पड़े हुए बासी बैंगनों की तरह लगने लगी...

यही से मेरी मां के संघर्षो का प्रारम्भ हुआ...

पिता के सामने कारोबार की व्यस्तता थी। इससे जो समय बचता उसमे तीन हिस्से हुए। पहला हिस्सा दादी मां, दूसरा पीडा से करहाती, अंतिम सांस आने का इंतजार करती बड़ी अम्मा और तीसरा हिस्सा हमारी झोली में पड़ा...

हमारी विवशताओं की आप कल्पना नहीं कर सकते।

कभी-कभी मै मा से पूछता :

'इन परिस्थितियां में इस परिवार से जुड़ना आपने स्वीकार क्यों किया ?'

मां ने मेरे इस प्रश्न का उत्तर अनेक बार दिया है... पर मुझे लगता है मेरा प्रश्न आज भी अनुत्तरित है...

और हम ? पता नहीं...

उपेक्षा, जुगुप्सा, अनधिकार, अस्वीकार के अहाते मे ही पैदा हुए, पले-बढ़े...

मेरी मां ?

पिता के परिजनो से दूर, श्रीमंतों की सामाजिक परिपाटियो से अलग, अपने शिक्षित समुदाय मे भी न खप कर, अपने गढ़े-सेए हुए सिद्धांतों को समेटे उस उल्का के समान धरती-आकाश के बीच लटक गईं जिसका आकाश में रह जाना या पृथ्वी पर गिर पड़ना भी दुर्भाग्य के आने का प्रतीक माना जाता है...

मुझे याद नहीं, मेरे पिता की कचहरी कभी हमारे यहां लगी हो। उनके सारे काम उसी परम्परावादी घर से हुए जहां मेरी मां के प्रवेश पर मेरी दादी ने प्रतिबंध लगा दिया था। मेरे पिता के जीवन का अधिकांश भाग भी वही बीता था।

अपने घर की ओर से आदर-सम्मान या स्वीकृति देना पिता के हाथ में नहीं था... इसके अलावा मां को और कुछ देने में पिता ने कोई कसर नहीं रखी...

शहर से दूर बाग-बगीचे वाला एक बड़ा मकान, उसकी रक्षा के लिए तैनात

रक्षक-चोबदार, नौकर-चाकर, रसोइए, दाइयां, कारें... और जो कुछ उन्होंने अनिवार्य समझा... सब कुछ दिया।

पर हमारे लिए इतना नाकाफ़ी था...

मैं अपनी मां से अनेक बार इस मुद्दे को लेकर झगड़ चुका हूं।

मैं जानना चाहता था कि इस तरह, दूध से निकला कर फेंकी गई मक्खी का जीवन उन्होंने विवश पीड़ावश स्वीकार किया या अपने प्रेम-संघर्षो से लहूलुहान होकर...

मां क्या कहतीं। कुछ कहतीं भी तो मैं संतुष्ट हो जाता यह भरोसा मुझे भी नहीं था।

मां जानती थीं, शायद इसीलिए चुप रह जातीं और मैं अपने नपुसक क्रोध की आग में अकेले झुलसता चला जाता।

मेरी मां का विवाह, मेरे नाना-नानी की मर्जी से ही हुआ होगा यह स्पष्ट था क्योंकि घर में उनका आना-जाना लगा ही रहता, लेकिन हमारा हक़ तो अपने पितृपक्ष के बुजुर्गों पर अधिक था और वही हमारी पूछ नही थी... इस प्रकार हमारे मानसिक अभावों की पूर्ति कभी नहीं हो पाई...

उस घर में जलसे-महाजलसे होते, गाड़ियां पर लदी, झरवे भर-भर के फूल-मिठाइयां आतीं, जगमग रोशनी होती, आतिशबाजियां छूटतीं...

मेहमानों में नेता-अभिनेता होते... मेरे पिता का वास्ता सबसे था... कभी-कभी राजे-महाराजे भी अतिथि होते... हम सभी से वंचित थे।

पिता कहते :

'यह मेरा शौक नही, मेरी विवशताएं हैं...'

और मेरी मां अपनी उपेक्षा, अपने अस्वीकार की पीड़ा अपने अंदर ही दवा लेतीं...

उनके रिसते हुए घाव हमने देखे थे। उनकी पीडा की तरंगो को झेला था, कहानियां सुनी थीं...

लेकिन इससे क्या... हमारा कसूर तो नहीं था कोई...

हमारा तो उन संवेगात्मक उपलब्धियों पर भी हक था जो किसी भी पिता से संतानो को मिलता है।

मां कहती हैं :

'तुम सब हमारी कोख के रिसते हुए घाव हो।'

मैं सोचता हूं अगर वह हमको इस दुनिया में आने से रोक देतीं तो नितांत एकाकी रह कर करतीं क्या ?

मां द्वारा ही मुझे पता चला, कि पिता उनसे अक्सर कहा करते :

'तुम अब वह नहीं रहीं जिसे मैं इतने लाड़ से ले आया था...'

मां पूछना चाहतीं, 'तुम रह गए हो वह...' लेकिन पूछ नहीं सकती थीं।

दोनों के संबंधों में बेचैनी प्रवेश कर ही गई थी।

पिता के स्वभाव की अस्थिरता पुनः करवट बदलने लगी।

एक बार पहले भी घर-बार से दूर हिमालय की ऊंचाइयों पर वह साधु-संन्यासियों के संग देखे गए थे।

लेकिन इस बार उनकी पीड़ा दूसरे किस्म की थी। अब उनके मन में सोई हुई राष्ट्रीयता अंगड़ाई लेने लगी थी।

मेरे पिता आकांक्षा की सीमा तक धन और यश अर्जित कर चुके थे।

वह प्रतिभा सम्पन्न थे, गम्भीर चिंतक थे पर उनका मन बेधित था कहीं से इसीलिए शायद यहा-वहां उलझ जाता... उनके तमाच्छादित मानस मंदिर में कोई न कोई छवि छिपी जरूर थी जो कभी निकल नहीं पाई और अपनी जिंदगी में आने वाली प्रत्येक नारी में वह उसी की छाया खोजते रहे...

मेरी मां मे भी उन्होंने वही छाया तलाश की... जो उन्हे नहीं मिली।

वरना, जाति-पाति के बंधन तोड़ कर, रस्मो-रिवाज के खिलाफ जाकर, संस्कारों की अवहेलना कर वह मेरी मां को लाए थे... उन्हें कुछ सुकून तो मिलना चाहिए था। उनका मानसिक संताप व त्रासदी कुछ तो कम होनी चाहिए थी...

बजाय इसके वह अपने मुलाजिमों, भविष्यवक्ताओ और पहुंचे हुए सिद्ध कहलाने वाले साधु-सन्यासियों मे स्वयं को बिखेरते रहे, अपनी सम्पत्ति उनके बीच लुटाते रहे...

ऐसे ही एक बाबा को उन्होंने पास के कस्बे से शहर बुलवा लिया है। उनके रहने के लिए महलनुमा एक बंगला दिया। नौकर-चाकर, विदेशी गाड़ी, ड्राइवर, पहरेदार सब कुछ देकर उनका स्टेटस बढ़ाया। पर उनका दखल भी मेरे पिता की व्यक्तिगत-जिंदगी तक सीमित नहीं रहा।

साधु महोदय ने पिता के कार्य-कलापों में दखल देना भी शुरू किया। उनको संयत करने के नाम पर उन्होंने क्या कुछ नही किया...

लेकिन पिता के क्षत-विक्षत, असंगतियों में उलझे हुए मन को वजनहीन करने का साधु बाबा का प्रयास चिंदी-चिंदी होकर उड़ गया...

अपरिमित धन लुटा कर भी पिता के सपने उनके अनुकूल नहीं हो पाए।

मां और पिता के बीच की खाई को साधु-संतों, योगी-महात्माओं ने बढ़ाया ही, कम नहीं किया। और इसका नतीजा यह निकला कि हमारा जीवन चकनाचूर होता गया, हमारे इरादे पूरा आकार लें इससे पहले ही नष्ट कर दिए गए।

परिवार की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ कर जीना, वर्जनाओं की सीढ़ियों पर

फूंक-फूंक कर क़दम रखना, द्विविधा के कांपते हाथ, सावधानी से थाम लेना... बस यही किया हमने।

अपने होश संभालूं इससे पहले से मैं भी यही करता आ रहा हूं।

मैं खाली हूं, मेरी जेब खाली है।

पिता के समय का तामझाम उतर जाने के बाद भी हमें विश्रांति नहीं मिल पाई है। जीवन हमारे क़रीब आ गया है या हम उसकी नजदीकी की ओर बढ़ रहे है, नहीं जानता।

मेरा मन देह के पार किसी अन्य चेतना पर मंडराता है... आश्वासनहीन... निराधार...

कही से कुछ मिलने की आशा नही है।

जिंदगी की सभी राहें दुर्गम लगती हैं इसीलिए मैं सवेदनाए ढूंढ़ता फिरता हूं...

परिस्थितियो के ताप से हमारी देह पिघलती रहती है।

सच बोलूं तो मां की बातें कभी-कभी असह्य-सी हो जाती है..

शायद उन्हें मेरे अटपटे प्रेम-प्रसंगो की खबर लग जाया करती होगी... मां ने कभी उन्हे नकारा... न स्वीकारा। शायद वह इन दोनो ही स्थितियों मे नहीं रहीं...

मां के अंतर के चैतन्य के विपरीत न होते हुए भी, सामाजिक मान्यताओं में बिखरा-बंटा, उनका मनाया हुआ मन उन्हे किसी भी निश्चय से परे ही रखता आया है।

मै जानता हूं पिता से टकराव की निरंतर स्थितियों ने मेरी मां को दो अस्पष्ट व्यक्तियों में बांट कर रख दिया है, एक स्थायी द्विविधा उनके ऊपर लाकर थोप दी है।

माहौल कैसा भी हो, मेरी मां समरस नहीं रह सकतीं। और अब तो लगता है अपना निजी अस्तित्व भी वह खो चुकी हैं...

इसके लिए जिम्मेदार शायद मेरे पिता ही थे... और अब भुगत रहे हैं हम सब...

स्त्रियों का अस्तित्वहीन होना या कर दिया जाना कितना दयनीय लगता है। ख़ास तौर पर उस स्त्री का जो अपने अस्तित्व के बल पर खड़ी होकर दुनिया की चुनौतियां झेलने के लिए कभी तैयार रही हो।

ऊबड़-खाबड़ अतीत की प्रतिध्वनियों से भरा मां का पराया बन गया मन... अनधिकृत उजड़ा हुआ उसका बीहड़पन अब किसी प्रकार की अनुकूलता झेलने

की स्थिति में कहां रह गया है।

जहां तक मुझे याद है मैंने मां को हमेशा आसपास उग आए प्रश्नों के भालों से घिरा हुआ पाया है। उनके पास अपना कहा जाने वाला, निजी कुछ भी तो नहीं है।

मैं सोचता हूं क्या जिंदगी ने मेरी मां को सिर्फ अपने बारे में सोचने का समय कभी दिया होगा ?

मैंने अपनी मां में सत्व की तलाश करती औरत की जन्मजात लड़ाई के कुछ अंश ही देखे हैं, उसकी व्यर्थता का अनुभव भी किया है कि जन्म-जन्मांतरों के संघर्ष के बाद भी उसे कुछ नहीं मिलता...

कुछ न पाने के क्षोभ से उसके बिलबिलाने का अनुमान भी मैं लगा सकता हू और जानता हूं इन सबसे उबरना उसके लिए कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

कालातीत है उसकी यह लड़ाई... जो औरत सदियों से अपने आप से लड़ती आ रही है फिर भी परम्पराओं की डोर वह तोड़ नहीं पाती।

मैं देखता हूं मेरी मां अभी भी पिता की स्मृतियों की छोटी-छोटी स्वर्ण-प्रतिमाए बना कर अश्रु-अर्घ्य से उनकी पूजा कर चरणामृत लेती हैं। उसके सहेजे हुए ग़म पिता के प्रसाद से लगते हैं जिसे मां ग्रहण करती है।

मां ने अवास्तविकता की चादर ओढ़ अपने आप को अच्छी तरह ढक लिया है। उसकी सच्चाई यही है।

मां का अकेलापन सन्नाटे की तरह उसी के भीतर से निकलता है और बाहर का नजारा देख, वातावरण अनुभव कर अंगारे की तरह दहकता हुआ उसी मे समा जाता है।

मन स्मृतियो और स्वप्नों के बीच फटा-फटा जा रहा है या कि क्षत-विक्षत हो गया है...

मैं भी एक बेसभाल उतावली के मुहाने पर आकर अटक गया हूं...

घर और वर वालो के चेहरे बिल्कुल बदले हुए हैं।

सब एक जगह आकर जैसे अलग-अलग बंट गए हैं। व्याख्या करने के लिए शब्द कहां से लाऊं ?

मैं न कवि हूं, न कहानीकार... बचपन से ही एक सपाट-सा व्यक्तित्व लेकर बड़ा हुआ। द्विविधाओं द्वारा दबोचा हुआ मेरा मानस मिट्टी के घर की तरह कच्चा है।

मेरी उदासी संक्रामक है...

मेरे चारों ओर ऐसे बादलों का जमावड़ा होने लगता है जो हर क्षण बरस उठने के लिए तत्पर रहते हैं...

अतीत कब वर्तमान और वर्तमान अतीत बनने लगता है मैं समझ ही नहीं पाता। तेज हवा में हिलने वाले पत्तों की तरह मैं झोंके खाता रहता हूं...

मेरा मन एक जगह से उठ कर दूसरी जगह जा बैठता है, फिर वापस आता है, कभी भटकने भी लगता है... वक्त को पकड़ कर अपने हिसाब से ढालने का हुनर मुझमें नहीं है।

उन दिनों मैं आश्वस्त था कि मेरे व्यक्तिगत संबंधों, मेरी प्रेम कहानियों को, अन्य किसी की नहीं तो मां की स्वीकृति अवश्य मिलेगी... और इसका कारण था।

मां जानती थीं कि मैं महाभारत के अभिमन्यु की तरह, बाहर की सारी विपरीतताओं से अकेला ही जूझ रहा हूं। मेरे भीतर के भीतर भी एक लड़ाई चल ही रही थी मेरे व्यक्तिगत संबंधों को लेकर।

इन सबको साधने के लिए जिस बुद्धि-पराक्रम की जरूरत थी वही जुटाना था। मुझे जनमत की जरूरत भी थी... छल... विश्वास... सभी तो चाहिए...

वह सब कहां था ?

विवाह के पैग़ाम आ रहे थे और मैं इस बुरी तरह उलझाव झेल रहा था कि लगता, हालत यही रही तो मेरा विवाह होना भी कठिन ही हो जाएगा।

लेकिन वह भी हुआ। अतीत के भीतरी गह्वर में घुस कर मैं बाहर निकला, फिर घुसा, फिर बाहर आया... याद नहीं कितनी बार...

विवाह भी मेरी शंका के विपरीत हो ही गया...

जो लड़की मेरी पत्नी बन कर आई मैं जानता था उसकी पटरी मेरी मां से नहीं बैठेगी और वही हुआ।

जितना मैं खुद को मां के क़रीब पाता मेरी पत्नी उतनी ही दूर थी मां से...

मुझे यह दूरी अच्छी नहीं लगती... बल्कि सालती थी। पर इसका हल या इसके लिए कोई उपाय नहीं था।

मेरी जिंदगी में जैसे किसी ने चीरा लगा दिया था।

सतह पर समाधि लगा कर बैठने वालों के इरादे भी पत्थर की तरह ही भारी हो गए थे। शायद ऐसा ही होता है, और वह पत्थर बिना मंत्र सिद्ध शिला की तरह

डूबने लगता है।

सोचता बहुत था मैं लेकिन मेरे सोच वर्जना की सीमा पर पहुंच कर वहीं रुक जाते...

भाभी और नन्हे की बीवी का संघर्ष ज्यों का त्यों बना हुआ था।

गलती मुझसे ही हुई थी। बीच में पड़ कर इस लड़की को नन्हे के लिए स्वीकार करने की सिफारिश मां से मैंने ही की थी।

भाई को लेकर मैं चिंतित रहने लगा था। मुझे विश्वास था समय रहते अगर उसकी शादी न हुई होती तो वह भटक गया होता...

नन्हे की अपनी बीवी से खूब पटती है लेकिन मां से वह भी फिरण्ढ रहती है।

शायद मेरी मां ही बेजार थीं अपनी बहुओं से, एक भाभी को छोड़ कर...

कभी-कभी उनका व्यवहार औचित्य की सीमा पार कर जाता है, अभी भी, इतनी विविधताएं झेलने के बाद...

बहुएं कभी काफ्तान पहन कर सामने आतीं तो मां की नजरें भीतर तक दौड़ती चली जातीं... सफेद लम्बी टांगो मे कांटों की तरह चुभने लगतीं। कहतीं कुछ नहीं लेकिन उनके बधे हुए होंठ काप-कांप जाते।

मैं सोचता हूं अब यह उम्मीद रखना भी गलत होगा कि मां के स्वभाव में किसी तरह अनुकूलता का स्वर सुनाई देगा...

शायद सहज और सामान्य जिंदगी जीना हमारे भाग्य में है ही नहीं। हम लिखा कर नहीं लाए...

पैसों के ओढ़ने-बिछौने पर हम पैदा हुए थे और पैसों का भयंकर अभाव...रूपांतरित रेखाओं की तरह हमें चलना पड़ा, एक साथ, फिर भी अलग-अलग...

हम तटस्थ होना चाहते हैं पर हो नहीं सकते।

परिस्थितियां हमारे पैरों से बंधी हैं और प्रतिक्षण हमारे पैरों को भारी करती जाती हैं... हमारे संघर्ष अपनी जगह...

हमारी कहानी हो सकता है लीक से थोड़ी हट कर हो, क्योंकि हम स्वयं ही पात्र हैं और निर्माणकर्ता भी।

हम किसी चीज की खोज कर रहे हैं, शायद किसी के मर्म को पाटने का प्रयास भी... किसी की जिजीविषा के अर्थों के लिए अक्षर तलाश रहे हैं...

लेकिन प्रश्न आंखों पर पट्टी बांधे हमारे लिए गांधारी बन गए हैं...

कौन मुंह खोले, समय निकाले, विचारों की झाड़-फूंक करे... ताकि छिपा हुआ कोई उत्तर नीचे हो तो उभर कर सामने आए।

बंधी मुट्ठी लोग कहते हैं लाख की होती है और खुलने के बाद वही ख़ाक की बन जाती है...

अभी तक हमारे परिवार का पूरा भेद खुला नहीं है...

मां खिड़की से ही आसमान निहारती है आज तक। आए हुए दुख को कुछ समय तक सहती रहती हैं फिर उसे धक्का देकर उसकी ओर से आंखें मूंद लेती हैं...

छोटी की शादी ठहर गई थी। मां की पूजा-प्रार्थना, व्रतोपासना सिर पर चढ़ कर जैसे बोल पड़ने वाली हो... इस महत्वपूर्ण क्रिया-प्रक्रिया मे एक महत्वपूर्ण सुख की स्थिति बननी चाहिए... यह एक व्यावहारिक बात है, एक चिर प्रतीक्षित समस्या हल होती जा रही थी...

लेकिन जाने हम लोग किस सकारात्मक या नकारात्मक स्थितियों से जूझ रहे थे कि निश्चयात्मक सुख की आस्था और उसके गहरे जीवन दर्शन को समझने या सुनने के लिए भी कोई तैयार नहीं था।

छोटी बहन बड़े प्रतिष्ठित घराने की सुषमा बनने वाली थी जबकि बड़ी का घर-परिवार साधारण ही था, धार्मिक-सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से आकाश-पाताल का अंतर था...

विवाह की तैयारी की बात सुन कर ही मां के हाथ के तोते उड़ गए थे, पांवो के नीचे से जमीन जैसे सरक-सी गई थी... उनके लिए उगलना या निगलना दोनों ही कठिन था...

पहले मां छोटी-छोटी बातों पर झल्ला उठती थी, किसी न किसी बात को लेकर ताने दिया करतीं, बहुओं या बेटियों के राजमर्रा की बातो पर, बहन के विजातीय प्रेम-प्रसंगों पर और जब थक जातीं तो होंठों पर मुहर लगा लेतीं।

उन दिनों होंटों पर मुहर लगाने का दौर था।

बोलना-चालना लगभग बंद कर रखा था। अपनी मातमी सूरत और हांफती-कांपती देहयष्टि लिए डोलती फिरतीं।

शायद अपने से बाहर होकर कुछ सोचने का प्रयास करती हैं... अपनी कुढ़न कम करने के लिए किसी का सशक्त सहारा ढूंढ़ती हैं...

पर मेरे सिवाय उनके पास बैठने या उनके साथ सोचने-समझने की जहमत किसी ने तो नहीं उठाई थी। उनके नासूरी जख्मों की पट्टी खोल कर मवाद साफ

करने का काम तो मैंने ही किया था...

उनकी बहूरानी न अब हंसती हैं, न चुहल करती हैं...

उन दिनों पूछ कर अंदर आतीं और अपनी बात कह कर पूछ कर ही दबे पांव वापस चली जातीं... इधर-उधर कुछ सूंघने की कोशिश भी करतीं...

देवरानियों की देखा-देखी मां के दबावों से उन्होंने भी अपने आपको मुक्त कर लिया था।

मां के पोर-पोर में समाए शैथिल्य को मां की कमजोरी मानने लगी थीं...

सबको थाम कर रखने वाला अर्थतंत्र ही जब मां ने अपने हाथ में नहीं रखा...अशक्तियों से घिरती चली गईं, तब उनके प्रेम का भी क्या अर्थ रहा...

मेरा मन एक ख़ास तरह की करुणा से भरा रहने लगा था।

एक जमाना था जब वह किसी भी तरह की समस्याओं से जूझने का दमख़म रखती थीं, उनका सामना करती थीं। जीवन में घटित, दुख, संताप, भर्त्सना, अपमान सब कुछ पी जाती थीं... साक्षात् नीलकण्ठ की तरह... अब लगता उनकी हर रग, उनकी दुखती हुई रग बन गया था...

घर में बेसब्री और बेचैनी आसमान में धूल की तरह छाने लगी थी। कोई ऐसा आलम नजर नही आ रहा था कि दस बूंदे पड़ें और आसमान में छाई हुई वह धूल जहां-तहां बैठ जाय।

कभी-कभी मेरे मन में यह बात भी आती कि उसी बेचैनी-संताप में रहना हमारी नियति बन गई थी...

प्रौढ़ अभिव्यक्तियां तो हमारी कभी नही थीं लेकिन उन दिनों मेरी संवेदनशीलता भी तेजी से निकलती जा रही थी, मेरे अंदर से...

इससे मेरा व्यावहारिक या ब्यावसायिक जीवन प्रभावित नहीं हुआ, ऐसा मैं नही कह सकता। विकास के द्रव्यों पर रोक तो लगी लेकिन मैं टूटा नहीं।

मन में आता कि कितने ही लोग जो मेरे साथ कॉलेज में पढ़ते थे, कहां से कहां निकल गए थे... उनके पास चार-चार गाड़ियां थी—देशी-विदेशी—रोल्स रायस, मर्सीडीज... और मैं ?

अपनी उसी पुरानी मारुति में घूमता था...

इसी बात को लेकर बीवी अक्सर उलझ पड़ती :

'मुझे तो यूनिफार्म पहने ड्राइवर और लेटेस्ट मॉडल की कार चाहिए...

मैं उसे देखता रह जाता...

उसकी फर्माइशें पूरी शिद्दत पर होतीं :

'आखिर हमारा भी एक समाज है, मेरी बहनें हैं, मौसियां, चाचियां हैं.. सब कितने सम्पन्न हैं... नित नए गहनों से सजी-धजी अपने-अपने पति-परिवारों की श्रीमंती झाड़ती फिरती हैं... कानों में जड़ाऊ कुण्डल और हाथों में नए-नए कीमती पर्स नचाती

फिरती हैं... जोड़ों में आती हैं... और मैं..'

मैं जानता था ऐसे मौक़ों पर वह थूक की तरह फीकी पड़ जाती होगी... मैं वहां नहीं होता लेकिन उनके सामने उसके चेहरे, उसके बोलने के अंदाज में अनेक रातों की कालिमा दुगनी-तिगुनी होकर माहौल पर छा जाती होगी...

ऐसे मौक़ों पर उसका स्याह चेहरा देख कर मेरी निजता और संबंधों के नाजुक धागे तार-तार होकर बिखरने लगते।

मेरी पत्नी चाहती थी बच्चों सहित उसके साथ मैं किसी अलग कोठी में रहूं।

मैंने उसे कई बार समझाने की कोशिश की थी कि मां के रहते हुए अलग रहने की बात मैं नहीं सोच सकता।

'तो फिर मुझे ही अलग कर दो...' एक दिन वह तुनक कर बोली, 'अपने घर की स्वामिनी मैं खुद होना चाहती हूं।'

मैं तो अवाक् उसे देखता रह गया, लेकिन अगले दिन यही बात उसने मां से कह दी।

मां ने इधर-उधर न देख कर सीधे उसकी आंखों में देखा, अपनी आदत के नितांत विरुद्ध...

'मैं तो बहुत पहले मंझले को यह सुझाव दे चुकी हू कि अब उसे हमारा ख्याल छोड़ कर तुम्हारी संतुष्टि की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। तुम्हारी रुझानों का ख्याल रखना चाहिए..' मां की आवाज सपाट थी, न उसमें कोई आक्रोश था, न शिकायत, न अभिव्यक्ति, न खोज की उत्कण्ठा।

मेरी पत्नी जोर-जोर से रोने लगी.. उसकी धाडें सुन कर सब लोग एकत्र होने लगे।

मैं भी आया और सोचने लगा किस दूरबीन से मै स्थिति का जायज़ा लूं, किस तरह अपनी पत्नी को समझाऊं...

घर-परिवार के हर झगड़े, हर मसले को संक्षिप्तम् कर देने वाला मैं हत्बुद्ध-सा खड़ा रहा, फिर बाहर चला गया।

मेरे नाते-रिश्तेदार कहने लगे थे कि मैं अलग होने की बात इसलिए नहीं सोचता क्योंकि अगर ऐसा हुआ तो जिस सम्पत्ति, जगह-जायदाद, पर मेरा एकछत्र राज्य था वह सभी भाई-बहनों में बंट जाएगा। उसके कई टुकड़े हो जाएंगे...

मेरा मन कचोट कर रह जाता... कैसी असंवेदनशील बातें थीं।

मैं अलग होकर अपनी मां को दुखाना नहीं चाहता था। उनके भटकाव को दांव पर लगाने की मेरी इच्छा नहीं थी।

आखिर मां को हमेशा नहीं रहना था। और यह भी तय था कि उनके बाद

घर-रसोइयां बंट जाएंगी। लेकिन उनके जीते जी, टूटने का दुख ?

मां ने वैसे ही जीवन में कम दुख नहीं झेले थे...

सिर झटक कर मैं पीड़ा पहुंचाने वाले विचारों से नजात पाने की कोशिश करता। अपने आपको समझाता :

'कहने दो जो कुछ लोग कहते हैं। मेरा मन साफ है। मैं अपने बांधवों की सम्पत्ति का पहरुआ हूं और वही रहूंगा। मेरा हक़ उसी पर होगा जो क़ानूनन मुझे मिलेगा...

'अगर मैंने सुनी-सुनाई बातों पर अपना कण्ट्रोल समाप्त कर दिया... अपने परिवार की अर्थरूपी अर्गला को ढीला छोड़ दिया तो देश, काल और स्थितियों को देखते हुए सब नगण्य से नगण्यतर होता चला जाएगा...

'धन कमाना अलग बात है पर सम्पत्ति को संभाल कर रखने के लिए भी जिस ऊर्जा की जरूरत पड़ती है, उसका महत्व कम नहीं। वह हर जगह उपलब्ध भी नहीं, उसका सर्वत्र अभाव है... अगर, वह मेरे अंदर है तो उसका उपयोग मैं करूंगा।...'

अपने समय को एक क्रीड़ास्थल बना कर मैं भी खेल सकता था... मौज मार सकता था, इठला सकता था... पी-पिला कर दोस्तों की महफिलें सजा सकता था...और उजास का उद्गम बन कर सबका चहेता बन सकता था...

लेकिन मैंने अपने अविरल आवेश को सदा संभाला था।

मां की सीखों को सुना ही नहीं, उस पर अमल किया था।

पिता के बाद भी घर की आबरू बची रहे, स्थितियां संभली रहें, हमारा विवस्त्र होना किसी दूसरे पर जाहिर न हो, हमें उस हाल में कोई देखे न...इसका पूरा प्रयत्न किया था...

पलभर को भी मैं रुका नहीं... पीछे घूम कर नहीं देखा, वरन् अनवरत चलता रहा...

जिदगी के नाटक का निर्वाह करता रहा...

ऊबड़-खाबड़ पथ की परवाह किए बिना तीव्र गति से तेज... और तेज़... बढ़ता रहा.

मैं पैंतीस पार कर चुका हूं लेकिन अभी भी मंडरा रहा हूं... अंधेरा घना और घना होता जा रहा है, लेकिन मेरे पैरों को विश्राम नहीं है...

सोचता हूं, जब मेरा आज इतना कोहराच्छन्न और अस्पष्ट है तो कल क्या होगा। आने वाला कल तो बीते हुए कल की प्रतिच्छाया ही होता है।

मैं अपना चेहरा दर्पण में देखता हूं। मन आसमान की तरह निचुड़ने

लगता है।

कनपटियों पर सफेदी का आधिपत्य देख कर कई बार अपनी ही भृकुटी चढ़ने लगती है।

शक्ल पर कहीं मुलायमियत नजर नहीं आती, एक पक्कापन बढ़ता जा रहा है। मेरा चेहरा सख्त दिखाई पड़ने लगा है।

कपड़े ढीले-ढाले पहनता हूं लेकिन ढलान की छूटी हुई छाप उन पर कोई भी देख सकता है।

अपने आपको लुंज-पुंज महसूस करता हूं, असफल मनोरथों का आईना बन गया हूं मैं।

एक नई चिंता सामने आ खड़ी हुई है, बहन का विवाह...

असमंजस की कई देहरियां-दरवाजे लांघती हुई मा एक दिन बैठक में आ गईं।

बरसने वाले बादल की तरह आंखें भरी-भरी, मन तार-तार झूलता हुआ।

मां मुझसे कुछ कहना चाह रही थीं और मैं उनसे कतरा रहा था।

मालूम था मा की बात मुझे सुननी होगी, सप्रयास चढ़ाया हुआ उनका तटस्थता का मुखौटा भी उतारना होगा...

गर्मी के दिन थे।

धूल के बादलों से आकाश पूरी तरह आच्छादित नजर आ रहा था।

मां के अंदर आवे मे रखे हुए वर्तनों की तरह कुछ तप रहा था।

मुझे देखते हुए मां तखत पर बैठ गई।

उनकें जीवन का अनिवार्य अंग बन गई उनकी दुखद मुद्रा पहचान लेना मुझे कठिन लगा।

वातावरण एकदम से संजीदा हो उठा।

कोई बात न कह पाने की पीड़ा मां के चेहरे पर उजागर थी।

अंततः मुझे ही पूछना पड़ा :

'क्या बात है मां, किस उधेड़बुन में पड़ी हो ?'

पूछना मैं यह भी चाहता था कि किस कड़वे स्वाद की जुगाली कर रही हो लेकिन यह सोच कर चुप रह गया कि बात तीखी हो जाएगी।

मां का संयमित मौन अटूट रहा।

मेरी जिज्ञासा अपनी हद छोड़े इससे पहले ही मैंने उसे मुट्ठी में भींच लिया।

मां अप्रतिम बनी रहीं। उनके होंठ फड़फड़ाए पर कोई शब्द फूट कर बाहर नहीं आया। उभरी हुई नसों वाले हाथ विचित्र मुद्राओं में इधर-उधर घुमाते हुए अंदर की घुटन वह व्यक्त कर रही थीं।

हमारे बीच एक अजीब तरह की बेगानगी आकर खड़ी हो गई जो मुझे अच्छी नहीं लगी और मैं उससे ऊबने भी लगा।

मेरी नब्ज़ थोड़ी तेज हो गई।

ऐसा लगा जैसे पौ फटने के पूर्व का अंधेरा आकर ठहर गया हो।

कितना समय बीत गया मुझे अंदाजा नहीं रहा।

अचानक एक उड़ी-उड़ी-सी आवाज जैसे किसी भिंचे हुए गले से निकली :

'भैया, मैं तीर्थाटन के लिए जाना चाहती हूं।'

मैं अवाक् रह गया।

मां की बात बड़ी असामयिक और असंगत भी लगी।

'यह तो कोई समय नही है मां, तीर्थाटन पर जाने का !' मेरी आवाज मुझे ही तल्ख़ लगी, 'आपका यहां रहना बहुत जरूरी है। यहां 'अभिनव' से कौन मिलेगा। तारीख़ तै करना, और भी बहुत कुछ बाक़ी है अभी।'

मां चुप...

मुझे ही कहना पड़ा :

'और फिर जीजी के बारे में भी आपको सोचना है। उनका इस तरह यहां रुके रहना कहां तक मुनासिब है।'

अनजाने ही मेरा हाथ अपने सिर पर चला गया और मुट्ठी मे भींच कर अपने बाल मैं धीरे-धीरे खीचने लगा...

कहते हैं न, कि नर्वस होने पर आदमी अजीब-सी हरकते करने लगता है, मैं भी वैसा ही कुछ करने लगता था जिसे देख कर घर के परजीवी, चिंतामुक्त लोग हंसने लगा करते थे।

मां फिर भी चुप रहीं।

'इस मौसम में कहां जाएंगी आप ?' फिर पहल मैंने ही की।

मां के बोल फूटे :

'मैं क्या कहूं, कहां जाऊंगी... तुम्ही तो कहते हो कि जो प्रश्न उठे उसे कह दिया करो, तुम्हारे पास हर प्रश्न का उत्तर है... अब अगर मेरे जाने का इंतजाम नहीं कर सकते तो न सही। मैं ही सारे काम सलटा कर अपने विषय मे सोचूंगी...'

इसके आगे की बात, अगर कोई थी तो मां के होंठों पर आकर थमक-सी गई।

वह सामने पड़ी पुस्तक के पन्ने एक ख़ास अंदाज, एक विशेष त्वरा से उलटने-पलटने लगीं।

लगा उनके अंतस्थल की उच्चाटन क्रिया ने जोर पकड़ लिया हो...

और समय जैसे वहीं रुक गया...

हम अपनी जगह पत्थर हो गए, जाने कितने दिन...सप्ताह...महीने...वर्ष...

हमारे बीच कोई संवाद नहीं हुआ।

उद्वेगहीन दोपहरी ढलने की प्रक्रिया में संलग्न थी।

सन्नाटा निरस्त हो रहा था।

दरअस्ल, दोपहर और शाम अपने साए फैलाते-फैलाते वातावरण की सूंघ भी लेते रहते हैं।

मां की बात अधूरी रह गई थी...

पर, यह कोई कभी नहीं जान सकता कि मेरे चैतन्य मन को अपने इरादों की उंगली से एक बार फिर कुरेद कर जख़्मी कर दिया था। मेरी चेतना पूरी तरह उखड़ गई थी।

किसी वक़्ती साय में छिपे अपेक्षाओं के सिरे फिर उड़ कर मेरी खुली हथेलियों पर आ चिपके थे।

अर्थों की बिल्ली, शब्दों के रास्ते इसी तरह हमेशा काट जाया करती है...

कैसी काई जमती जा रही थी मेरे मनसरोवर पर.. यहा सोच ठहर ही नहीं सकते। एक के बाद दूसरे ऐसे फिसलते चले जाते हैं जैसे कही रुकना-झुकना उन्होंने सीखा ही न हो...

मुझे लगा, जो भी काम मैं हाथ मे लूंगा वह विस्फोटक हो जाएगा। अपने किए का यश क्या मुझे स्वीकृति भी नही मिलेगी..

मा से भी नहीं... और पत्नी ?

उसका साथ ही अभी कितने दिन का था !

मै ऊबता जा रहा था।

इस अजानी भूमिका के नाटक में अभिनय करने की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न भी कहां था।

मन का दर्पण इतना स्वच्छ मुझे कभी नही दिखाई पड़ा कि मै अपनी उम्र का पथराया चेहरा कुछ देर के लिए निरख सकूं।

हमेशा चिढ़े-चिढ़े रहना मेरा स्थायी भाव बनता जा रहा था।

बच्चों की भोली-भाली बातें भी मुझे कुरेद जाती, बुरी लगती, उनकी हंसी, उनका विनोद असह्य हो जाता...

अपने इस परिवर्तन का कारण मैं नहीं जानता था फिर भी किसी जुम्बिश में खिंचता मैं उसी ओर बढ़ता चला जा रहा था।

उद्वेगों से भर जाता हूं तो मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है और निरुद्वेग होता हूं तो मेरा 'स्व' बाहर आकर टूटने लगता है।

अपनी स्थिति के लिए दोष मैं किसे दूं ?

पिता को ?

लेकिन वह तो एक ज़ंग खाया रिश्ता था।

मां के निरंतर सान्निध्य को ?

शायद हां, उसी ने बीज बोए मेरे अंतर पट पर अनंत उदासी का... अंधेरे का...काले पाप की निजी उद्दामता का... थरथराती दहशत का.. चीत्कार को सन्नाटे में समेटती मृत्यु का...

पुरुष और स्त्री की अनबन में पुरुष की निर्दय दृष्टि स्त्री को नाकाम कर देती है। उस क्रूर किस्म के प्रहारों के बीच मेरी चिंताकुल अवस्थिति त्रिशंकु की तरह में झूलती रह गई थी।

खुल कर सांस भी नही आती। इन सांसों के आगे भी कुछ है... वह कुछ क्या है, यही गवेपणा प्रमुख थी।

मैं सोचता रहता इन सडी हुई सांसों के आगे और क्या है ?

कितने अटकाव आए मेरे रास्ते पर... पग-पग पर हिचक... लगता है कभी निरापद हो ही नहीं सकता...

पिछले वर्प भी लाखों का घाटा हुआ...

घूस के विना आजकल काम नहीं चलता और घूस देने के वाद भी काम करने वाला अजाने तल में प्रवेश कर जाता है...

बेचने के लिए निकाली गई वंद फैक्ट्री... उसका भी कुछ स्पष्ट नहीं... न टाइटिल... न सम्बन्धित कागज़ात...

सोचता रहता पिता जैसे परिपक्व व्यक्ति के किए हुए काम भी इतने वचकाने क्यों रह गए थे...

लोग पैसा खा गए और खाली पिटारा हमें सौंप दिया गया...

दाए-वाएं दीवारें ढही पड़ी हैं... लोगों ने वहां अपने डेरे जमा लिए हैं...

वहीं पर एक पीर की कब्र भी है जिसे छूना दगे-फसाद का आवाहन करना है...

वहां का भुतहा वातावरण... जब भी गया एक अजीव दहशत में भर कर लौटा...

कितनी वार इसे बेचने के कागजात तैयार हुए... ग्राहक आए... खरीदने को तैयार हुए और अंतिम क्षण में भरभरा कर जाने कहां निकल गए...

घर में कोई कुछ नहीं करता। अकेला मैं ही कहां-कहां मुंह मारता फिरूं ?

आपको मेरी बातें बेतुकी लग सकती हैं पर हैं सब सही...

असमर्थता की भावना जाती नहीं... असुरक्षा हर तरफ से मुझे निरस्त्र करती जाती है जैसे किसी की सुनियोजित योजना हो मेरे सारे प्रयासों को नाकाम करने की...

बहन के विवाह में मां जितना खर्च करना चाहती हैं वह मेरी असुरक्षा गहराता

जा रहा है।

अगर मैं 'ना' कहता हूं तो वह मेरी बेहूदगी लगती है...

मैं क्या कर सकता हूं...

सोचता हूं झूठी प्रतिष्ठा के ढर्रे को तो बदलना ही होगा। लोग मुझे बेहूदा, बेईमान जो भी कहना चाहें कहें, मैं क्या कर सकता हूं... जब फैक्ट्री बिक जाएगी सबको अपना-अपना हिस्सा मिल जाएगा, सबकी जुबानें बंद हो जाएंगी।

लेकिन तब तक क्या इस टब्बर को समाज़ के फ़टे पर्दे पर बेसंभाल छोड़ दूं ?

मेरी मां व्यावहारिक बिल्कुल नहीं। न उन्हे आगे-पीछे के अंधेरों से कोई प्रयोजन लगता है।

अपनी अपेक्षाओं को वह पतंग की तरह उड़ा कर डोरी छोड़ देती है...

कुछ पतगें उड़ती हैं बेतुके सोचों की तरह टकराती, उझकती, पेड़ों के पेट मे घुसती, आसमान में डुबकी लगाती, नुकीले कांटों मे छिद कर चिंदी-चिंदी होती...

और उनके मन में एक खास तरह का भाषण तैयार हो जाता है...

इसके बाद वह सारी औपचारिकताएं-औचित्य छोड़ कर मुझे बुलाती हैं और मैं जाकर ठीक उनके सामने बैठ जाता हूं...

अब तक की निगली हुई सारी बातें मां उगलने लगती हैं।

मेरे कान खुले रहते हैं पर, मैं आखें बंद कर लेता हूं।

मेरे और उनके अतिरिक्त कमरे में और कोई नहीं होता।

एक के बाद एक उनकी बातो का सिलसिला, आदर्श विचारों के वेश में, श्रोता के रूप में मैं, और साक्षी कमरे की दीवारें...

भूकम्प की मारी जिस भूमि पर हमने अपने पांव टिकाए हुए हैं, वह हमारे परिवार की धुरी कैसे बन सकती है... यह बात मैं अपनी मां को समझा नहीं पाता।

वह सेंटिमेंटल होने लगती हैं। उनके साथ कोई तर्क भी नहीं चलता। कभी रोने लगती हैं, कभी बिल्कुल तटस्थ बन जाती हैं जैसे अभी-अभी उन्हें संन्यास लेकर किसी आश्रम में चले जाना है।

मेरी मां अपनी मानसिकता, अपने स्थूल शरीर से अलग कर लेने में माहिर हैं। शायद इसीलिए हमारा पूरा घर कट-कट कर चूर होने के लिए बाध्य हो गया है।

मेरा घर, घर कब लगा। होश संभालने के साथ ही मैंने इसे किसी सराय की

तरह ही पाया और यह कार्य मेरी मां ने ही किया है, घर को सराय बनाने का।

मेरी मां प्रबुद्ध हो सकती हैं लेकिन घर-परिवार को एक साथ बांध रखने के लिए क्या सिर्फ प्रबुद्धता चाहिए ?

हमारे घर का एक-एक प्राणी असुविधाओं से तंग आया, घोर पीड़ित है...

एक छत के नीचे भर हैं लेकिन किसी से किसी की अंतरंगता नहीं। सभी एक-दूसरे को काटते हुए चलते हैं, सब की तलवारें खिंची और कमानें तनी रहती हैं।

कुछ फिकरे तय हैं जो आपस में कहे-सुने और समझे जाते हैं, कभी-कभी बेटियों-बहुओं का सम्मिलित मोर्चा मां के विरोध में खड़ा हो जाता है...

गाड़ी को तो चलना है... सो, चल रही है।

नन्हे की बीवी मां बनने वाली है शायद इसी कारण मां उससे बोलने लगी हैं।

नन्हे भी गाहे-ब-गाहे अब उनके कमरे में देखा जाता है लेकिन मां ने आज तक उसके ऊपर कोई दायित्व नही रखा...

वह कहीं भी आने-जाने या जो मर्जी आए करने के लिए उतना ही स्वतंत्र है जितना बिना पाली हुई बिल्ली का बच्चा...

बेचैनी अगर किसी को है तो वह मुझे है।

मां ने 'मरने-मरने' का आलाप ले-लेकर मुझे अवश कर दिया है।

क्या मेरी मा मुझे मनुष्य से देवता बनाना चाहती है ? उसके नियत्रण में बने रहने का क्या यही इनाम मुझे मिलना चाहिए ?

क्या अब भी मां की नजर मं उदारता की परिसीमा में मुझे नहीं आना चाहिए ?

मां कहती है, वह मुझे घर का मुखिया ही नहीं सबका बाप बनाना चाहती है, दाता के रूप मं सबके सामने रखना चाहती हैं।

बड़े भाई की अंगुली भी वह मुझे ही पकडाना चाहती हैं... और भी बहुत कुछ है जो वह मुझसे चाहती है।

लेकिन मैं बिना बाप वालों का बाप नहीं बन सकता।

मैं मां को झूठे आश्वासन भी नहीं दे सकता। जिसे मैं गलत समझता आया हूं या अब भी समझ रहा हूं उसे सही नहीं कह सकता ...

मैंने सब की सेवा ही की है और शायद करता भी रह सकता हूं, पर, कुछ ऐसा है जिसका समापन शायद कभी नहीं होगा।

उस दिन जब मां के कमरे में गया तो वह पिता की पुस्तकें उलट-पलट रही थीं। कहने लगीं :

'देखो, तुम्हारे पिता कितने धर्मप्राण' व्यक्ति थे।'

भरी दोपहरी के उजाले में भी मेरी आंखों में अंधेरा सिमट आया। मेरी मां जो कह रही थीं उस पर क्या विश्वास भी करती हैं ?

मन में आया कह दूं :

'रहे होंगे औरों के लिए धर्मप्राण, हमारे लिए तो अभिशापों की मूर्तिमान तस्वीर ही साबित हुए... अनिश्चय के अंधकूप में डूबे हुए, असत्य को सत्य का जामा पहना कर वही जीने वाले जैसे कौवा अपने अण्डे कोयल के घोंसले मे डाल अपने बच्चे पलवा लेता है... जनक होकर भी अपने जायों को जीवन के उजाड़े हुए गलियारे के बाहर, चौगान में लगी त्रिशूल पर टांग गए। खुद नहीं मरे, हम जीते जी मार गए...'

तैश में आने लगा था मैं और मां मेरे विचारों को मेरे पारदर्शी चेहरे पर जरूर पढ़ रही होंगी...

पिता को लेकर कुबोल मैंने मां के सामने नहीं बोले थे। बड़े भाई से झगड़ कर आया था, सोच रहा था मां से उसकी शिकायत करूंगा लेकिन यहां तो मां अपना ही ताना-बाना फैलाए बैठी थीं... पता नहीं क्या कहने की भूमिका बना रही थीं।

भाई की जेब में सैकड़ों की लाटरी के टिकट देख कर मेरा खून खौल गया था...

हजारों रुपए महीने का खर्चा था उसका जिसमे से अपनी पत्नी-बच्चों को धेला भी नहीं देता था, उनका खर्चा घर उठा रहा था और वह स्वयं अपने से बाहर आने का कभी नाम नही लेता...

अपनी नासमझी से अंतस की जिस कालकोठरी का उसने निर्माण कर लिया था, उसी में घुसा रहता... घर का कोई सदस्य उसका अपना नहीं था.. किसी के मरने-जीने से भी उसके लिए कोई फर्क पड़ने वाला नहीं था...

खाना और मुटाना, ये ही काम थे उसके। घर में रुकता तो किसी से लड़ कर मवाद उगलना उसकी नियति बन चुके थे।

इसके लिए भी मैं मां को ही जिम्मेदार मानता हूं क्योंकि अपने आंचल और वात्सल्य की ओट में छिपा कर उन्होंने ही इतनी सुरक्षा दे दी कि कोई कुछ कह न सका, न उसकी चढ़ती हुई जवानी और उद्दण्डता को ही अनुशासित कर पाया... अमीर घर का पहला लड़का जो था।

हम में से कोई भी उससे खुश नहीं था, हमें हैरान भी वह कम नहीं करता। हमारी छिपी हुई चीजों का पता लगा कर उन्हें छेड़ता... कुछ खाने को देखता तो खाने से अधिक बिखेरता। एक बेटे का बाप होने के बाद भी उसकी आदतों में आज

तक कोई सुधार नहीं हो पाया।

उसके अवगुणों ने सबकी नाक में दम कर रखा है।

उसके कमरे से शराब और तम्बाकू की मिली-जुली गंध आती रहती है, कभी किसी की गाड़ी में टक्कर मार आता है, कभी अपनी गाड़ी में मरवा आता हैं, फिर झगड़ा सलटाने मुझे जाना पड़ता है।

ऐसा लगता है केशव बैठा-बैठा उपद्रव सोचा करता है। बड़ा भाई है पर उसे 'भैया' कभी नहीं कहा, न मन होता है।

नन्हे उससे कभी बात नहीं करता, मुझसे ही भिड जाता है, या मैं भिड़ता हूं।

मैं जानता हूं मां उसकी हरकतों से अनजान नहीं, उनका कलेजा भी सुन-सुन कर दरकता होगा... बातें छिपती नहीं, मां को भी अपने सपूत के गुणों का पता चलता ही रहता होगा... मैं कहता तो लोग कहते भाई है, जलता है इसलिए शिकायतें लगाता है।

सोचता हू मा बनना जितना सुखद होता होगा उससे कही अधिक दुख का कारण बन जाता होगा पूत अगर कपूत निकल जाय।

भाभी के लिए दुख होता है, बेचारी को क्या पति मिला है... उसके साथ मां की क्या दुश्मनी थी कि इतना बड़ा अन्याय कर बैठी... लेकिन यह चिंता मेरी नहीं है।

जहा तक भाभी का सवाल है कठिनाइयों से अपने आपको उपराम कर चुकी हैं। अलग-थलग-सी रहती हैं, हमारा सामना भी शायद ही कभी होता है। ऊपर-ऊपर से टीकठाक दिखाई पड़ती है लेकिन अंदर ही अंदर कहीं लावा तो फूटता होगा वरना नित-नए डाक्टरों का चक्कर क्यो-काटतीं... आधी-आधी रात तक स्वास्थ्य और मनोवैज्ञानिक पुस्तकों का अम्बार लगाए दीदी उन्हे पढ़-पढ़ कर सुनाती रहतीं। दोनों ने शायद समझौता कर लिया था।

इन दोनों के बीच का लगाव गहरा न सही फिर भी कई बातों में मिलती हैं ...दोनां की आंखें एक-दूसरे के खालीपन को भरती हैं... उनके संबंधों का ताल्लुक उमकी आत्माओं से जुड़ता है, ऐसा हम नहीं, वे ही कहती हैं...

पहली मुलाकात में ही वे परस्पर नजदीक आती गई थीं। मां को भी अच्छा लगा कि उनकी प्यारी-दुखियारी बहू ने किसी के सामने तो अपना मन खोला...

'अपने घर को छोड़ कर ससुराल पहुंच जाना ही काफी नहीं होता, आने वाले दिनों के प्रति सतर्क रहना पड़ता है। पति अनुकूल न हो तो मछली बनी देह को कहीं न कहीं तो जल की तलाश करनी पड़ती है...' किसी से कह रही थीं एक दिन।

पति जब साला पति ही न हो तब उसके संबंधों की सीमा कैसी, मैं भी सोचता हूं...

कितनी उन्मुक्त आई थीं भाभी ! सबके समक्ष खुलना चाहने वाली... हर पल की प्रस्तुति 'बनने की चाह लिए... और मिला क्या ? अब तो व्यक्तिगत जीवन की पीड़ा छिपाने में ही उनके सारे प्रयास लग जाते है'।

नैराश्य न उन्होंने मुस्कान से जाहिर होने दिया, न रुदन से...

मां बहू का आवृत्त-अनावृत्त मुख देखा ही करती होंगी। इतनी सुघड़ बहू पाना कितनी बड़ी विजय थी, पर इस विजय से भी बड़ी हार सर्प के जहर की तरह उनकी नस-नस में बैठी तो होगी...

बेटे की जिन बातों पर वह विश्वास करना नहीं चाहती थीं लावे की तरह वही बातें लोग आ-आकर उनके कान में उड़ेलते चले जाते थे।

ताजे घावो पर तेजाब डाल कर ही तो लोग मज़ा लेते हैं... ऐसा होना नहीं चाहिए पर होता यही है।

लेकिन मैं क्यों पड़ गया इस चाहिए, न चाहिए के चक्कर में। मुझे न इनकी अभिन्नता से कुछ लेना है न अर्थ भरे मौन से। एक प्रेम में बौराई हुई, दूसरी प्रेम से एकदम वंचित।

भाभी जब घर में बहू बन कर आईं तो सुनी-सुनाई बातों के अनुभव, सास-बहू के रिश्तों का अनुमान। सुख के प्रवाह की अबाध यात्राओं की कल्पनाएं भी रही ही होंगी...

पर हुआ क्या...

यथार्थ विघ्न बन जाता है। जैसे-जैसे कोई भी नई नवेली अपने अनुभवों से खेलती सूक्ष्म चेतना की पकड़ की ओर बढ़ती है उसकी प्रेम चेतना का प्रभाव उस पर से हटता जाता है और वह भावना में तरल जगत से दूर हो कंटकाकीर्ण पृथ्वी पर अपने पांव रख देती है। और तब स्त्री और पुरुष के बीच होने वाला समझौता समाप्त हो जाता है, या टूट जाता है...

अतीत में छोड़ा हुआ वात्सल्य, मैके की सुख-सुविधाएं किसी भीषण अभाव में मन को चिड़चिड़ा बना देती हैं।

भाभी को यहां आकर अगर अपने पति का प्यार मिल जाता तो संसार उनके लिए इतना बदरंग न बनता।

किसी ने उन्हें अप्सरा कहा था, किसी की आंख तो उनके सौरभ-सौंदर्य पर नहीं ठहर पाई थी, पर जिसकी बात सुन कर वह तृप्ति का अनुभव करती वह तो बेभाव का बुझा चेहरा लेकर गुमसुम ही बन गया।

वह उस पति के घर आई थीं जो पराक्रमी होता, उन्हें देख-देख कर निहाल होता। उनसे कहता, भगवान ऐसी ही रूपवती कन्या उसे दें जो रूप का अंतिम अक्षर बन कर इस संसार में रहे, तब वह लजा कर थोड़ा पल्ला सिर पर सरका कर एक तिरछी नजर अपने पति पर डालतीं, कुछ लाड़ करतीं, कहतीं, भगवान पहले पुत्र देगा

सारे गुणों की खान और जीजाबाई का गौरव उन्हें प्राप्त होगा... या ऐसा ही कुछ...

लेकिन ऐसा कुछ तो हुआ नहीं।

प्रशंसा मिली उन्हें परायों से। पुत्र हुआ जरूर लेकिन तव तक मां के दूध में खटाई पड़ चुकी थी।

सुहागरात... जिंदगी का रंगीन हिस्सा काटती हुई उदासी की अस्वस्थ ढलान से अधिकारों की मुहर मिटाती हुई, मंसूबों की मीनारें ढहाती हुई निकल गई।

उनके लिए घर में खुशियों की जगह समस्याओं के बादल छा गए।

उस नीमअंधेरे में उन्होंने देखा बीमार जिंदगी और बेकार पति...

मधुमक्खियों की तरह भिन्नाते हुए, बौखलाए-से कुछ बूढ़े नौकर और भाग्य को कोसते-बड़बड़ाते हम लोग।

हम सारे परिजन अपनी स्थितियों से ऊब कर, पुरानी चादर की तरह उन्हें फेंक कर बाहर आ गए हैं, सृष्टि की रचना देखने के लिए। पर हम कुछ देख लेने के अंदाज में केवल मत्रचालित गुड्डे-गुड़ियों की तरह गड्ड-मड्ड हुए खड़े है, सोच कर कि भाग्य कभी तो जागेगा, कभी तो हम भी सहज हो पाएंगे...

पर यह ढाढ़स हम एक-दूसरे को नहीं, स्वयं को बंधाते है जो कुछ ही देर मे किटकिटा कर टूट जाता है...चारो ओर एक भ्रम का विस्तार होने लगता है...

अतीत स्वप्न-सा लगता है और आज, न स्वप्न है न सृष्टि... सत्य की कोई परिभाषा नहीं मिलती, असत्य के पांव नहीं होते।

मैं एक पुत्र का पिता हूं।

अगर मेरी छाती के छालो मे ठण्डक पड़ती है तो केवल उसके स्पर्श से। वह मेरे प्यार की प्रथम प्रतिकृति है। मां ठीक ही कहती हैं।

घर में अब तीन लड़के हैं। एक भाई का, एक मेरा और एक बहन का जिसकी चर्चा पूरे घर को गर्माए रहती है।

परिवार में परिजन बढ़ गए हैं। स्त्रियों की संख्या अधिक, पुरुषों की कम। कहने को मैं एक ही पुरुष नजर आता हूं जिसने जिम्मेदारियां ओढ़ रखी हैं।

धमनियों में घुटती हुई चिंता की सांसें मुझे सोने नहीं देतीं।

दीदी के बेटे को लेकर मां परेशान रहती हैं। अब वह वड़ा हो रहा है, मां उसकी संभाल नहीं कर पातीं।

मां की कनपटियों पर फड़फड़ाती नसें सबको दिखाई पड़ने लगी हैं। आंखों

के पपोटे सूजकर पलकों पर निढाल हो गए हैं। अपनी सृष्टि को वह समेट लेना चाहती हैं।

पर नदी के प्रवाह-सी आने वाली रेशमी गुत्थियों को वे सुलझा नहीं पातीं, और यही एक पीड़ा है जिसने उनके परलोक के बोलते हुए स्वप्नों और इस लोक के काई की तरह जमे हुए चिकने कर्मों से निसृत जुगुप्सा ने दायित्वों के प्रति सजग होते हुए भी उन्हें उदासीन बना दिया है।

दीदी के ससुराल वाले निश्चिंत हैं, न उन्हें अपनी बहू की चिंता है न अपने वंशवृक्ष की।

मां अब सोचने लगी हैं कि उनके वाद उसका क्या होगा।

मौसी ने उसे पाला है, अब उसकी जाई वनी हुई है, विवाह के बाद अपने घर ले जाने को भी तैयार है, पर मां इस वात को हजम नहीं कर पातीं।

होने, न होने की इसी द्विविधा ने न उन्हें जीने लायक छोडा है न वह मौत की तत्परता ही कबूल कर पाती हैं। विरोधी सूचनाओं से उनकी अपेक्षाएं, भूखे चील-कौवों की तरह सन्नाटा भरे आसमानी गर्भगृहों के सुवर्ण कलशों पर मंडराती रहती हैं।

वह अपना सत्य किसी के सामने अनावृत नहीं कर सकतीं, इसीलिए वाहरी जगत में फैल जाने वाले अपवाद कांटों की तरह उनकी झुर्राई देह पर खुपे हुए हैं।

गृहस्थी के झंझटों से मुक्त होने के लिए वह घर से जाने को तैयार हुई थी।

उनकी उतावली का कोई औचित्य न होने पर भी मैंने उनकी यात्रा का पूरा प्रबंध कर दिया था...

पर अपनी हारी हुई इच्छाओं के साथ उन्हें पनाह कहां मिलती। उनका मन लंगड़ाए, पंगु पैरों से उनकी गतिविधियों का अर्थ ढूंढ़ता हुआ रुक-सा गया।

भौगोलिक सीमाओं को लांघ कर वह कहीं भी चली जाएं पर मात्र स्थान छोड़ देने से वह आत्मलीन हो नजात पा लेंगी ?

कहती हैं घर छोड़ना उनके लिए अनिवार्य हो चुका है। उनकी काया भी अब उनके लिए भार वनती जा रही है, लेकिन आत्मलीन होने के लिए जिस संतोष की आभा चेहरे पर होनी चाहिए, वह कहां है ?

उनके मुख को किसी प्रज्ज्वलित पाप की घनीभूत कालिमा ने बदली की तरह छाकर, शांति और प्रेम के बोलते क्षणों को सुप्त कर निष्क्रियता और अपदार्थ होने की उदासीनता से भर दिया है...

मुझे उनकी चिंता है...

अपनी मां की रक्षा के लिए मैं सब कुछ करता रहा हूं। उनकी चिंता के चक्रव्यूह

को तोड़ने के प्रयास में थक गया हूं। असमय में ही लगता है अपनी उम्र से बहुत आगे निकल गया हूं।

फिर कुछ न कर पाने के क्षोभ से विगलित भी हूं। मां अगर गईं तो मैं उनके साथ जा नहीं सकता। घर में अन्य कोई जाने की स्थिति में नहीं है...

सबका अपना कुटुम्ब-कवीला है, सवकी अपनी-अपनी गर्दनें कहीं न कहीं फंसी हुई हैं। कच्चे काम, कच्ची गृहस्थी और कच्चे सोचों की प्रक्रिया में झूलते हुए सब लोग। मा के लिए किसी के पास वक्त नहीं।

मां जिद पर अडी हैं...

मैंने इंतजाम कर दिया है तम्बुओं का, पाथेय का, पैसों का, कर्मचारियों का किंतु अकेली महिला उम्र के अंतिम कगार पर होते हुए भी, संदेहों की सड़ी-बुसी बदवुओ का सामना करने में असमर्थ होती जा रही हैं...

प्रश्न नुकीली कीलों की तरह चुभोए जाते है।

अपनी यात्रा पर मां का विश्वास भी अटल नहीं है। किसी बात से खीझ कर, नाखुश होकर जाना वैराग्य का लक्षण तो नहीं हो सकता।

आत्मसाधन के लिए... तंत्र निरोध के लिए अस्मिता और उद्वेगों को दबाना पडता है।

अष्टाग योग की साधना के लिए भी यम-नियमों का अभ्यास चाहिए और फिर प्राण साधे बिना मन कब्जे मे कहां आता है।

वचपन मे उन्होंने योग साधा था। इस विद्या की शिक्षा ली थी... वही शायद प्रमुख है इस समय उनके मन में।

हमें भी वह ध्यान-धारणा-त्राटक आदि करवा कर खुली आंखों से अंतर चक्रों को वेधते हुए चेतना के अनोखे संसार मे उतारने का दावा करती थीं...

लेकिन खुद उनका अपना हासिल क्या है।

मै नहीं जानता आने वाले कल क्या होना है, लेकिन इतना जानता हूं कि मां ने अगर सहयोग किया तो तार-तार होकर भी उन्हें बिखरने नहीं दूंगा...

आगे, होनी वलवान होती है... मैं क्या कहूं...

रोहिल

मैं नहीं जानता ईश्वर कौन है, कैसा है, लेकिन संसार को देख रहा हूं, बल्कि ससार-सागर में गुड़िन्दा खाते-खाते मैं बुत से अब इंसान बन गया हूं... जैसे नर्मदा में गिरे सारे पत्थर कट-कट कर शालिग्राम का आकार ले लेते हैं, मेरे साथ भी वैसा ही कुछ हुआ है। शालिग्राम को तो स्नान के लिए आने वाली कुमारी कन्याएं मनचाहा वर पाने की इच्छा से घर ले जाकर पूजती हैं... मैं... शालिग्राम तो नहीं बन सकता।

किसी पीपल से फूट कर निकली हुई हर शाख अपना रूप-गुण लिख लेती है। मुझे लगता है मैं भी कुछ ऐसा ही करूं और धागे के इस छोर को उस छोर से बांध दू और फिर देखूं मेरी स्थिति क्या बनती है। वैसे, एक बात बता दूं आपको। एक विशाल पेड़ की एक जीवित शाख होते हुए भी मैं अन्य शाखों से भिन्न हूं, किसी हद तक स्वतंत्र भी हूं। मेरा किसी से किसी तरह का उलझाव नहीं है।

उसी एक मूल से मेरा पोषण भी हुआ है जहां से बाक़ी सबका हुआ है, पर मै उन शाखों के साथ न कभी झूमा, न झरा। जितनी जरूरत पड़ी मूल से रस खींचा, अपने को पोषित किया, पर कभी लिप्त नहीं हुआ मैं। कभी-कभी तो ऐसे पेश आया जैसे मूल से मेरा कोई खास संबंध ही न रहा हो...

जिस्मानी संबंधों की बात और है, उन पर किसी का वश नहीं होता। यह क्या हमारी मर्जी से होता है कि हमारे माता-पिता या भाई-बहन कौन हैं... रूहानी संबंध बेशक अपने माने जा सकते हैं, जो मेरा पूरे परिवार से न बना, न मैंने उसे स्वीकार ही किया...

हवा के झोंकों ने कभी मुझे उन टहनियों के साथ कर दिया, पर अपनत्व की भावना मुझमें कभी नहीं आई, बेशक, एक कंपकंपी जैसी लगी और एक झटके से मैं अलग हो गया, गोया वे मेरे भाई-बहन, सगे-अपने न होकर कोई अजनबी हों...

मां से भी निकटता कब महसूस की मैंने, एक तरह का दुराव ही रहा, उनके निकट मैं आ ही नहीं पाया। शायद उनकी दार्शनिक उपदेश वृत्ति के कारण या मेरे प्रति लगातार उनकी शिकायतों के कारण, हमेशा मैं अपनी स्वतंत्र राहों की खोज ही करताँ रहा। उस समय तक मुझे दो ही प्रिय थे—अपनी मुक्ति और अपने मित्र... तीसरे की गुंजाइश कहीं थी ही नहीं।

मां के निकट होने का मतलब था, मित्र और मुक्ति से खुद को अलग कर

लेना जो मेरे लिए संभव नहीं था। सच्चाई तो यहा तक थी कि मेरा बीच का भाई विभूति मां के आगे-पीछे जिस हद तक चक्कर काटता रहता मैं उसी रफ्तार से उनसे दूर, बहुत दूर निकलता चला गया...

जिंदगी की रंगीनियो ने मुझे युवा होने से पहले ही अपने पाश में जकड़ लिया और उन्हें हर पहलू से देखने, समझने, अनुभव करने की एक ज़िद मुझमें पैदा हो गई।

इस क्षेत्र के प्रारम्भिक उलझाव के मुद्दे होते हैं-शराब और औरत। मैंने सहपाठियों की संगति में पीना सीखा। सिगरेट पीना सीखा फिर तो धौंकनी सी लग गई। चिमनी की तरह धुआं निकालने में एक अजीब तरह के पुंसत्व का बोध होता, शराब पी घूंट जब गले के नीचे उतरती तो मैं ऐसी दुनिया मे पहुंच जाता जिसका जोड इस दुनिया मे हो ही नही सकता। ज्यादा दिन नहीं लगे लेकिन मै एक ऐसी दुनिया मे पहुंच गया जहा से वापस आना जलते हुए आवे मे गिर जाने के समान था...

कुछ ऐसा... जैसे गाते-गाते गज़ल स्वयं चुप हो गई हो... जलते-जलते शमा अपने आप बुझ गई हो... पयोधर पर टिके मेरे होठ सहसा फैल कर अलग हो गए हो... सामने एक खुला विराट् जिसमें विधि कविता रचती है...

यह सब मैंने देखा है... अधरो से भटक-भटक कर उजेलो से टकराया हूं...ऐसा नहीं था कि मां की ममता के लिए मैं आगे बढ़ा न होऊ... लेकिन कई यक्ष-प्रश्नों ने मुझे दरवाजे पर ही रोक लिया है और मन में कुछ रोष, कुछ उदासी लिए मैं उल्टे पैरो लौट पड़ा हू...

मां का कक्ष सामने ही है... मैं उधर से गुजरा भी हूं कई-कई बार। उनकी फफकती आंखों मे झांक कर देखा भी है... इतना बच्चा तो मैं कभी नही था, न इतना बड़ा ही हो पाया कि सारी वेदनाएं अपने में समाहित कर लूं।

मां का प्यार एक पहेली बना रहा मेरे लिए... एक गम्भीर प्रश्न हमेशा उठता रहा... मुझे याद नहीं कभी मैं अपनी मां के सीने से लगा या उनके वक्ष से खेला...

जब से मैं पैदा हुआ मेरी मां रोटी की तरह आंच पर सिंकती रहीं। कभी फूलीं, कभी पिचकीं।

आज भी सोच कर मन बेचैन हो जाता है... मैं अपनी पतली-छोटी अंगुलियों, मिट्टी सने हाथों से उनके स्तनों को छू पाता, उनके अमृत में नहा पाता, उसका रसास्वादन करता, उनसे खिलवाड़ करता तो शायद उनके और अपने बीच की यह दूरी महसूस नहीं कर पाता... मेरे बीच स्थायी उदासी घर न कर पाती, चिंतन के समुद्र में मैं यूं ही फेंका न जाता। तरह-तरह के सोच आकर मुझे बेचैन न करते...

मैं अपनी व्यथा किससे कहूं... कैसे कहूं कि मैं अपनी मां को पृथ्वी का रूप समझ कर प्यार करता हूं। मैं उसे आश्वस्त कर देना चाहता हूं कि मेरी निश्छल आंखों में केवल उसी की कोख का उजाला है, जिसमें मैं नौ महीनों तक बीज रूप में सोया और मुस्कुराया था...

उस दिन, उस घड़ी विशेष में मां से ज्यादा मुझे पैसों की जरूरत थी। एकदम से याददाश्त जाग पड़ी थी कि एक रंगीन बोतल और माचिस के लिए मुझे पैसे एक दोस्त से उधार लेने पड़े थे, दूसरे दिन चुकाने का वायदा था और पास में धेला नहीं।

मेरे सामने दो ही विकल्प थे—या तो भाभी से भीख मागूं या आलमारी से चोरी करूं। नक्द पैसा निकाल लूं या कोई गहना चोरी करूं और उसे बेच कर कुछ दिनों तक रोज के खर्चे से नजात पा लूं...

मा ने मेरी जेब में हाथ डाल कर उस दिन माचिस निकाल ली थी। मेरी पैंट पकड कर मुझे सामने बैठाया था... उनके शब्दों में आक्रोश था। पूरा शरीर क्रोध की थरथराहट में कांप रहा था। वह गिलगिला कर कह रही थी :

'तू भी बीडी पीने लगा है... अपने होंठों की ओर देख... धुएं से काले पड़ गए हैं और दात...' आवाज कांप कर टूट गई थी।

मैं मानता हूं मां के मन में कोहराम मचा होगा, होगा क्या, था... मेरा खुद का माथा ब्रह्माण्ड की तरह घूम रहा था, मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही थी, भेद जो खुल गया था... मैं बेपर्दा हो गया था... झुठलाने की गुंजाइश नहीं थी...

मन के भीतर पैसो की जरूरत तन-तन कर खड़ी हो रही थी... बचाव का रास्ता मिल नहीं रहा था... अजीब मुसीबत आ गई थी उस दिन।

अचानक नज़र सामने चली गई। आंगन में खड़ी अम्मा गमछे से झाड-झाड़ कर जटाओं जैसे अपने बाल सुखा रही थी और मां से दस गज की दूरी पर बैठी, मां की दासी आराम से पान के गीले पत्ते पर गुलाबी रंग का चूना बुरक रही थी... उन दिनों मां के लिए मोती पीस कर चूना तैयार किया जाता था। उस जमाने में बसरे के मोती सस्ते थे और बड़े घर की बहुएं सुरमे और चूने में उनका खुल कर प्रयोग करती थीं...

हवा के झोंके से पान का पत्ता बूढ़ी दासी की पकड़ को नकारता हुआ नाच रहा था। गिलौरी बांध कर उसने मां को पकड़ाई...

मैंने अपनी बेशर्मी को खामोश नज़रों में बंद करके, दासी को सम्बोधित किया :

'तुलसी, एक पान मुझे भी दे...'

मां का सुलगता हुआ मन भभक उठा... छन्न सी आवाज हुई जैसे गरम लाल

सुर्ख तवे पर किसी ने ठण्डे पानी का गिलास उड़ेल दिया हो...

मैंने किसी योजना के तहत न कुछ किया न कहा था। लेकिन मां की नज़रों से मैं उसी दिन गिर गया।

मां ने मुझे 'आवारा' मान लिया—पान, बीड़ी, शराब... जाने कितने अवगुण थे मुझमें...

उस दिन के बाद, बहुत दिनों तक मां की आंखों के आंसू सूखे नहीं और मैं आंसुओं से भीगा उनका चेहरा हफ्ते भर नियमित रूप से देखता रहा...

मैं जानता था, मां के लिए अगर संभव होता तो मेरा खून कर देतीं... मेरी बोटी-बोटी काट कर चील-कौवों को खिला देतीं... कितने विस्फोटक समय का सामना किया होगा उन्होंने...

यह सब समझते हुए भी उस दिन मैं सभी कुछ नजरअदाज कर देना चाहता था...

सच्चाइयों से रू-ब-रू होने की मां की क्षमता से मैं सन्न रह गया था। मेरे स्वभाव ने झुकना सीखा होता तो कोई बात ही नहीं थी... मामला आनन-फानन में सुलझ जाता लेकिन झुक जाना तो स्वभाव में था ही नही, इसलिए अपने अहं को अंदर ही अंदर दबा कर मैं बिना कुछ बोले मुह मोड कर वहा से चला गया...

और वह एक दिन की बात नहीं थी। मेरी जिंदगी के कई पृष्ठ मां से हुई इस तरह की मुठभेड़ों से रंगे पडे हैं...

मेरी सृष्टि, मेरी तमाम स्थितियां और संहार को मां, मेरे पोसने के क्षणों को जला कर देख लेती हैं... जन्म-मृत्यु, मां और पुत्र के धर्म को तौल लेती हैं—कविता के उस विराट प्रांगण में जिस पर मैं खेला हूं...

पैसों के लिए मां से पहली बार जिरह नहीं कर रहा था... लेकिन मेरे मांगने की प्रक्रिया एक ही रही बार-बार कि मुझे पैसे चाहिए लेकिन पैसे न देने या न दे पाने की उनकी 'विवशता' मैं कभी समझ नहीं पाया। सच्चाई तो यह है कि मैं मां को ही नहीं जान पाया। मेरी उद्विग्नता तो वही थी, मां का नकार हमेशा की तरह नूतन...

अंत में मैं इतना ही कह पाया :

'अगर आपने पैसे न दिए तो आपको पाप लगेगा।' और मैं उनकी आंखों से ओझल हो गया।

मां के वात्सल्य की सुहानी धूप मेरे लिए नहीं थी और न उनके पुलटिस के लिए तले जाने वाले रूई के फाहे की तरह तड़तड़ाने वाले क्रोध की ही मैं परवाह करना चाहता था। इम्तियाज और शकील की सोहबत ने मुझे घर-परिवार के सभी आवेगों से दूर कर दिया था... फिर भी मैं नहीं मानता कि मुझमें और पारिवारिक सदस्यों में जो दूरियां बढ़ीं उनके लिए अकेला जिम्मेदार मैं ही हूं।

मैंने देखा है कि शांत घड़ियों में भी मेरी अशांति यूं ही बढने लगती है, उस दिन भी ऐसा ही हुआ। मेरे मन में एक आग निरंतर जलती है, उसका ताप आज भी कम नहीं हुआ, हालांकि जिंदगी काफी कुछ बदल गई है। उन दिनों बहनों के व्यंग्य वाण, मां के नीति वाक्य, भाभी के पुराण, भगवत्‌गीता के उदाहरण या बुजुर्गों के दिए गए भाषण, सभी कुछ आग में पड़ने वाले घी का काम करते। मेरी चाहत कुछ और ही होती, घर का रवैया हमेशा मेरे विपरीत जाता।

नीचे मझले भैया विभूति की बीवी, जिसे मैं आज भी भाभी नहीं कह पाता, अक्सर चिल्लाने लगती, कभी अम्मा पर, कभी महाराज पर, कभी किन्हीं अन्य नौकरों पर। बहाना कुछ भी होता, कभी बच्चों के कपड़े ठीक से धुले या प्रेस नहीं होते, कभी खाने मे मिर्ची अधिक हो जाती, कभी नाश्ते में कोई कमी निकल आती...

उस दिन भी ऐसा ही कुछ हो गया था, ठाकुर और बच्चों सहित वह भूखी ही सो गई थी। दीवाली के दीयों की तरह रात जल रही थी। नौकर-चाकर यंत्रों की तरह घर मे घूम रहे थे। मां अपने कक्ष में चली गईं, कुछ दुखी आत्माएं उनकी सलाह के फाहे से अपना जख्म सेंकने इकट्ठी हो गई थीं, अपनी अवस्थिति का एहसास लिए उन्हे कई घण्टे वहीं बिताने थे...

मैं यानी रोहिल बनाम नन्हे किसी की चिंता का विषय नहीं हो सकता था। मेरे घर का आलम यह कि किसी भाग्यशाली के घर में बढ़ने वाली पूंजी की तरह आने-जाने वालो की संख्या बढ़ती चली जाती। कमाई का कोई स्थायी साधन दूर-दूर तक आंखों से ओझल था।

मेरा घर एक संस्था की तरह था, अब भी है, जहां सभी को अपना-अपना धर्म, भाव और अंश चढ़ाना पड़ता है। हम सभी यहां ऊपर देख कर निकल जाते हैं...

कारण, शायद मेरी मां ही हैं, क्योंकि उन्हें हमेशा से अपनी बड़ी बहू और मझले बेटे का किया-धरा दिखाई पड़ता है। बाकी लोगों के किए-कराए के प्रति उन्होंने अपनी आंखों पर गांधारी की तरह पट्टी बांध ली है और किसी स्वचालित मशीन की तरह एक टूटी-फूटी लीक पर चलती चली जा रही है...

मैं किससे कहूं कि मुझे पैसा चाहिए, कुछ काम भी चाहिए... बेशक, काम की बात मैं सोचता भर हूं लेकिन सामने आ जाय तो आतंकित हो जाता हूं। दूसरों का दिया, बताया या सुझाया गया काम किस गुलामी से कम है और मैं अपनी स्वाधीन चेतना खोना नहीं चाहता। सोचता हूं अपनी निजी योजनाओं के अंतर्गत ही कुछ मिल जाय तो कम से कम इन सोचों के बंदीखाने से मुझे छुटकारा मिल जायं...

मेरा घर मेरे लिए किसी जेल से कम नहीं जिसकी ओर मुंह बाए मैं खड़ा था। अपने दोष, अपनी कमजोरियों की खोल अगर मैं किसी और को ओढ़ा सकता तो शायद कुछ कैफियत देने की स्थिति मेरी भी बन जाती, किंतु...

मैं अपनी छत की बालकनी पर खडा था। मेज पर खाना लग गया था। एक वर्ग खाने के लिए बैठा जिनमे अधिकतर मा के ही बधु-बाधव थे। बडा भाई उसी समय शायद कोई सिनेमा देख कर लौटा था, गेटमैन ने उबासी लेते हुए फाटक खोला था। गाड़ी की एक आंख काम नही कर रही थी, दूसरी को बुझाना वह भूल गया था। शायद वह भी अपने पेट मे आग उडेल कर आया था, पैर सीधे पड ही नहीं रहे थे...

नफरत और गुस्से से अचानक मेरे नथुने फडकने लगे थे। छाती पर मनो बोझ मैंने महसूस किया था। इस कमबख्त को भी मा की सुरक्षा मिली हुई थी। ममता की जाली मजबूती से उसके आसपास गूथ दी गई थी क्योकि वह पहली सतान था, उसने मातृत्व की गरिमा मा को पहली बार दी थी।

लेकिन क्या उन्ही अदृश्य बेडियो ने मुझे जकड नही रखा था, वरना यह दुनिया तो बहुत बडी थी... ऐसे मौको पर गौतम बुद्ध याद आने लगते .

वह तो किसी ममत्व मे बधे नही रहे। रात के सन्नाटे मे अपने अशो को झुठलाते हुए घर-द्वार छोड कर आत्मकल्याण और जनहित के धागे गूथते-बुनते निकल पडे थे...

मन कच्चा था, रास्ते कच्चे थे। प्रेम का तत्व बनकर लेटा हुआ शिशु और सलवटो भरे अधोवस्त्र, सपनो की अटारी पर सोई यशोधरा की मात्रिक गुनगुनाहट ने कही तो अपरोक्ष रूप से उन्हे कील रखा था.. गाव-घर और वैभव ने दूर तक उनका पीछा किया... क्या उनका मन पल भर ठिठकने को नही किया होगा. किंतु धुध और कोहरे को काटते हुए निराशा और दुख का वेग आवृत्त, निराकार सत्य ने सामने आकर उनके धडकते हुए हृदय को थाम वैराग्य और ऐश्वर्य के बीच की खुली सडक पर उन्हे ले जाकर खडा कर दिया होगा. वह सत्य उनका बन गया. .

मेरा सत्य क्या था ? मैं तो किसी सत्य मे विश्वास ही नही करता। कभी वह भाभी के रूप मे मेरे सामने आया था, कभी शकील के रूप मे . मैंने उसे पहचाना कब ?

पिता और मा से भी सुनने को मिली—अव्यक्त, अगोचर, आकारहीन, निराकार की बाते... भक्ति सगीत भी मुझे लपेटकै आगे बढा और मानता हू मुझे अच्छा भी लगा, लेकिन अच्छा लगने भर से कोई बात समझ मे तो नही आ जाती... कुछ देर अपनी उपस्थिति का एहसास करा कर मैं हमेशा नौ-दो-ग्यारह होता रहा...

मा के कमरे से निकल कर स्वामी जी दालान तक आ जाते, हमेशा एक ही रूप में—भगवा लुंगी और उसी रंग का मलमली उपरणा, जिसके अंदर से जनेऊ के धागे

चमकते रहते। श्याम वर्ण, मोटे होंठों से चमकती धवल दंत-पंक्तियां। कभी-कभी उनके नकली होने का शक भी मुझे होता। सिर के बाल और आरस में डूबी कूंची जैसी दाढ़ी... उम्र हो जाने पर भी कृष्ण पक्ष की रात की तरह काली...

बचपन में हम सभी भाई-बहनों के लिए वह कौतुक का विषय थे जिसे हम पूछते-परखते रहते।

मलाई और बादाम-केशर का दूध पीकर वह घंटों ध्यान पर बैठे रहते। हमें बताया जाता, वह मां के योग-शिक्षक हैं। कभी कहा जाता, वह मां के गुरु हैं।

पर कई बार मां को कहते सुना था कि उन्होंने कभी कोई गुरु बनाया ही नहीं... यह प्रश्न पूछता कौन... यह अधिकार हममें से किसी को नहीं था। हम सबको डांट-फटकार कर उनका आदर करना सिखाया जाता।

उनके लिए घर में कोई रोक-टोक नहीं थी, जहां चाहते निकल जाते। जो सामने पड़ता उसी को पकड़ कर कुछ नुस्खे थमाने लगते—परलोक सुधारने के... इस लोक के लिए उनके पास हमारे नाम कुछ नहीं था, किसी को उपदेश देते, बिन मांगी सलाह देते। इतना ही नहीं, हमें पकड-पकड़ कर आसन, प्राणायाम की मुद्रा में बिठा दिया जाता, हमे ध्यान की प्रक्रिया सिखाई जाती... तत्र-मंत्र की श्रेष्ठता के उपदेश सुनाए जाते।

सभवतः वह यौगिक क्रियाओं के माने हुए उस्ताद थे। उनके लाड़-प्यार का पहला अधिकारी मेरा बड़ा भाई केशव था। खुशामद कर-कर के उससे यौगिक क्रियाएं कराई जाती लेकिन वह भी मौक़ा तक कर उनकी पकड़ से छूट भागता था। स्वामी जी थक-हार कर मा से शिकायत करते और दोनों हमारे दुर्भाग्य पर क्षुब्ध होते रहते।

स्वामी जी सुबह-शाम नियमित रूप से आते थे। शाम को बगीचे में उनकी सामूहिक बैठक होती जहा वह पुराणों के रटे-रटाए उपाख्यान सुनाते, रामायण और महाभारत की कहानियां कहते।

हम सबका भोजन वहीं आ जाता। मां हम बच्चों का खिलाने की ज़हमत से बच जातीं, और नई-नई कहानियों के लालच में जो कुछ सामने आता, नापसंद चीजें भी हम बिना चूं-चां किए खा जाते।

सड़क पर आते-जाते लोगों के चेहरे ही दिखाई पड़ते। कॉलेज की लड़कियां रंग-बिरंगी पोशाकों में घर जा रही होतीं... कभी बैठे-बैठे ही इतनी रात हो जाती कि सड़क के किनारे सूने हो जाते...

आतिशबाजी छूटने की तरह जुगनुओं की चमक से पेड़ चमक उठते, लहराने लगते, आसमान में ढेर सारे तारे निकल आते जैसे अचानक खेल-खेल में किसी रानी का हार टूट गया हो और सारे मनके बिखर गए हों। मालियों द्वारा कच्चे पौधों में छोड़ी हुई पानी की गंध से हमें मिचली आने लगती तब उस विशाल लॉन की हरी दूब पर दृष्टि डालते हुए हमारी आंखें झपक जातीं, तब स्वामी जी सभा बर्खास्त

करते हुए कुछ हिदायतें हमें देते और उठ खड़े होते... उन्हें उनके निवास तक छोड़ आने के लिए हममें से ही कोई भाग कर ड्राइवर बुला लाता...

हमारे लॉन की घास आज भी हरी है, पर उस मखमली भूमि पर अब कोई नहीं बैठता। स्वामी जी आते हैं और मां से मिलकर ही चले जाते हैं। मिलने की कोशिश वह बड़ी भाभी से भी करते हैं लेकिन भाभी उनसे मिलना नहीं चाहतीं, कभी-कभी नाराजी भी जाहिर कर देती हैं, पता नहीं स्वामी जी ने उनसे ऐसा क्या कह या कर दिया कि वह बेरूख हो गई हैं। वैसे स्वामी जी ममता भर कर ही बोलते हैं... घर से कुछ माया, कुछ अनमनापन लेकर लौट जाते हैं...

कहां-कहां भटक गया मन... मेरा हाथ तो खाली है, न माया ही है मेरे पास न मेरे हिस्से की ममता ही कहीं नजर आती है...

शायद कोई मुझे पूछ रहा है कि मै कहां हू...

नौ बज चुके हैं। अब समय तो किसी के लिए ठहरता नही। कभी लगता है साथ चल रहा है, कभी एकदम ही गायब हो जाता है।

मैं श्रद्धा भरी आंख से समय को देखता हूं तो मन मे अंधेरा छाने लगता है। टिमटिमाता हुआ छोटा-सा आशादीप भी बुझता-सा लगता है...

मेरी याद में कुछ खास टिकता नहीं। गाहे-ब-गाहे कुछ टिक भी गया तो उसका अस्तित्व डावांडोल ही रहता है। एक बार ऐसा हुआ था कि मेरे मन मे स्मृति बन कर एक लड़की पसर गई थी भीतर ही भीतर...

हल्की-सी सिहरन लगने लगी थी। एक पांव देर तक रेलिंग मे टिके रहने के कारण सो गया था।

नीचे चलने का विचार मन में आया। चौका बंद होने के बाद भी मालूम था बड़ी बहू जी ने खाना 'हॉटकेस' में रखवा दिया होगा। वह भी तो देर से ही सोती हैं। नौ-दस बजे के बाद ही उनका सध्या-स्नान होता है। रेशमी गुच्छों की तरह उनके काले-घने-लम्बे बाल... ऐसे सहलाती हैं जैसे शकुंतला अपने मृगशावकों को सहलाया करती होगी। फिर संवारती हैं, इसके बाद मोटी-मोटी दो ढीली चोटिया बांध कर छोड देती हैं...

चिकनी, चमकती दो चोटियां, लगता है शिवजी के वक्षस्थल पर जोड़ा सांप लटक रहे हैं... कानों का स्पर्श करते नीविप्रदेश तक... गले से लेकर एड़ियों तक पहुंचती काफ्तान की झालर... कभी-कभी उनका पैर भी जरूर उलझ जाता होगा उन झालरों में। गिर भी पड़ी हैं कई बार... कभी हाथ का अंगूठा टूटा है तो कभी

पैर में मोच आई है या वैसे ही चोट लग गई है...

पता नहीं क्यों मेरा मन इस तरह की बातें सोचना शुरू करता है तो करता ही चला जाता है... मन को भी तो किसी तरह मिले...प्यार-ममता की गर्मी चाहिए ...एक ऐसा आशियाना चाहिए जिसमें पक्षी की तरह पंख पसार कर आदमी नींद को नियंत्रित कर सके... कुछ विश्रांति पा सके।

हमारी भाभी को नींद नहीं आती। मैं सोचता हूं उनकी विश्रांति किसने छीन ली।

उनके पास भी कोई घर-घोंसला नहीं है। इतने बड़े घर में एक-डेढ़ कमरा है जो आने-जाने वाले गंवार लोगों से भरा रहता है। ऐसे में अगर उनकी शांति कोई चुरा ले गया हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ते विचारों को एक झटका देकर उस दिन मैं नीचे उतर आया था। रसोई का दरवाजा अधखुला नज़र आया। चौकी पर बैठा-बैठा ठाकुर ऊंघ रहा था। अक्सर वह एक निश्चित समय के बाद चला जाता है लेकिन उस दिन शायद बहूरानी के हुक्म ने उसे रोक दिया हो।

मैं वहीं ठिठक गया। एक नजर चौके की तरफ फेंकी। बरतन साफ करने वाला गाते-गाते एकदम से थम गया।

क्या जिंदगी थी उसकी भी। दिन भर जूठे-बिखरे बर्तन मांजते-समेटते हुए दिन बीत जाता, रात भी आधी चली जाती लेकिन उसकी मस्ती का कोई जवाब नहीं था। पीले दांत, पिचके गाल, बिखरे हुए तेल कट बाल, फिर भी तोंद बाहर। जैसे कुरूपता ने एक रूप धारण कर लिया हो...

खाने का मेरा मन बिलकुल नहीं था। दबे पांव लौटने लगा तो तीक्ष्ण कानों वाला रसोइया फड़फड़ाया, 'बाबू, खाना'... जैसे वह शब्दों को रूप देना चाहता था।

'नहीं...' मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दे दिया, 'मुझे भूख नहीं है...'

पीठ फेर कर चल दिया मैं... झीमती-झूलती, रेंगती हुई उसकी छाया, अंधेरे-उजाले में सोच की आकृतियां-सी खींचते हुए चल रही थीं मेरे पीछे।

मेरे पैर अनजाने ही वीडियो के कमरे की ओर मुड़ गए थे। मैं किसी से बात करना चाहता था, कुछ कहना चाहता था, अपने मन की भंड़ास निकालना चाहता था...

भाभी कुर्सी पर बैठी थीं वीडियो के सामने। पिक्चर चल रही थी, उससे अधिक वेग से मेरे मन के आवेग उमड़ रहे थे। लेकिन मेरे पैरों में कोई गति नहीं थी। मन आगे और पैर पीछे... लेकिन अब तो मैं पहुंच ही गया था उस कमरे में...

एक नजर मैंने भाभी पर डाली, ऊपर से नीचे तक, फिर मेरी आंखें स्वतः परदे पर उभरती तस्वीरों से उलझ गई :

उमराव जान को धक्का देकर उसका प्रेमी उसके द्वारा फाड़े गए कपड़ों के

तार-तार में अपनी लाज और हार समेट कर फीके चेहरे से बाहर निकल रहा था...

मैं एक कुर्सी खींच कर भाभी के पास धम्म से बैठ गया। मेरा मन कुछ कहने को आतुर हो रहा था।

बीमारी से पीलियाया हुआ चांद-सा चेहरा प्रश्न में परिणत होकर ऊपर उठा :

'तुमने खाना नहीं खाया ?' बिना किसी भूमिका के उन्होंने एक सीधा-सा सवाल मेरी ओर खिसका दिया।

'मुझे भूख नहीं है।' मैंने शब्दों को मूर्तिमंत किया।

'तो पहले क्यों नहीं बता देते। रात तक बनाने वाले को जागना पड़ता है। ठाकुर-नौकर भूखे बैठे रहते हैं...' ऐसा लगा भाभी तुनक उठी हो...

अपनी व्यथा-कथा दांतों में दबाए मैं उठ खड़ा हुआ और अन्यमनस्क-सा खड़ा ही रहा, जिसका अर्थ यह भी लगाया जा सकता था जैसे मैंने कुछ सुना ही न हो और अगर सुन भी लिया हो तो उस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी हो।

आत्मप्रवंचना के उस अदृश्य छोर पर खड़ा होकर सामने वाला, मेरे भीतर पसरी हुई किसी कहानी की नायिका की सांकेतिक लिपि को अर्थ दे रहा था।

अचानक उनका स्वर पुनः सुनाई पड़ा :

'तुमने आज दवा भी नहीं खाई... खांस-खांस कर बुरा हाल कर लेते हो...वैसे ही तुम्हारी आंखों में सरसों फूली रहती है...'

फिर तो इन प्रताड़नाओ का एक दौर ही चल पड़ा : .

'मां कह रही थी, इस तरह कितने दिन बैठा रहेगा...'

'सुनो, न तो वह नौकरी ही कर लो कुछ दिनों के लिए... बैठे-बिठाए कुछ पैसे हाथ आ जाएंगे... जेब खर्च के लिए किसी के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा...समय का सही उपयोग भी हो जाएगा...'

'तुम्हें तो लोग बिना मांगे नौकरी दे रहे हैं और तुम करना नही चाहते... कभी उन लोगों के बारे में सोचा है जो योग्य होते हुए भी जूतियां चटकाते फिरते हैं, उन्हें कोई पूछता भी नहीं...'

'वह है न मेरे चाचा का बेटा, कब से काम की तलाश में घूम रहा है... तुमसे ज्यादा पढ़ा-लिखा है...'

'यूं ही अपना भाव बढ़ाए फिर रहे हो, खामख्वाह... मैं कहती हूं ऊंची-ऊंची बातें करने या विचार बघारने से थोड़े ही कोई बुद्धिमान हो जाता है...'

'बिना हड्डी की जुबान दोनों ओर बोलती है नन्हे मियां, योजना बनाना एक बात है, उसे कार्य रूप में परिणत करने की योग्यता भी होनी चाहिए...'

'कार्य-व्यापार में किसी न किसी का विश्वास तो करना ही पड़ता है... किसी

की बात मानना सीखो। तुम्हारे चलते मां कितनी दुखी हो गई हैं...'

'क्षण-क्षण तो तुम्हारे विचार बदलते हैं। एक बात पर कुछ समय तो टिको...टिक कर देखो...'

'मेरी बात मानो तो नौकरी कर लो और साथ ही विवाह भी। बेशक उसी लड़की से... जिसकी बात तुम्हारे लिए आई है...'

'वह लड़की तुम्हे पसंद है न ? थोडी ठिगनी जरूर है पर उससे क्या...'

'शादी हो, उससे पहले हाथों में कुछ काम तो होना चाहिए...'

इस तरह की करोड़ो हिदायतें सुनते-सुनते कान पकने लगे थे...

अनेक वार कह चुका था :

'तुम्हे पता तो है, वह काम मेरी रुचि का नहीं है... मैं उसकी सभी योजनाओं से असतुष्ट हूं... कोई बड़ा आदमी होगा तो अपने घर का, मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता...'

'ऐसे लोगों से मिलना-जुलना, दोस्ती क्यों रखते हो तुम...'

'दोस्ती अपनी जगह और किसी बात से इत्तफाक करना, न करना अपनी जगह ... मेरी दोस्ती किसी के पैसे से कभी नहीं रही भाभी, और तुम जानती हो।'

'अच्छा छोड़ो काम की बात, अब शादी ही कर डालो, काम-धाम भी मिल ही जाएगा। हो सकता है शादी करने के बाद तुम अधिक जिम्मेदार हो जाओ...'

इस तरह की बातें सुन-सुन कर मेरे कान पकने लगे थे और जाहिर है मेरे जवाब सुन-सुन कर उन्हें भी काफी बोरियत होती होगी, क्योंकि जब भी इस तरह के सवाल मेरे सामने उछाले जाते मेरा जवाब तड़ाक से सामने पहुंच जाता...

मैं चिढ़कर कहता :

'तुम अच्छी तरह जानती हो वह काम मेरी रुचि का नहीं है... मैं काम की सभी योजनाओं से असंतुष्ट हूं...'

'तुम्हें संतुष्ट करने के लिए तो कोई अपने काम की योजना बनाएगा नहीं...' जवाब मिलता।

'मैं कब कहता हूं कि बनाए...'

'मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जिससे याराना हो सकता है उसके साथ काम क्यों नहीं हो सकता।'

'यह बात तुम्हारी समझ में आएगी भी नहीं। वैसे भाभी, यह जरूरी तो नहीं

कि सब कुछ आपकी समझ में आ जाय।'

'पता नहीं, लेकिन शादी के लिए तो हां कह सकते हो।'

'हां, यही मैं भी सोच रहा हूं... पढ़ी-लिखी बेशक, मुझसे ज्यादा है, लेकिन देखने में नितांत सीधी लगती है। उसके साथ मेरे विचारों का टकराव नहीं होगा।'

भाभी ने उस दिन कोई जवाब नहीं दिया। द्रौपदी की तरह खुले और फैले हुए केशों को मुट्ठियों में बांध-बांध कर आजाद करती रही। बहुत देर बाद उनके शब्द सुनाई पड़े...

'कुछ तो करो... हरकत में आओ कि यह एकरसता दूर हो।' उन्होंने कहा।

'अच्छा तो आपके लिए महत्व मेरी शादी का नहीं एकरसता टूटने का है, पर शादी के लिए इतना कारण पर्याप्त होता है ?' मैं भी हल्के मूड में आ गया।

'यह कारण तो मेरा है, अपने कारण तुम खुद ढूंढ़ो।'

'ढूंढ़ लिया है...'

'मैं भी सुनूं...'

'मुझे लगता है यह लड़की मेरी बातें मानेगी ?'

'कौन-सी बातें...'

'यही कि जो भी मेरी भाभी कहे उसे मानना होगा, मझली की तरह वह मेरी भाभी का अपमान नहीं करेगी, किसी तरह की अभद्रता नहीं दिखाएगी।'

'और की तो ?'

'मैं संबंध विच्छेद कर लूंगा।' मेरी आवाज में पति परमेश्वर का गर्व आ गया था शायद... या मैं अपने अंदर आत्मविश्वास भर रहा था...

भाभी हंस पड़ीं और उनकी ओर देखकर मैंने यह महसूस किया कि मेरी प्रवंचना, मेरा छल, मेरे अंदर आत्मदृढ़ता की कमी कितनी उजागर थी उन पर...

काफी देर बाद वह बोलीं :

'शादी के बाद क्या होगा, देखेंगे। ज्यादा आदर्श बघारना ठीक नहीं होता। कभी-कभी आदमी औंधे मुंह गिर पड़ता है... फिलहाल अपनी फिक्र करो...' मुझे स्पष्ट लगा उन्होंने बात को कोई मोड़ दे दिया हो।

मैंने शादी की बात वहीं छोड़ दी। काम को आगे कर लिया :

'नौकरी करके मैं अपना व्यक्तित्व नष्ट करना नहीं चाहता... आखिर अपने परिवार की एक प्रतिष्ठा है, मैंने अगर किसी की गुलामी की तो उससे परिवार की प्रतिष्ठा को भी धक्का लगेगा और फिर किसी के सामने हां जी-हां जी करना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है... मां ये बातें समझ नहीं सकतीं लेकिन भाभी, आप उन्हें यह याद तो दिला सकती हैं कि मैं उन्हीं का बेटा हूं...'

'तुम्हें क्या लगता है मां समझतीं नहीं ? अगर कहो तो पूछ देखूं।'

'नहीं, नहीं, उनसे कुछ न कहना ! उनके सामने मुंह खोलना मुझे अच्छा

नहीं लगता और यह भी सच है कि मैं अपनी ओर से उन्हें और तंग करना नहीं चाहता...

'अपनी चोटें मैं अपने आप सहता रहूंगा... ऐसा कुछ नहीं करूंगा जो मेरे मन के खिलाफ हो... और हां, मैं किसी से बंध कर नहीं रहूंगा...'

मैं अपनी बात पूरी करूं इससे पहले ही भाभी अपनी नाइटी की सलवटें ठीक करती हुई उठ गईं। चलते-चलते वी सी आर बंद किया और किसी हवा के लावारिस झोंके की तरह बिना कुछ बोले, बिना किसी तरफ देखे निकल गईं।

मैं कुछ दिनों से महसूस कर रहा था कि मेरी बातों में भाभी की कोई दिलचस्पी नहीं होती थी। मैं इसके लिए उन्हें दोषी नहीं मानता क्योंकि मैं भी तो अपने प्रेम-परिसर के व्यापार में डूबता जा रहा था...

मैं अपना क्या करू, किसी को भी तो अपनी जिंदगी में खुश नहीं रख पाया था मैं, सभी मुझ से चिढ़े रहे, क्रुद्ध रहे। मां की आज्ञा में रहने वालो की सूची में भी मुझे अपना नाम कही नहीं मिला... मैने इसके लिए कभी प्रयास भी नहीं किया। क्यां इस घर को बांध कर रखने के लिए मेरी मां के पास भी अब क्या बचा था ! अपनी-अपनी रौ में सब बह रहे थे।

एक जुट रह कर यहा रहना भी कौन चाहता था, सब अपनी-अपनी खोल मे छिपे थे, सभी के स्वार्थ सिर उठाए खड़े थे... सभी पिता का दिया हुआ खा रहे थे...

मैं अपने कमरे मे आ गया। सामने पिता की आदमकद तस्वीर लकड़ी के कामदार मेज पर खड़ी थी। उनके होंटों पर फैली मुस्कान ने एक अपूर्व अभिव्यक्ति उनके चेहरे पर ला दी थी। लम्बी गरदन कम्बू की तरह कठोर दिखाई पड़ रही थी... छाती पर रोमावली नही थी लेकिन आत्मविश्वास की कमी वहां भी नहीं थी... उनकी कंजी आंखों मे अनत धैर्य था, साहस था और उम्र के चौथे मोड़ पर भी अनोखा दबदबा था। प्रशस्त ललाट की रेखाएं प्रबल सूझ-बूझ और ज्ञान की द्योतक लग रही थी। उनके तराशे हुए चेहरे पर प्रकाण्ड कल्पना शक्ति एकदम चस्पां हो रही थी। उनकी सौम्य और गम्भीर मुद्रा की प्रत्येक रेखा मेरी आंखों में सजीव होकर व्यष्टि मे समष्टि का बोध करा रही थी।

मेरे पिता एक शक्तिशाली इंसान थे...

अंग्रेजी शिक्षा के वह घोर विरोधी थे और हम बच्चों की शिक्षा-दीक्षा को लेकर मां से उनका अक्सर विवाद हो जाया करता था।

पिता कहते :

'इस शिक्षा से तो हमारे बच्चे अनपढ़ ही रह जायं तो मेरी ओर से कोई हर्ज नहीं होगा। अंग्रेजी सीख कर बच्चे उन्हीं की तरफ जाएंगे। भारतीय संस्कृति में उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा... उनके आचार-विचार भिन्न हो जाएंगे...

'अंग्रेजी पढ़ने के बाद अपने घर-परिवार की संस्कृति समझने में, उसको समझने की दिशा में वे कोई प्रयत्न नहीं करेंगे... भक्ष्य-अभक्ष्य में उनके लिए कोई अंतर नहीं रह जाएगा...

'इतना ही नहीं, रामायण-महाभारत काल की सहज-सामाजिक स्थितियां इनके लिए काल्पनिक होकर रह जाएंगी...

'मैं मानता हूं कि अंग्रेजी में भी बहुत से अच्छे व्यक्ति हुए हैं... हर जात और प्रांत में अच्छे व्यक्ति होते हैं। किंतु हर व्यक्ति को अपने ही धर्म, अपने ही समाज, अपने ही घर की आचार-संहिता का अध्ययन करना चाहिए, उसी में उनका कल्याण निहित है...'

मैं कह सकता हू कि पिता के इन्हीं विचारों को हृदयंगम कर मैं अपनी शिक्षा अधूरी ही छोड कर अलग हो गया...

मां ने बहुत कोशिश की, कि मैं कम-अज-कम ग्रेज्युएशन कर ही लू, पर मैंने उनकी एक बात भी नही सुनी...

आज शिक्षा का अभाव मुझे खलता है... विवाह के बाद खास तौर पर क्योकि मेरी पत्नी पढी-लिखी, तेज-तर्रार है... उसकी सूझ-सलाह पर चलने के लिए कभी-कभी मैं स्वयं को विवश मानता हूं...

सच पूछिए तो मैं अपनी पत्नी का कृतज्ञ हू कि, बिना किसी असहज सवाल के उसने मुझे पति रूप में स्वीकार किया...

कितने बेतुके सवाल किए जाते हैं शादी के नाम पर —आप कहां तक पढे हैं, क्या काम करते हैं, भविष्य मे आपकी महत्वाकाक्षा क्या है...

मैं तो कभी-कभी यहा तक कह देता :

'मैं तो कुछ भी नही करता... करने की सोची भी नही...

'आवारागर्दी करता हू...

'क्लब जाता हूं... सिनेमा देखता हूं...

'खेल-कूद में थोडी-बहुत दिलचस्पी है और तो नही कुछ...

लोग निराश होकर चले जाते... कुछ खफ़ा भी होते... कोई मुझे नापसंद कर देता। लड़कियां पूछती :

'शादी के बाद क्या आप सम्मिलित परिवार में ही रहेंगे...'

'आपकी आमदनी का जरिया एक ही है, एक ही जेब से सब कुछ जाता है या अपनी-अपनी कमाई भी है...'

'अगर आपका मतलब मेरी कमाई से है तो इतना ही कहूंगा, जो कुछ करता ही नहीं उसकी कमाई क्या होती है... मेरी जरूरतें सभी पूरी हो जाती हैं... अपने मन की संतुष्टि के लिए कभी कुछ कर लिया तो अलग बात है अर्थोपार्जन मेरे कुछ करने का कारण नहीं बन सकता...'

और यह ठीक भी था। मैंने तो आज तक पैसा कमाने के लिए कुछ नहीं किया और मेरे पास वह सब कुछ था जिसकी कामना मेरा कोई भी हमउम्र कर सकता था। एक पुरानी मोटर भी न जाने कैसे मेरे कब्जे में आ गई थी... पहले वह सार्वजनिक सम्पत्ति थी, अब अरसे से मैं ही चला रहा था उसे...

खाना-पीना घर से पूरा होता था, नौकर-चाकर, धोबी-नाई सब कुछ थे ही। कभी कुछ जेब खर्च की जरूरत पड़ी तो भाभी थीं। कमाने की हुड़क कभी मैंने महसूस ही नहीं की...

लेकिन धन का उद्‌गम अगर उसमें कुछ पड़ता न रहे तो कभी तो समाप्त होता ही है... हमारा उद्‌गम भी समाप्त होना था क्योंकि उसमें पड़ कुछ नहीं रहा था...

उधर मेरी बीवी का आत्मसम्मान आसमान के चाद की तरह ऊपर चढ़ा हुआ था... मजाल क्या कि वह किसी के सामने कोई फर्माइश रखे या कुछ मांगे...

मुझे याद आता है वह दिन जब उसके पिता यानी मेरे ससुर ने मुझसे पूछा था :

'ओर तो मव तरफ से तुम हमे अच्छे लगते हो लेकिन एक बात का उत्तर नही ढूढ पा रहा हू कि मेरी बेटी को अगर कभी पैसो की जरूरत हुई तो कोन देगा ?'

'मैं दूगा !' मैं विना कुछ सोचे-समझे तपाक से उत्तर दे दिया था और वह आश्वस्त हो गए थे।

मेरी मां से उन लोगो की क्या बात हुई इसका मुझे कोई अंदाजा नहीं।

लड़की मुझे पसंद आ गई थी क्योंकि उसकी मांग पैसा नहीं था और घर तो हमारा विशाल था जिसे देख कर कोई भी प्रभावित हो सकता था।

मेरे पिता समाज-देश के अति विशिष्ट व्यक्ति थे। इस तरह के हवेलीनुमा घरो मे माली हालत जाने बिना भी संबंध कर लिए जाते थे... शायद यह सोच कर कि इतनी बडी व्यवस्था है तो पैसे का अभाव कैसे हो सकता है... इतना तो होगा ही कि यह चलता रहे और इसके चलाने वाली रकम मामूली नहीं होगी...

कुछ ऐसे ही तर्क जाल रहे होगे जिनमें उलझ कर मेरे ससुर अपनी स्वीकृति दे गए थे...

मेरे मन में कुछ उथल-पुथल जरूर थी पहले, बाद में सब ठीक होने लगा। वैसे परामर्श के लिए मेरे सामने भाभी के अलावा कोई नहीं था और वह भी क्या दे पाईं, मेरा अपना ही मन शांति के बीच पल अशांत होता रहा...

लेकिन पूछा मैंने उनसे जरूर था... मुझे थोड़ी दिक्कत हुई पर कोई बात नहीं।

दरअस्ल, मां और मंझले भाई ने पहले ही आपस में सलाह कर ली थी और मैंने भी अपने भिन्न मित्र-साथियों को पूछ-बता दिया था।

एक भाभी पकड़ मे नही आ रही थी।

पहले मेरी ही हिम्मत नहीं हो रही थी उनके पास जाने की। कई बार जा-जा कर वापस लौट आया था। मुझे यह भी लगा कि वह मुझसे सीधी बात करना नहीं चाहती इसीलिए मुझे टालती जा रही हैं। देख कर अदेखा कर देतीं, मुझे आता हुआ देखतीं तो खुद सीढ़िया चढ़ जाती जैसे मुझे देखा ही न हो...

भावज से बिना पूछे पानी भी न पीने वाला देवर—मैं—इतना बड़ा फैसला अकेले कैसे कर लेता। अब चाहे जो हो इस जीवन का। मन ही मन इसी तरह का शशोपंज लिए मैं आगे बढ़ा। यह भी सोच रहा था कि पीछे हटे रहने से काम कैसे चलेगा।

भाभी उस दिन फिर सीढ़िया चढ़ने लगी थी...

'ठहरो...' मैंने शब्दो को दातो के बीच दबा-सा लिया। वह थवक कर रुक गई।

जाने क्यो मुझे उनके पैरो मे भारीपन-सा महसूस हुआ, लगा रुकने के लिए उन्होने अपने साथ जबर्दस्ती की हो।

मैंने यथासभव सहज होते हुए कहा :

'तुम तो कुछ बोली नही .. मैं अब क्या करू कैसी लगी तुम्हे मधु ?'

'अच्छी है...' भाभी बोली, जैसे चलती हुई गाडी का इजन किसी पेड से टकरा कर अचानक रुक जाए... उनकी सासे उसी तरह 'धक् धक्' करती मालूम पडी।

'इसका मतलब हुआ वह तुम्हे अच्छी नही लगी।'

'छि-छि, क्या कहते हो...' भाभी सभल गई, लगा सहज और सावधान होने का प्रयास कर रही हो, 'अपना कर्तव्य मैं कैसे भूल जाती... तुमने पूछा, अच्छा किया, न पूछते तो भी मै यही कहती कि तुम्हे लडकी पसद आ गई है तो विवाह कर लो. '

'सच्चे मन से कह रही हो,' मैंने उन्हे उधेडने की कोशिश की।

'सच, लडकी अच्छी है। तुम्हे सभाल लेगी। तुम सुख से जियो, मेरी इच्छा भी तो यही है।'

'तुमने मेरे लिए बहुत किया है भाभी, मेरी तो दो नही एक तुम्ही भाभी हो, पता नही क्यो एक अपराध-भावना मेरे मन में सिर उठाती है। लगता है कही कुछ ठीक नही हो रहा है। इससे उबरने का रास्ता मुझे तुम्ही बताओगी, वरना... मैं चाहता हूं वह जितना मेरा करे उतना ही...'

भाभी ने मेरी बात काट दी :

'अच्छा-अच्छा... अब रहने दो। यह जरूरी तो नहीं कि भाभी जो तुम्हारे लिए थी उसके लिए भी हो... अपनी सोचो नन्हे जी, भाभी के साथ जितनी कटनी थी कट चुकी...'

'मैं सुख से रहूं और तुम अपने मसलो के साथ झुलसती रहो... मुझे इतना

स्वार्थी मानती हो ?'

भाभी ने सिर झुका लिया और चलने का प्रयत्न करने लगीं। एक पांव उठाया ही था कि मैं सामने आ गया...

'रुको भाभी...'

लेकिन वह रुकी नहीं। मेरी बगल से निकल कर मां की पटशाल की ओर मुड़ गईं।

मैं लज्जा और अपमान से जलने लगा।

मेरे स्वर के अनुनय और अवसाद को भी उन्होंने ठुकरा दिया था। निश्चय है जीवन के प्रति मेरा निर्णय उन्हें अच्छा नहीं लगा होगा। अच्छा तो मुझे भी नहीं लग रहा था लेकिन जीवन को एक राह तो देनी थी। उनके आंचल तले एक पूरी जिंदगी तो मैं नहीं बिता सकता था।

कितना रुपया, समय, अंतरंगता और सेवा भाभी ने मुझे दिया था...

द्वंद्व में पड़ कर उस दिन मेरी आत्मा छटपटाने लगी थी।

भाभी के स्वर का भारीपन मैं समझ रहा था और यह भी तय था कि इनके सिवाय जीवन में मुझे किसी ने कुछ भी नहीं दिया था...

वैसे, मेरा मोल ही क्या था। जिसके पास पैसा न हो उसे दुनिया में कौन पूछता है।

मेरी आंखो से आंसू निचुड गए। भावना का आवेग इतनी जोर से उठा कि सिर चकराने लगा। दिल धड़कने लगा। लेकिन स्वाभिमान ने कहीं कावू पाया।

मैंने निश्चय कर लिया। मन पूरी तरह पक्का करके मैंने मां से रिश्ता पक्का करने की अपनी स्वीकृति दे दी। मेरे पास अन्य कोई विकल्प नहीं था।

मुझे मालूम था अगर मैं इस रिश्ते को अस्वीकार कर देता तो भाभी खुश होतीं क्योंकि अपने हिसाब से उन्होने मेरे लिए कई लड़कियां देखी थीं, सम्पन्न, प्रतिष्ठित घरानों की। लेकिन उनमें से मुझे एक भी लड़की पसंद नहीं आई थी—कोई अधिक मोटी, कोई पतली, किसी का उच्चारण ठीक नहीं था, कोई झुके सिर आंखें नीची किए अंगूठे से जमीन कुरेदने वाली... एक-दो ऐसी भी थीं कि मेरे कम बोलने के बावजूद प्रश्न-शरों से मुझे कोचने पर आमादा दिखाई पड़ीं...

एक मधु ही ऐसी थी कि प्रथम दृष्टि में ही उसने मुझे अदृश्य अपनापा-सा दे दिया। लाल आड़ू के रंग के गदराए उसके होंठ, आम की फांक-सी उसकी आंखें... लौकी के फूलों-सी हल्की उसकी देह...

पतली कलाइयों में पड़े चांदी के मुठिए, छोटी पतली कान के लोरों में पहनी हुई चमकती चांदी की बालियां जो उसके कपोल परिसर में धूप-छांव की आंखमिचौली खेल रहे थे।

अचानक मेरा ध्यान ठहर गया था।

उसके घर मुझे ब्रह्मसत्य और सादगी के दर्शन हुए थे। उसकी बातों की शृंखला ने नियमित और श्रमसाध्य होने का आभास दिया था...'

मधु के कोई भाई नहीं था। शायद इसीलिए उसके माता-पिता ने उसे वे सभी विधाएं सिखाई थीं जो अमूमन लड़कों को सिखाई जाती हैं। मसलन, गाड़ी चलाना, उसकी टूट-फूट ठीक करना, प्राथमिक शिक्षा के दिनों में ही वह विद्युतीय इंजीनियर बन गई थी... उसे गृह-विज्ञान, भूगोल, नीतिशास्त्र... सब का थोड़ा-बहुत ज्ञान था। कहने का मतलब यह कि शायद ही कोई ऐसा विषय था जिसकी जानकारी मधु को नहीं थी।

अपनी हिलती-डुलती पुतलियों और कांपते हुए सुदृढ़ होंटो से उसने अपनी सारी बातें मुझे खुद ही बताई थीं...

मैं स्वीकार करता हू कि उसकी बातों से मैं निरंतर प्रभावित होता चला गया था।

मेरी उसकी जितनी भी मुलाकातें हुई उनमें उसने कभी कोई निरर्थक बात नहीं कही।

और इस प्रकार वह धीरे-धीरे मेरी हस्ताक्षर बनती चली गई। मेरे सूक्ष्म चेतन शरीर पर उसका काल्पनिक स्पर्श जीवन को एक अर्थ देने लगा था... और यह बात भी आने लगी थी मन में कि मेरे सभी उद्वेग, सामने की सभी हलचलें उसके सामने समाप्त हो जाएंगी।

मैं कह सकता हूं कि उसके एहसास से मैंने अखंड आनन्द का अनुभव किया। मैं ज्वार ठहरे हुए समुद्र की तरह शांत हो गया... मेरी गति मे उसने अपने आपको समाहित-सा कर लिया था...

सालों से घर की मरम्मत नहीं हुई थी...

'हमारे पास धन नहीं है' यह बात सुनने के हम आदी हो चुके थे। यह बात भी आम हो गई थी, कि हमें विरासत में वह कुछ नहीं मिला जिसकी हमें उम्मीद थी...

फिर भी घर में दर्प की एक छाया थी जिसके प्रभाव में सभी थे जैसे कोई व्यक्ति प्रेत-बाधा से रुग्ण हो जाता है...

हम सबमें, एक मां को छोड़ कर, हर एक की बातों में उस मूर्छित या मृतप्राय आभिजात्य का असर था।

उन पलस्तर उखड़ी दीवारों पर हमारी नासमझ उम्र ने सिनेमाओं के नाम लिख कर उसे रंगीन पेंसिलों से रंग दिया था।

टूटे-फूटे किवाड़ों वाली गऊशाला में अब ग्वाले की गाय-भैंसें पगुराती रहती

थीं, जिनका दूध हम कम पैसों में या लगभग मुफ्त ही पी लेते थे। ग्वाला जगह का भाड़ा नहीं देता था और हम दूध के पैसे...

वगीचा कूड़े-कर्कट के ढेर से भरा था।

कीमती पेड सेवा-सिंचन के अभाव में सूख या मर गए थे। कुछ मुर्झाए पड़े थे।

इसी घर के किसी प्रमुख परिसर में मुझे अपने लिए कमरे चुनने थे।

मां ने कुछ कमरे दिखाए थे, अलग-थलग... लेकिन मधु ने उन्हे पसद नहीं किया था। उसे जो कमरे पसद आए वे मंझले भाई के पड़ोस वाले तीन कमरे थे। उन कमरों के सामने एक बड़ी दालान भी थी। मधु, उस हिस्से पर दखल करना चाहती थी...

यहां भी मैं उसकी तीव्र बुद्धि का कायल हुआ था।

उन खण्डहरनुमा खाली कमरों को ठीक-ठाक कराना था, उन्हे सजा-संवार कर रहने लायक बनाना था। और यह सव मधु की सलाह से ही होना था–लेकिन पैसे ?

यह समस्या भी हल हो गई...

अब मैं अकेला नही था। मेरे आसपास मधु एक प्राचीर की तरह खडी हो गई थी। वह मेरे रक्षा-कवच की भूमिका निभा रही थी।

स्त्री-सत्ता की विराट शक्ति का साक्षात्कार शायद यही था। वह आती, कुछ कह-सुन कर चली जाती और मैं उसके कथन की अनुभूतियों में डूवा हुआ कभी उसका काल्पनिक रेखांकन करता, कभी उसकी स्मृतियों में डूब-सा जाता।

कल्पना और स्मृतियो के बीच की आंखमिचौली साकार करने का प्रयास करता...

मुझे विश्वास होता जा रहा था कि मधु के साथ मेरा जीवन प्रेम से ओत-प्रोत मंगलमय होगा। जहां भय, घृणा, दुख, अपवादों के लिए कोई जगह नहीं होगी...

इस सोच से मेरी अस्थिरता कम होने लगी।

'अब मेरे ऊपर कोई झूठे अभियोग नही लगा पाएगा ? मैं अपने आप से कहता...

मेरे मन में मधु की ममता की जड़ें कहीं गहरे पैठने लगी थीं...

लेकिन इससे भाभी का मेरे जीवन में स्थान कहीं प्रभावित नहीं हुआ था।

मैंने भाभी को कुछ वचन दिए थे जिनका पालन करने में पिछड़ना नहीं चाहता था।

यह मेरा परम धर्म बन गया कि मैं कोई भी ऐसा आचरण न करूं जिससे भाभी को किसी तरह की पीड़ा हो... यह एक तरह का शिव-संकल्प था जो मैंने

बहुत पहले कर लिया था।

मैंने यह भी तय किया कि किसी से कुछ मांगूंगा नहीं, न किसी का बुरा सोचूंगा, न बुरा करूंगा... इतना सब करने के बावजूद पता नहीं क्यों बार-बार मेरा मन किसी अपरिचित संकोच, अजानी लज्जा और एहसासहीन उदासी से भर जाता था।

ऐसा लगता जैसे अंधेरे ने चुपचाप बुला कर मुझे अपने में लपेट लिया है।

मेरे सामने देखने के लिए नई दिशाएं थीं, एक नया नजरिया भी तेजी से विकसित हो रहा था, फिर भी मेरी आंखें भरपूर खुल नहीं पा रही थीं।

किसी अजानी चिंता के उद्वेग ने मेरी गति को जैसे भूल से जकड़ एकाकी कर दिया था।

न कोर्ट-कचहरी का चक्कर, न परीक्षा गृह..., फिर भी मेरा कलेजा धक्-धक् करने लगता था, कभी मुंह को आता, कभी किसी अदृश्य में धंसने भी लगता।

वैवाहिक संवाद के बाद लड़की पसंद किए जाने की घोषणा कर मां चुप हो गईं। लेकिन जब भी मैं सामने पड़ता एकदम से लग जाता कि अनेक बातें वह मुझसे कहना और उनके बारे में मेरी राय पूछना चाहती हैं... या कुछ चेतावनी देना चाहती हैं... पर मैं उनके सामने टिकता ही कहां था ?

सबको खुश रखने का इरादा बकवास होता है। मेरे लिए तो यह और भी असंभव था क्योंकि मैं केवल वही करने का आदी हो गया था जो मुझे ठीक़ लगे या मै जिसे जरूरी समझूं...

खेलकूद में भी अब मन जमता नहीं था। वर्षों की लगन कच्चे धागो की तरह टूट-टूट कर बिखर रही थी...

फिर भी खाली तो नहीं बैठा जा सकता। समय काटने के लिए या शरीर को गतिमान बनाए रखने के लिए कुछ तो करना था।

मैंने घर को एक करीने से सहेजने का काम शुरू किया। कभी-कभी लगने लगा था कि सही आत्मविश्वास मुझे उसी से मिलेगा।

इस प्रक्रिया में भाइयों से भेंट न होती, भाभी कभी दिखाई पडती... कुछ कहते-कहते अचानक रुक जातीं...

मुझे लगता उनके मन में मेरे जीवन को लेकर कोई उत्साह नहीं है...

मेरी तरफ इस तरह देखतीं जैसे मैं उनके लिए सर्वथा नया, कोई अजनबी हूं...

उनका यह रवैया मेरे लिए नया था। मेरे कान आदी थे यह सुनने के :

'अपनी भाभी का लाड़ला है... अपने हाथ से बना-बना कर कुछ-कुछ खिलाती रहती हैं बहूरानी अपने लाड़ले देवर को...'

'जब तक खा नहीं लेता, खुद नहीं खातीं... कौन करता है इतना आज के जमाने में...'

'कैसा काला पड़ गया है नन्हे का रंग... आजकल मेहनत भी तो कर रहा है... चिंता भी होगी, नई जिंदगी की...'

'तूने कभी काम तो किया नहीं नन्हे, सबका लाड़ला बन कर रहा, अब व्यर्थ का बोझ सिर पर उठाए क्यों घूम रहा है...'

'फिक्र नहीं करते, अपना मन या अपनी देह गलाने से कोई हल नहीं निकलता, वक्त आने पर सब अपने आप ठीक हो जाता है...'

'संभल कर रहो नन्हे राजा, अपना ध्यान रखो, तुम्हें चिंता किस बात की ?'

मन करता है भाभी एक बार फिर कहे :

'दिन भर इस तरह खोए-खोए क्यों रहते हो ? कितना पीला पड़ गया है चेहरे का रंग...'

'मैं कहती हूं मन को चेतन करो... आखिर वह कौन-सी बात है जो तुम्हें परेशान कर रही है ?'

'पुरुष हो, उठो, पुरुषार्थ करो...'

'सुनो सबकी, करो मन की...'

लेकिन चाहने भर से तो सभी मुरादें पूरी नहीं हो जातीं। मेरे यौवन के उत्साही धूप को निकम्मेपन के कोहरे ने कितने वर्षों से अंधा कर दिया था...

जो भी हो, अब तो जीवन के फूल खिलने वाले थे, प्रकाश की उम्मीदें लहरा रही थीं...

'मंदगति और आलस्य किसी कोढ़ी के अंग की तरह गल जाएंगे...' अपना ही मन संवाद करने लगा था।

आंगन के उस पार भाभी के लगाए हुए पौधों को अम्मा पानी दे रही थीं... किसी गहरे लाल गुलाब की तरह आड़ में वहीं भाभी खड़ी थीं जैसे तमाल का पका हुआ पेड़ हो...

वहीं पास ही घरेलू जिन्सें बिखरी पड़ी थीं जिन्हें अम्मा द्वारा संभाले जाने का इंतज़ार था।

सांझ घिरने लगी थी। शायद कामगरों को उसी का इंतजार रहता है कि आराम से बैठ कर हुक्का-चिलम, अथवा मल-मल कर चूने के साथ तम्बाकू-गांजा खा सकें।

ताम्रवर्णी अम्मा... ऊंचा-पूरा क़द... खिचड़ी बाल... भृकुटी तने कपाल पर मोटी-मोटी, लाल-गुलाबी धारियों वाली आंखें। चिढ़ाए जाने पर अम्मा भद्दी गालियां भी दे लेती थीं। आसपास के सभी लोग उससे डरते थे...

घर के माहौल ने अम्मा को, मां से भी अधिक बेहाल कर रखा था। एक हैरान उत्सुकता उसके चेहरे का स्थायी भाव बन गई थी। मन ही मन कुढ़ना, कुलबुलाना उसके स्वभाव का सम्पूर्ण हिस्सा था।

साधु-संन्यासियों के प्रति मां की आस्था, उनसे मेल-जोल, उनका घर में आना-जाना अम्मा को फूटी आंखों न सुहाता था। वह विवश थी, उन पर रोक लगाना या उनकी अवमानना उसके अधिकार क्षेत्र में कहां था।

शायद साधु-संन्यासी भी उसे घर का पाप कहा करते थे कि इस घर की श्री वृद्धि में उसी की काली छाया पड़ती जा रही है...

अम्मा इतनी बेवकूफ या कम अक्ल नहीं थी कि इन बातों का अर्थ ना समझती... पर पृथ्वी की तरह बेचैने रहना ही उसकी किस्मत का लेख था।

मैं अम्मा के पास जाना चाहता था। उस दिन मुझे उससे सहानुभूति की उम्मीद थी। मेरी सगाई की खबर से ही वह खिल पडी थी पल भर को। उसका खुशी से उद्दीप्त चेहरा मैंने देखा था।

इसका भी एक कारण था। युवा लड़कियों से मेरा मेल-जोल उसे क़तई पसंद नहीं था। मेरी दारू पीने की आदत को कितने दिन तक वह छिपाती रही थी... यह सच है कि हम सब भाई-बहनों के ऐबों पर अम्मा ने हमेशा परदा डाला है, अकेले में अपने ढंग से हमें समझाया-बुझाया भी है...

मां को जब कभी हमारे ऐबों, अकरणीय कर्मों का पता चलता, उनका माथा ठनकने लगता... हमारी गतिविधियों में अपने भविष्य की कल्पना कर वह दुख से कातर हो कठुआ जाती...

उन्हें मालूम था अम्मा हमारा बचाव करती हैं। ऐसे हर मौकों पर अम्मा पर वज्रपात होता जब मां किसी बम की तरह फट पड़ती। ऐसा लगता उनकी देह में गुस्से का प्रेत प्रवेश कर गया हो। वह चिल्लातीं, हाय-हाय करतीं...

हमारे बाहर आने-जाने पर प्रतिबंध लगवा देतीं, लेकिन यह प्रतिबंध भी झनझना कर टूट पड़ता और मां बेजान-सी पड़ जातीं जैसे टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जातीं।

हम सब बड़े हो गए थे। हमारी अलग-अलग इच्छाएं थीं, आवश्यकताएं भी थीं जिन्हें पूरा होना था। और इसी कशमकश में हमारी शादियां भी हो गईं...

पर मैं इतना अस्वस्थ रह चुका था कि समस्याओं का कोई अंत नहीं था। इस हवेलीनुमा घर में रहने वाले हर प्राणी की अलग-अलग समस्याएं थीं।

मंझले भाई की समस्याएं अलग थीं, उसके कष्टों की कोई सीमा नहीं थी। उसके

दिमाग की जड़ें हिली हुई थीं। मां उसमें हर समय सोच की खाद-मिट्टी डालती रहतीं ताकि वह घर-संसार और अपने लिए भी एकदम बेकार न हो जाय... नित्य का नियम यही बन गया था।

घर की आमदनी में कोई बढ़त नहीं। नौकर-चाकर अन्य कर्मचारी... झंझट-जंजाल इतना कि सिरा भी खो गया था... इसी बीच मैं भी विवाहित हो गया था...

किसको क्या चाहिए... कौन बीमार था... किसका किससे प्रेम हो गया, किस लड़की की शादी नहीं हो पा रही... किसने रूठ कर भोजन नहीं किया... कौन-किससे झगड पड़ा... इधर-उधर की अफ़वाहे क्या हैं... हमारे घर को लेकर क्या कहा-सुना जा रहा है...

मां को ये सारी खबरें रखनी पड़तीं... सब कुछ सोच-गुन कर वह ऐसी ढीली पड़ जातीं कि हाथ-पांव चल ही नहीं पाते...

मैं कभी-कभी सोचता मां का मन थोड़ा शांत हो तो मैं मिल कर उन्हें समझाऊं कि मैं उतना बुरा नहीं हूं जितना वह समझती हैं... और मेरी पत्नी मधु भी बुरी नहीं है।

मेरी मां सास के पद पर पहले ही प्रतिष्ठित हो चुकी थीं जब भाभी बहू बन कर इस घर में आईं...

भाभी पर यहां आकर क्या गुजरी यह एक नितांत अलग बात थी, लेकिन शायद अपनी समस्त इच्छाएं दफ़ना कर अपना शील उन्होंने मां के हृदय में स्थापित कर लिया था।

दूसरी बहुओं को वह अवसर नहीं मिला या मां ही उन्हें खुले मन से अपना नहीं पाई। नतीजा निकला सबका अपनी-अपनी जगह कुण्ठित हो जाना।

अब रूप यह बना कि अन्य दो बहुओं के लिए सास की कोई अहमियत नहीं बन पाई। उनके लिए अपने-अपने पति थे और पति के बाद खुला हुआ संसार था...

मां को यह स्वीकार कैसे होता ? उनके मन पर शिकायतों की परतें जमती चली गईं। उनका संवाद सिर्फ भाभी से होता लेकिन बड़े भैया से मिली उपेक्षा की मारी भाभी से नाराज होकर, अपनी भंड़ास निकाल कर अपना मन हल्का कर लेने की हिम्मत वह नहीं जुटा पाईं, इसलिए चुप, निढाल होती चली गईं।

अन्य दो बहुओं के लिए वह अबूझ पहेली बन गई थीं...

कुछ काम होता तो भाभी को ही कहतीं। कभी हाथ-पांव में दर्द होता तो जबर्दस्ती उन्हें लिटा कर भाभी ही उन्हें तेल मल देतीं, मसाज करतीं। बीच-बीच

में अपने ढंग से समझाती भी रहतीं :

'बेमतलब क्यों अपने मन को कष्ट देती हैं आप, जाने दीजिए जो, जिधर जाता है। घुन-घुल कर आप अपना ही नुकसान कर रही हैं...

'आपके चिता करने का किसी पर कोई असर नही पडेगा... आप ही बीमार पड़ जाएगी...

'कभी आपने देखा है इन कुछ महीनो मे आप कैसी दिखाई पडने लगी हैं...

'मन को विश्राम दीजिए मा, यह प्रवाह आप रोक नही पाएगी...' इसी तरह की कितनी ही बातें...

'रहने दो बहू.. इन्हे अकुशहीन मै नही स्वीकार कर पाती। इस छोटी को देखो . कल की आई बहू, जहा चाहे निकल जाती है... न किसी से कुछ कहना, न सुनना। घर मे कब वापस आएगी यह भी किसी को पता नही रहता ..

'मै इतनी कमजोर बन कर जी नही सकती। अच्छी-बुरी बात देखती-सुनती रहती हू... मुझसे चुप नही रहा जाता .

'कल घाघरिया ओर झीनी ओढनी लेकर नन्हे के साथ यह छोटी सुना है किसी पार्टी में गई थी... वापस कब आई, किसी को पता ही नही... मुझे फिक्र होती है उसके स्वास्थ्य की. . कितनी लम्बी बीमारी से उठा है, दिन भर उसके साथ घूमता रहता है, रात को पार्टियो का कोई अत ही नही. न खाने का ठौर न सोने का समय। तुम्ही बताओ, ऐसे कितने दिन चलेगा ?'

'आप इन लोगो को अपने मन से निकाल नही सकती।' भाभी कहती, 'वे लोग बालिग हैं, अपना भला-बुरा समझ लेगे। आपकी शास्त्र-पुराण और नीति की बाते वे सुनने से रहे... आपके हिसाब से चलने वाले वे नही है..

'मिया-बीवी खुश हैं यही आपके लिए काफी नहीं होना चाहिए ?'

मा यह बात सुन कर सिहर उठती। शायद उन्हे भाभी और केशव भैया के बीच की अनबन का एहसास जाग उठता हो। चश्मे के पीछे उनकी आखे कभी-कभी डबडबा भी आती, फिर बुझ जाती।

मैं अक्सर इन दोनो की बाते छुप कर सुनता था। मा के सामने जाने की हिम्मत नही थी। और विवाह के बाद शायद मैं भी भाभी से कटने लगा था। विवाह से पहले तो वही मुझसे कट रही थीं।

उन्हीं दिनों की एक शाम याद आ रही है।

मां का स्वर कुछ अनमना कुछ असहिष्णु लग रहा था। फुसफुसा कर मा, भाभी से कह रही थी :

'नन्हे आजकल तुमसे भी नहीं बोलता न बहू...'

भाभी ने फौरन कोई जवाब नहीं दिया तो मां का ही स्वर फिर कानों में

पडा :

'शायद अपनी बीवी से डरता है... बोलो भला, बीवी आ गई तो भावज पराई हो गई। हद ही हो गई न, देखो इन पढ़ी-लिखी लड़कियो का हाल... मोम की मक्खी बना कर अपने खसमों को बालो मे चिपकाए रखना चाहती हैं...

'मैंने तो पहले ही कह दिया था कि जो तुम्हारा आदर करेगा, तुम्हे मेरी जगह समझेगा वही मेरे प्यार का अधिकारी बनेगा...'

भाभी की आवाज सुनाई पडी :

'आप इस झझट मे मत पडिए मा, नन्हे मुझसे बोले भी तो मैं उनसे बोलना नही चाहती... छोडिए इन बातों को...' भाभी की आवाज झुझलाई हुई थी।

'क्यो बहू, कितना किया है तुमने उस नाशुक्र लडके के लिए.. मै क्या नही जानती.. '

'अपने ही तो करते हैं मा, मैंने गैर समझ कर थोडे ही किया और किसी बदले की भी आशा नही है मुझे।'

'तुमसे वह फिरण्ट हो जाएगा, ऐसा मैने सोचा भी नही था...'

'यह बात नही है मा, नन्हे मुझसे फिरण्ट नही हैं लेकिन मधु से छिप कर मुझसे बात करना चाहते हैं, इधर-उधर देखते रहते है जैसे कोई चोरी कर रहे हों... मुझे यह अच्छा नही लगता...

'मैंने ही एक दिन कह दिया था, इस तरह मुझसे बोलने की जरूरत नही है...'

'फिर...' मा के स्वर मे उत्सुकता थी।

'फिर क्या... कुछ बोने नही। धीरे-धीरे जैसे धीमे पैरो चल कर आए थे भारी होकर चले गए।'

'कितना कृतघ्न निकला यह नन्हे !' मा एकदम मे झल्ला पडी... 'तुम्हारे ससुर कहा करते थे, कृतघ्नता सबसे बडा पाप है ..'

'जाने दीजिए मा, उनके बोलने, न बोलने से मुझे कोई फर्क नहीं पडता...'

भाभी की देह फूल कर जरूर पत्थर हो गई होगी।

मां से तर्क करने का न तो कोई औचित्य था और न वह इस विषय मे मां से अधिक बात करना चाहती थी...

ऐसा लगा वह एकदम से उठ खड़ी हुई हैं। मैं सोचने लगा इस समय उनका गोरा चेहरा, नई सुलगी आग की तरह दहक उठा होगा, आंखे विस्फारित हो गई होंगी..,

उन्हे क्या पता था कि बगल के कमरे के दरवाजे से लगा मैं कितनी बार मां से हुई उनकी बातें सुन चुका था। अंधेरे में कई बार उनकी चम्पक उंगलियों की विविध मुद्राओं और व्यर्थ चेष्टाओं के भाव भी पढ़ चुका था...

मैं विवश था। उनकी पीड़ाओं से अनभिज्ञ नहीं था इसीलिए पीड़ित भी था...

युक्तियों और तर्कों से किसी को कोई बात समझाई नहीं जा सकती...

सभी समझते हैं मैं वदल गया हूं। किसी को विश्वास नहीं हो सकता कि दिमाग में हटा देने पर भी घूम-घूम कर बार-बार मीठे मुंह पर बैठ जाने वाली मक्खी की तरह अनेक स्मृतियां मुझे झकझोर जाया करती थीं...

मुझे लगता मैं अस्पताल के वातानुकूलित कमरे मे हूं... नीम चेतना में दर्द के शूल उठ रहे हैं... तूफान की तरह मेरे पैरों में पीड़ा बढ़ती ही चली जा रही है...

देह के दोनों ओर शल्य क्रिया से किए हुए घावों में जाने कैसी-कैसी आंधियां उठ रही हैं।

जब आंख खुलती है तो मुझे एक उदास चेहरा, वड़ी-वड़ी गम्भीर, ज्वार आए समुद्र की तरह उमड़ती हुई आखें...

दर्द की कचोट मुझे अंदर तक खींच ले जाती है। निचोड़ देती है। मैं खांस भी नहीं पा रहा हूं... गले में कुछ अटक गया है... सांस लेना भी मुश्किल पड़ रहा है...

मुझे लगता है मैं मर रहा हूं... कही यह संतोष है कि मरने से संसार के कष्टकारी खेल से छुटकारा भी मिल जाएगा...

लेकिन कोई मुझे मरने नही दे रहा है।

बड़ी सतर्कता और सावधानी से मुझे बचाया जा रहा है...

मेरे चहरे पर कोई झुका हुआ है। किसी की गर्म-गर्म सांसों का एहसास जाग्रत है। यह एहसास गुनगुना है, शीतल भी। इसमे ममता की ऊष्मा है लेकिन यह मां का नहीं है।

मैं जानता हूं इस हालत में मुझे देख कर मां पहले ही अपना होशोहवास खो चुकी हैं...

मेरे निर्जीव-से पड़े शरीर में संजीवनी की तरह अपनी सुगंधित सांसे भरने वाला यह कौन हो सकता है ?

मेरे जीवन के लिए मौत को चुनौती कौन दे रहा है ? कौन मेरी समस्त पीड़ाओं को अपने में समो लेना चाहता है ?

'आंखें खोलो नन्हे... तुम्हारी सांसें सामान्य चल रही हैं... अभी-अभी तुमने एक लम्बी सांस ली है... तुम ठीक हो रहे हो, आंखें खोलो...'

दर्द की बेहोशी मुझे एक अनंत लोक में खींचती चली जा रही है...

लेकिन वह सुगंधित श्वास, सिर पर गुलाब की पंखुरियों से मुझे कोई छूने

लगा था।

कौन है वह अदृश्य शक्ति जो मुझे थामे हुए है ?

देहगंध परिचित है।

'भाभी !' मेरे मुंह से निकलता है। मैं भूल जाता हूं कि मैंने ही जिद करके उन्हें यहां बुलाया है...

उनसे अच्छी देखभाल और कौन कर सकता है।

मेरी मां ?

वह तो विपत्तियों में तपस्यारत एक शिला बन गई है। उसके होंठ, नमक लगे चमड़े की तरह सूख कर सिकुड़ गए थे, पपड़ियां उभर आई थीं...

मुझे होश आ रहा है, मैं चैतन्य हो रहा हूं... उस न दिखने वाले, निरंतर मेरी छाती पर मुलायमियत से फिरने वाले हाथ और सुगंधित श्वास महसूस कर रहा हूं...

पहचानने की चेष्टा करता हूं लेकिन चेतना ठहरती नहीं।

दर्द में जाने कैसे नश्तर नए सिरे से चुभने लगते हैं। अपनी सांसों का एहसास जागता है...

क्या यह स्वप्न है ? सुषुप्ति है या स्मृति ?

जो भी है, राहतकुन है लेकिन दर्द भी है। मुझे उस दर्द का एहसास है। कभी कम होता तो राहत के लिए मन आभारी होने लगता है उस सहायक हाथ और संजीवनी श्वास के लिए जो मुझे मौत के खुरदरे पंजों से अपनी ओर खींच रही है।

दिमाग पर क्लोरोफार्म और दर्द की बेहोशी है...

पता नहीं कितने युग... सदियां बीत चुकी हैं...

आंख जरा-सा खुलती है। पलंग के पास स्टूल पर एक आकृति बैठी है...

कुछ और प्रयास करता हूं...

'भाभी...' अस्पष्ट-सा शब्द होंठो तक आता है।

सिर पर हाथ का दबाव महसूस करता हूं। अगर यह स्वप्न है तो इसे टूटना नहीं है। मैं आंखें खोलना नहीं चाहता।

'रात भर से यहीं बैठी हैं...' कोई आवोज सुनाई पड़ती है। शायद नर्स है...

मां की फ़ुसफुसाहट कानों में गरम होती है :

'इससे बताना नहीं कि इसका एक और आपरेशन होने वाला है, कमजोर दिमाग का है, घबरा जाएगा...'

'यस मैम !' शायद नर्स की यथार्थपरक आवाज...

दिमाग एक धुंध में फिर चला जाता है...

'मैं कहां हूं ?' अपनी ही आवाज मुझे विकृत लग रही है।

कोई अगर है तो बोलता नही।

स्मृति स्पष्ट होती है।

समझ मे आ जाता है कि जब मैं मौत के कुए में डूबने ही वाला था तब मुझे उधार सासें देकर लौटाने वाला कौन था।

मै होश मे आ जाता हूं। मुझे धीरे-धीरे पता चलता है, मेरे साथ क्या हो रहा है, आगे क्या होने वाला है...

मृत्यु के बादल छंट गए हैं। आखो मे जीवन की ऊष्मा सुर पकडने लगी है...

भाभी मेरे पास हैं... बहुत पास...

भाभी ने अपनी श्वासे मेरे मुंह मे भर कर मेरी श्वासो को जीवन दिया है। मेरे हृदय के स्पंदनो को जाग्रत किया है।

भाभी को उपचार और औषधियो का कितना ज्ञान था। वह कितनी सहिष्णु, धैर्य-सम्पन्न और स्नेहसिक्त हैं...

मेरा मन उनकी अदृश्य प्रार्थनाओं और स्नेह के नीचे दबा जा रहा है।

एक प्रश्न आकर ठहर जाता है। फिर कई प्रश्न ठहरे हुए समुद्र की लहरो की तरह तैरने लगते हैं...

पुराने जमाने के लोग, उनके संस्कार...

औरत को किसी पराये मर्द के पास—चाहे वह अपना भाई या पिता ही क्यो न हो, अकेले में नहीं बैठना चाहिए... उनके बीच एक अचाहे पौधे की तरह शैतान जागने लगता है...

फिर छुआछूत... विचार...

जमादारनी मेरे कमरे का 'पॉट' देखने आई है।

नीचे पड़े हुए मेरे कम्बल को किनारे से पकड़ कर उसने करीने से सजा दिया है... 'पॉट' साफ है, वह चली जाती है...

रात खर्राटे ले रही है।

मेरी आंखें अंधकार को चीरती हुई उस जाती हुई नर्स की पीठ पर चिपक गई हैं...

मेरी मां शिक्षित हैं, उन्हे संस्कार-दोष भी उतना नही है लेकिन पिता के साथ रह कर उनके सभी विश्वासों का परिबोध हो चुका है।

वह व्रत-उपवास में उलझ गई हैं। ब्राह्मणों-पण्डितों के लिए असली घी के पकवान या केशर-मिसरी मिला दूध तैयार करने की ओर उनका ध्यान अधिक जाता है। ऊपर से रेशमी वस्त्र, हजारों की दक्षिणा... किसी मुसीबत से बचने के लिए ऐसे ही उपचार उन्हें रास आते हैं...

घर की परम्पराओं को पोसना उन्हें ज्यादा अच्छा लगता है।

स्वामी जी की प्रसन्नता और आरोग्यवर्द्धन के लिए जप-तप-पूजा-अनुष्ठान उनके लिए अधिक जरूरी है।

इस दौरान वह निस्पृह-निरीह रहती हैं। निर्विकार-अनासक्त रह कर सब कुछ देखती हैं कि सम्पन्न हो रहा है या नहीं। उनमें गरूर का दंश भी नहीं होता... मर्यादाओं की लीक उनकी जिदगी बन गई है और हमें भी उसी में बांध कर रखना चाहती हैं।

कही उनके मन में यह बात भी है कि समय ने सारे बंधन शिथिल कर दिए हैं...

इतने सारे क़ायदे-कानूनो, विधि-विधानों, भाग्य-रीति-नीतियों के बावजूद सभी काराओ से मुक्त हो मेरी एक बहन ने महाप्रणय की संरचना कर ली तो मां क्या कर पाईं।

पुण्य बटोरने के, समाज और कुल को संस्कारों की चपेट से छुड़ा कर भाई ने भी विजातीय विवाह कर ही लिया। मां ने उस विवाह के रोकने के कौन-से उपाय छोड़े ?

घर में वहू बन कर आई नवागता को सबने खुले मन से स्वीकार भी किया... शायद इसलिए कि उसका घर-घराना अच्छा-सम्पन्न था। जमींदारी, दास-दासी, गाड़ी-सवारी... पुरानी हवेली-कोठियां और एक ही लड़की।

अप्सरा न होते हुए भी आकर्षक, शायद सुंदर भी, शिक्षित...

लेकिन हमारी भीड़ देख कर क्या वह खुश हुई ?

कितने दिन-महीने भोजन हमारे गृह में जीमने वाले लोगों को वह आंखें फाड़-फाड़ कर देखती रही थी।

मां के पास परवरिश पाने वाला बहन का लड़का उसे बड़ा अजीब लगा।

हालांकि मां ने अपनी बानगी दिखाने में भी कोई कोर-कसर नहीं रखी। बोलीं :

'आंखें फाड़कर क्या देख रही हो बहू, यह मेरा ही परिवार है... हमारी भारतीय संस्कृति का प्रतीक यह संयुक्त परिवार...'

मां का स्वर सुनकर वह चौंकी शायद फिर पलट कर ऐसे देखा कि मां सहम गईं।

उन्होंने बात पलट दी।

'सामने वह जो संगमरमर की सीढ़ियां देख रही हो न, वह हमारा पूजा घर है। स्नान-ध्यान करके ही इसमे प्रवेश किया जाता है...'

बहू की एक आंख मंदिर मे लगे चांदी के नक्काशीदार किवाडों पर थी और दूसरी उस भीड़-भाड़, सब्जियों से भरे टोकरों पर... रगीन वर्क लगे चावलो की ट्रे पर... ताजे फलों से भरी टोकरियों पर... वह चुप ही रही...

वह विवाह का तीसरा दिन था। मेहमान सभी जमे हुए थे। वैसे विवाह-शादी, कोई उत्सव-समारोह न भी हो तो भी हमारे नाते-रिश्तेदारों, मित्रों, मामा-मौसियों से घर भरा ही रहता था...

मैं अतीत-वर्तमान के बीच घिरनी की तरह घूम कर भविष्य के क्षितिजों तक पहुंचने की कोशिश कर रहा हूं... मन भटकने लगा...

बीमार व्यक्ति का मन अकुलाहट में भरा कहां-कहां नही भटकता। कभी दाएं कभी बाएं, कभी ऊपर कभी नीचे... पूर्व से पश्चिम तक अप्रयास ही दिशाएं मापता रहता है, पर सारी कामनाएं दर्द की थपेड़ खाकर सेमल की रूई की तरह उड़ जाती हैं... पीछे छूट जाता है ठोस सत्य... वह चिर सत्य आज भी है, कल भी था।

मंझली घर में बहू बनकर नई-नई आई थी।

मै भले-बुरे के विवेक से परे था। उसके भरे हुए कीमती पर्स से मैंने कई बार पैसे चुराए...

यादों के नीचे मन दबने लगता है...

क्या घराना था हमारा, क्या हो गया...

बड़ी-बड़ी मिट्टी की नादों में दूध उबलता रहता, खालिस गाय का। मलाई की पर्त दर पर्त चढ़ाता रसोइया...

हमें ताजा हलवा बनवा कर मां खिला देतीं...

पिताजी के नाश्ते के लिए जो हरीरा घुट कर आता, उसे पाने के लिए हम भाई-बहनों में झगड़े होते...

पर वह चांदी के कटोरे में सोने के ढक्कन से ढका होता, उसके ऊपर रेशम

का कढ़ा हुआ झिलमिल वस्त्र...

दाढ़ी पर कपड़ा बांध कर, वैष्णव मंदिर के प्रसाद की तरह मोटे पेट वाला महाराज, अंदर-अंदर चल कर, कई दालान पार करता, गले में लटके हुए लाल गमछे से चेहरे का पसीना पोंछता मर्दाने में पहुंचता था, जहां दीवानखाने में पिता की कचहरी लगी होती...

महाराज के भारी पदचापों की आवाज ही सारे कारिन्दों-अफसरों को तितर-बितर कर देती... पूरा कमरा खाली हो जाता...

पिताजी के नाश्ते के समय हम भाई-बहनों में से भी किसी को उस कमरे में जाने की इजाजत नहीं थी...

अब न पिताजी रहे, न वह ऐश्वर्य ही रहा... लेकिन हमारे आराम में तो कोई कमी नहीं थी...

पता नहीं क्यों बिसरे दिन मेरी स्मृतियों को कुरेदने के लिए उचकते रहते हैं...

हम खाते हैं, अच्छे कपड़े भी पहनते हैं... घर में नौकर-चाकर हैं, सवारियां हैं... लेकिन अब उन्हे आवाज देनी पड़ती है। हुक्म सुनते ही वे हाजिर नहीं होते...

रसोई घर अब भी बड़ा है। भाभी के आने के बाद पक्का मीठा भोजन भी नियमित रूप से बनने लगा है। कुटुम्बियों से चार गुना अधिक बाहर के खाने वाले भी होते हैं जिसका भार बड़ी बहू के हिस्से में आया है...

मां एक तरह से हुकुम ही चलाती रहती हैं और कुछ करना उनके वश का नहीं रहा।

मंझली बहू भी शायद उन्हीं का अनुकरण करना चाहती है।

आटे में नमक मिलाना हो तब भी उसे पुस्तक का सहारा लेना पड़ता है। तुला पर नमक के दाने और आटा दूसरे पल्ले पर डाल कर तोला जाता है, तब तक गैस खत्म हो जाती है। वह पसीने से लथपथ, कटे बालों को पीछे बांधे, सिर झुकाए, कंधे उठाए मंथर गति से बरामदे में पहुंच कर चुपचाप खिसकती हुई ऊपर चली जाती है...

हमारे ढाबेनुमा रसोईघर को चांदनी का प्रकाश देना उसके वश का कभी नहीं रहा। कहती है :

'यह घर है या धर्मशाला ! जिस कमरे में जाओ लोग बैठे मिल जाते हैं ! न कोई प्राइवेसी है न व्यष्टि... सब कुछ समष्टि है, सृष्टि है, समूह है... सबके लिए रसोई-घर खुला रहता है। क्या इनका स्वागत पत्र-पुष्प से नहीं किया जा सकता ?'

मंझली की दृष्टि में यह सब बेमतलब का खर्च हे, समय का क्षय भी... किंतु

भाभी के अनुसार बड़ी रसोई से ही श्रीमंती का अंदाजा लगता है। बड़ी रसोई, सुँस्वादु व्यंजन, फल-फूलों के झाबे, पान की गिलौरियां, साथ में छः सौ नम्बर का कीमती ज़र्दा... तब तो बात बनती है।

इसमें संदेह नहीं कि खर्चे के लिए मिलने वाली रकम का तीन चौथाई चौके-चूल्हे को सम्पन्न रखने में ही निकल जाती है...

मां की तीसरी बहू है मेरी पत्नी—मधु। इसे भी पहले उन्हींने पसंद किया था। उनकी दृष्टि मे मानव चेहरे के सौंदर्य को चार-चाद लगाने वाली आंखें है।

नाव की शक्ल वाली मधु की आंखों में छोटे-छोटे काले, चंचलता से घूमते हुए गोले हॉल में दिए हुए मछलियों के अण्डो की तरह दिखाई पड़ते है...

दो खिड़कियों की तरह अपने नैन खोलती है। पलकों के पीछे का आकाश विस्तृत जरूर लगता है लेकिन उसमें कोई उद्वेग नहीं, न भावो की छायाकृतिया ही वहां उभरती हैं, एक तरह से सब कुछ सोच शून्य है...

उसका रग गोरा है, कद छोटा... अंग-प्रत्यंग पर कोई रेखा नही उभरती, ऊपर से नीचे तक सपाट... पढ़ी-लिखी जरूर है, जाने क्यो मुझे भा-सी गई, अच्छी लगी...

मै क्यों आकृष्ट हुआ उसकी ओर... शायद इसलिए कि उसने मुझसे कोई सवाल नहीं किया, न मेरे रोजगार-रोजी के बारे में, न धन-सम्पत्ति के बारे में, न घर-बार के बारे में...

अच्छा ही हुआ, धन का करना ही क्या था... जरूरतें पूरी होनी चाहिए जो हो ही रही थीं... लक्ष्मी कौन-सी एक जगह ठहरती हैं...

और जो सम्पन्न कहे जाते हैं वही कौन-से सुखी हैं ?

उनके घरों में काम कुछ होता नही। औरतें दिन भर मेवा-मिष्टान्न खाती हैं, घी में डूबी लुचई-पूरी-पकवान खा-खाकर उनके पेट खराब होते हैं... तब डाक्टरो की तिजोरियां भरती हैं और उनसे सलाह लेकर अपनी फूली हुई देह पिचकाने के लिए वजन हल्का करने के लिए फलों का रस, नारियल का पानी पी-पीकर कड़का करती हैं, पेट में भूख कुलबुलाती है और वे चिड़चिड़ करके सारा घर अपने सिर पर उठाए रहती हैं।

मधु समानधर्मा साबित हुई। मैंने उसे अपने से ऊंचा मान लिया था क्योंकि बातें वह ऊंची दार्शनिक किया करती है।

उसने कहा था :

'किसी पैसे वाले से विवाह करना मैं नहीं चाहती थी। मुझे एक ईमानदार-सच्चे जीवन-साथी की जरूरत थी जिसमें न कोई व्यसन हो, न बुरी आदत... जो सब कुछ

मुझे यहां मिल रहा है...'

ये बातें उसने मां से कही थीं और इस तरह हमारा पाणिग्रहण हो गया था...

हैरानी मुझे इस वात पर थी कि बहू के आने के बाद मां उससे खुश नहीं रह पाई।

किसी भी पैमाने पर देखे, मधु एक अच्छी लड़की कही जा सकती है। वह मिलनसार भी है। गुस्से की कायल बन जाती है तो क्या हुआ, मेरी देखभाल तो करती है, अपना फर्ज निभाती है।

मुझे उससे कोई शिकायत नहीं। मैं अपनी औक़ात जानता हूं। उससे अच्छी लड़की मुझे और कहा मिलती ?

घर में सबसे छोटा मैं... किसी भी हालत में जिम्मेदारियों से कतराने वाला, न कोई काम न धाम, न कमाई न काम...

जो भी हो, मैं अपनी पत्नी से संतुष्ट भी हूं और प्रसन्न भी। मझली की तरह वह मुझे व्यंग्य वाणों से वेधती नहीं... पैसों के लिए मुझसे झगड़ती नहीं, बल्कि मुझे प्रोत्साहित ही करती रहती है...

फिर भी मां उससे संतुष्ट नहीं, और भाभी ?

मां की नाराजगी का कारण मैं नहीं जानता लेकिन भाभी... मधु शायद भाभी को अभी तक समझ नहीं पाई है और शायद समझना भी नहीं चाहती। मुझे यह वात अच्छी नहीं लगती लेकिन इसकी जिम्मेदारी मुझ पर ही है...

अपनी प्रारम्भिक मुलाकातों में मैंने उसके सामने भाभी की इतमी प्रशंसा कर दी थी। यहां तक कह गया था कि 'मां के बाद वही मेरी सब कुछ रही हैं...'

मधु को यह बात अच्छी नही लगी थी यह उसके चेहरे से उसी समय जाहिर हो गया था। साथ ही मुझमे भी यह एहसास जागा कि मैं जरूरत से ज्यादा कह गया।

मैं जानता हूं मधु, भाभी को पसंद नहीं करती। उसके मन की अंदरूनी पर्तों में कही ईर्ष्या का भाव भी झलकता है, लेकिन यह अस्वाभाविक तो नहीं था...

कौन स्त्री चाहेगी कि उसका पति उसे छोड़ कर किसी अन्य स्त्री की इतनी तारीफ करे... यह गलती तो मेरी ही थी...

अपने सारे वायदों के बावजूद मैंने मधु के सामने भाभी से बोलना बंद कर दिया था... पर मैं मां से भी तो नहीं बोलता था। मेरी अधिक बोलने की आदत ही कव थी...

भाभी के आने के बाद तो थोड़ा बहुत मैंने बोलना शुरू किया था... मेरी पट गई थी उनके साथ और अब वह भी नहीं रहा। एक तरह से परिवार से मैं कटा ही रहा शुरू से आज तक... एक मधु थी... फिर भी मैं खुश था।

घर में सभी लोग मुझे स्वार्थी मानते हैं... पर मैं क्या करूं। मधु की नाराजगी मेरे वैवाहिक जीवन में जहर घोल सकती है इसलिए मैं डरता हूं।

लेकिन मेरे मन का द्वंद्व कम नहीं हो रहा है। यह द्वंद्वात्मक स्थिति मुझे कहीं नुकसान पहुंचा रही है...

इस प्रकार समय के थपेड़े मैं कब तक सहता रहूंगा ?

पर क्या समय कभी ठहरेगा ? क्या गए दिन वापस लौटकर आएंगे ? क्या मेरी होने वाली संतानें मुझे अपना बचपन वापस कर देंगी ?

मैं विचलित होने लगता हूं...

मैं बूढ़ा होने लगा हूं...

मृत्यु के अंधकूप में मेरी चेतना मुझे फिर बहा ले जाती है।

मैं बम्बई के उसी नर्सिंग होम में हूं और हड़बड़ा कर आखे ऊपर उठाता हू।

भाभी सूप का प्याला लिए मेरे सिरहाने खड़ी हैं, किसी देवकन्या की तरह...

'अरे, अरे, क्या कर रहे हैं, घूंट को गले के नीचे उतारो...' उनका दायां हाथ मेरी छाती पर है, ठीक मेरी धड़कन के निकट..

शायद हाथ, कान बन गया है...पसीने से चिपचिप करती देह का कपड़ा हटा कर वह कोलोन से उसे पोंछती हैं। बदन पर सरसराती उनकी रेशमी अंगुलियां मेरे अंतरतम का स्पर्श कर रही हैं...

किसी अन्य लोक में पहुंच जाता हूं मैं...कराह कुछ कम होती है...थम जाती है...बाष्पाकुल नेत्रों से मैं उस अशरीरी स्पर्श को देखने की कोशिश करता हूं...

एक भीष्म प्रतिज्ञा मेरे अंदर जागती है। मैं मन ही मन संकल्प लेता हूं—इस दिव्य नाम के लिए, जिसने मुझे जनम तो नहीं दिया फिर भी यमराज के साथ जाते हुए मुझे अपने सिद्ध संकल्पों के बल पर रोक कर लौटा लाई है...

जरूरत पड़ी तो मैं उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दूंगा...पति की प्रताड़नाओं से उसे बचाऊंगा...उसका पुत्र उत्तम पुरुष बने उसके लिए कोई प्रयत्न छोड़ूंगा नहीं...मैं उसके अधिकारों की रक्षा करूंगा...मैं इसे अपनी...

मैं कांप गया आगे की बात सोच कर।

कमरे की मंद रोशनी और भी मंद हो गई जैसे तेल समाप्ति पर ढिबरी की बत्ती हिल कर अंधी होने लगती है...

भाभी का चेहरा एक अपूर्व भाव भंगिमा से चमक उठा था...संकल्प-निष्ठा ने आलोक का रूप धारण कर लिया था।

क्या मेरी प्रतिज्ञा, मेरा संकल्प-विश्वास, मेरा स्नेह, उनके मन की गहराइयों

का स्पर्श कर गया होगा ?

एक प्रश्न आकर थमक गया।

सवेरा होने को आ गया था लेकिन मेरी पीड़ाओं के लिए रात बहुत लम्बी है...खिंचती चली जा रही है...आसमान के लिए छोरहीन...कुछ शुरू होता है तो उसका कोई न कोई अंत होता जरूर है लेकिन मेरे कष्टों का अंत नहीं था, वह शुरू होकर भी बात शुरू पर ही टिक गई थी।

मां डाक्टरों को बुला-बुला कर मीटिंग कर रही हैं...उनके सामने रो रही हैं, सावन-भादों की तरह उनकी आखें बरस रही हैं...

डाक्टरों को प्रभावित करने के लिए अपने वैभव का गुणगान भी कर रही हैं...

डाक्टर चुप रह जाते हैं, क्या कहें, 'आपका वैभव था तब था, हम क्या करें...' एेसा ही कुछ भाव बनता है उनके चेहरे पर...

दो-तीन डाक्टर स्नेहिल भी हैं...प्रेम से मिलते हैं स्नेहसिक्त बातें करते हैं।

अंधेरी रात में अकेली खड़ी मां उनका इंतजार ऐसे करती हैं जैसे किसी प्रेमिका की अटूट श्वासें रति के गहन संगीत से मिल कर उसे भय विह्वल कर रही हो...

लम्बी-लम्बी आहें...मुंह में शब्द आकर नमक की डली की तरह घुलते जाते हैं...

सोच कभी चुकता नहीं...लेकिन शब्दों के साथ उसका मेल कम ही हो पाता है...

मैं अपने अंदर भिन्न-भिन्न ध्वनियों का प्रवेश सुन रहा हूं जैसे महासमुद्र में नदी-नाले, गंगा-यमुना, घाघरा-गोमती...सभी मिल कर अपना अस्तित्व खो देती हैं।

मौत के मुंह में कई दिन तक उल्टे पड़े रहने के बाद उस भयंकर बीमारी पर ही मेरे जीवन का स्पंदन अटक गया है...

घायल पक्षी की तरह, उत्तर-दक्षिण की यात्राएं करके एक बार फिर मैं उसी अस्पताल के कमरे में पहुंच गया हूं जहां सांध्य समुद्र अस्ताचलगामी सूर्य को अपने गर्भ में छिपा दहाड़ता हुआ, द्वीपों से टकराता, जाने कौन-कौन से इतिहास दोहराता चला जा रहा है...

समुद्र की खुली आंखों के आगे बीते हुए विश्व के सारे पन्ने खुले पड़े है...समुद्र किसी ऋषि की तरह ऋचाओं का मंत्रोच्चार कर उनका अनुवाद कर देता

है। समय उसके पीछे हो लेता है...

बूढ़े बाघ की तरह उन्मादित समुद्र अपनी दहाड़ों से धरती-आसमान में हड़कम्प पैदा कर देता है...

समुद्री चट्टानों में से क्षितिज खुलता चला आ रहा है...

कई सप्ताह बाद मैं व्हील चेयर पर बैठकर पृथ्वी और सागर के होंठो का मिलन देख रहा हूं...

अचानक मेरा दर्द, एक धक्के से जाग पड़ता है। कम्बल में लपेट कर नर्स की सहायता से भाभी ने पुनः लाकर मुझे बिस्तर पर लिटा दिया है...

एक सुई चुभती है और मैं दूसरी दुनिया में पहुंच जाता हूं...

मेरे सिरहाने से उठकर एक आकृति कमर पर हाथ रखे बेताबी से कमरे में घूमने लगती है...मेरे बेड के आसपास वह चक्कर काट रही है...

उसके चेहरे पर आधा भरा हुआ मेघ उतर आया है। उसके हाथ मे एक मुड़ा-तुड़ा कागज का टुकड़ा है, शायद वही उसकी तात्कालिक उद्विग्नता का कारण है...

मैं कुछ कहना चाहता हूं पर आवाज नही निकलती। मेरे दिमाग में बायस्कोपी दृश्यों की तरह तस्वीरें तेजी से बदलती जा रही हैं...

एक औरत के कितने रूप संभव हैं ?

गुलाबी रेशमी गाउन में वह बहुत दुबली दिखाई पड़ रही है...

हाथों मे मरीजी खाने से सुसज्जित पारदर्शी बंद ट्रे लेकर वह पास खडी है...

खाना देखते ही मुझे उबकाई आने लगती है...

आर्म चेयर की बांहों पर वह ट्रे लगा देती है। धीरे से कुर्सी खिसका कर वह आकर पास बैठ जाती हैं...

उनकी टकटकी मेरे खाने पर है। उनके बाल किसी गुस्ताख हवा के झोंके से ललाट पर आ गए हैं...

पता नहीं किस अंतर्प्रेरणा के वशीभूत उनके चेहरे पर भावों की आवाजाही चलती रहती है—कभी तनाव, कभी प्यार-ममता, कभी झुंझलाहट...नाना रूपो की खींचतान।

आंखों में कभी उत्साह चमकता है, कभी अंधकार बुझ जाता है...

मैं समझ जाता हूं कोई समस्या घुन बन कर उनके अंतस्तल में प्रवेश कर चुकी है...

मैं जैसे-तैसे भोजन के ग्रास निगलने लगता हूं। मैंने अपनी आंखें पूरी तरह

भोजन की ट्रे पर झुका ली हैं।

उन्होंने इस मौके का फ़ायदा उठाया है। हाथ का मुड़ा-तुड़ा कागज उन्होंने टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं। जैसे मन में चुभे हुए कांटे को किसी ने खींच कर निकाल दिया हो या और अंदर चुभा कर उसे रक्त के साथ ही प्रवाहित कर दिया हो जो बाद में कभी नासूर भी बन सकता है।...

जीवन के इन दृश्यों को मैं बार-बार हर साल बिहार में आ जाने वाली बाढ़ की तरह क्यों दोहराने लगता हूं ? मुझे इसका कोई अन्दाजा नहीं।

मौत की घड़ी टल गई है...

मैं ठीक होकर दुबारा जीने के लिए पूरी तैयारी करने के उपक्रम में हूं...

मेरा संसार बस गया है। अपनी पत्नी के साथ अभावों के बीच भी ठीक ही हूं...सबसे अलग-थलग, अपने आप मे केंद्रित...

पर मेरा अंतर चूर-चूर हो रहा है। अचानक कुछ झनझना कर टूट रहा है और शायद इसीलिए मुझमे कुछ न्यूनताएं आती जा रही हैं...

मेरे हर सवाल का जवाब थीं–भाभी...अब वह मेरे सामने नहीं हैं। जो मेरे सामने है उसे समय के बोध का हवाला देते हुए मैं आंखों में आने वाले लम्बे बालो की तरह पीछे झटक देता हूं।

एक बार भटकाव की दरिया मे आदमी पड़ जाय तो हाथ-पांव मार कर भी उसे कोई किनारा नही मिलता।

सच्चाई यह थी कि मेरे पास कोई काम नही था...समय उसी परिधि में बीतना था–मां, भाभी, मधु...विवाह के बाद कुछ समय प्रवाह में बीता फिर स्थिरता हाथ-पांव मोड़े बैठती नजर आई।

बात प्रमुख एक ही थी कि सभी को एक परिवार बन कर रहना था और एक-दूसरे को समझने के लायक कोई नहीं। झगड़े किसी न किसी रूप में रोज ही उभरते थे...किसी न किसी मुद्दे को लेकर कोई न कोई विवाद चल ही जाता...

कमरे की चौखट पर खड़ी होकर मां बड़ी बहू को आवाज देतीं। जो कहना होता उन्हीं से कहतीं, जैसे अन्य बहुओं की अहमियत ही न हो कुछ। मां का विश्वास भी एक ही जगह केंद्रित हो गया था...

अम्मा ने उस दिन एक-एक कर सभी बत्तियां जला दी थीं। मां के कमरे में इकट्ठी भीड़ एक-एक कर छंटती जा रही थी...

मुझे इस एकांत का इंतजार था। मैं मां से कुछ बात करना चाहता था...

कीर्तन समाप्त हो चुका था। कुछ समय तक रामधुन अभी चलना था...इसी बीच सबको एक-एक कर खिसक लेना था।

पिता की मृत्यु मंगलवार को हुई थी। उसी स्मृति को जीवित रखने के लिए यह कार्यक्रम शुरू हुआ था...

हर मंगलवार को निश्चित समय उफनती नदी की तरह हरिबोल की आवाजें उमड़तीं...उदारता से प्रसाद बंटता...जरूरतमंदों को आवश्यकता और हैसियत के अनुसार धन भी दिया जाता...

लगभग दो घंटो का सिलसिला था। तब संध्या आरती होती। कुछ दिनों तक मैं भी धार्मिक निष्ठा से इसमें शामिल होता रहा...उफनती हुई, एक-दूसरे को काटती विचारवीथियों की गरज को दबाते हुए...

अच्छा-बुरा, दुख-सुख के आवश्यक, मुंह तक आने वाले शब्दों को दबाए हुए,...

अपनी गुणवत्ता खोकर अपने होने का प्रमाद भी थम जाता है। मैं जानता था ये सब औपचारिकताएं थी, इसमें सत्य का लेश भी नहीं था...

इस तरह की परिस्थितियों से साक्षात्कार हो जाए तो छत से कूद कर जान देने को मन किया करता था कभी...कुछ समय के लिए मैं उसका हिस्सा भी बना... शायद 'परिवार' के अधिक करीब आने के लिए या भाभी...

मां के पास मेरे लिए समय नहीं था...

लेकिन मधु तो मेरी थी, सिर्फ मेरे लिए इस घर में शामिल हुई थी। बस इसी एक सत्य को थाम कर हर तरह का कोलाहल मैं संगीत में परिणत कर देता हूं...

संगीत से कुछ सुकून तो मिलता है...आशा, निर्भरता का आश्वासन भी कहीं से मिल ही जाता है...

यही मेरा सौभाग्य था...यही मेरा सुख भी...

प्रतिक्रिया में मन के टूटे हुए तार वापस कसने लगते थे और उस सिंहवाहिनी दुर्गा की बड़ी तस्वीर पर मेरी आंखें बरबस जाकर टिक जातीं...

कितनी सुंदर छवि थी मां दुर्गा की...उन्हीं के पास लेटी हुई विष्णुमूर्ति...

हमारे पुरखों ने जब इस मंदिर का निर्माण कराया होगा उसी समय इस विचित्र प्रतिमा का प्रवेश यहां हुआ होगा...

विष्णु लेटे हुए हैं। शेषनाग के फन पर उनका सिर रखा है और लक्ष्मी उनकी

चरण सेवा कर रही हैं...भृगु ऋषि वहीं खड़े हैं। उनका एक पांव उठा हुआ है, वह विष्णु भगवान की परीक्षा लेने आए हैं...उन्होंने विष्णु के सीने पर मारने के लिए लात उठाई है और भगवान ने उनका पैर पकड़ लिया है :

'आपका पैर कोमल और मेरी छाती कठोर है ब्राह्मणदेव, आपको चोट तो नहीं आई...'

विष्णु को मारने के लिए भृगु की उठी हुई लात देख कर शिव-ब्रह्मा क्रोध ाकुल हो जाते हैं लेकिन विष्णु पूर्णतः शांत हैं...देवाधिदेव जो ठहरे...

'क्षमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात...
कहा विष्णु को घट गयो जो भृगु मारी लात'

भृगु पानी-पानी हो जाते हैं...

यही हमारा पारिवारिक 'मोटो' भी था...

इसका मतलब क्या यह नही हो सकता कि मां की क्रोधित ममता मे भी विष्णु की क्षमा हो सकती थी ?

मुझे याद नही, जीवन मे मैंने ऐसा कुछ किया हो जिसके कारण पारिवारिक प्रेम, सौहार्द्र से वचित रह जाऊं।

श्वेत और काले संगमरमर से निर्मित परम्पराओ से बाधित और प्रतिष्ठित इन जड मूर्तियो में भी कितना सौंदर्य, कितना लावण्य और चेतना है...

सभी के कण्ठों मे गुलाब की मालाएं लटकती रहती हैं...ताजी सुगंधि निरंतर निःसृत होती रहती है।

सोचता हूं आज के घोर कलयुग में भी इनकी आशीर्वादात्मकता कायम है, इनमें चेतना प्रतिष्ठित है...फिर मैं...जीता-जागता एकदम जड़ कैसे बन गया ?

जिस घर-परिवार से मैं जुड़ा हूं उसकी सारी जनसंख्या हीनबल है...केवल मां ने ही अपनी सभी परिस्थितियों को समेट कर स्वयं को चेतन बनाए रखा है...

मैं सोचता हूं कि हर बात पर शास्त्रों का, आप्त वचनों का उदाहरण दे-देकर वह हमें छाया की तरह पीछे रखना चाहती हैं। हम 'कलयुगी बच्चे' कहलाए जाते हैं।

'इन कलयुगी बच्चो ने ही हमें पत्थर बना दिया है,' वह कहती हैं।

हमारा ख्याल है शायद इसीलिए हमारी आवाज उन तक पहुंचती नहीं। उनके शुष्क उपदेश हमारी देहों से टकरा कर उन्माद में अंधे हुए मन के आसपास प्रतिध्वनित होते रहते हैं...

मैं व्यर्थ ही मां को कोसने लगता हू।

मां स्वामी जी से योग सीखती हैं...अष्टांग योग का अभ्यास करती हैं। उन्होंने प्राणायाम भी साधा है...

लेकिन फिर वे इतनी अनजान क्यों बनती है ? उन्हें तो सर्वज्ञाता होना चाहिए...

मां संसार छोड़ कर कही जाना चाहती हैं...लेकिन सासारिक कारणो से ही विवश हो जाती हैं...अपनी इसी विवशतावश न जा सकने के कारण सारे घर को सिर पर उठाए रहती हैं...

विपत्तियों से उद्धार पाने का यह कौन-सा तरीका है ? अपने मन की विवशताओं पर विजय न पा सकने का दायित्व किसी दूसरे पर कैसे आ सकता है...

एक बात और भी है...मा के दायित्वों के दायरे मे केवल पल्लवी यानी मेरी बड़ी बहन और बेहुला यानी मेरी दिव्यरूपा भाभी ही क्यों आती है...

इन्हीं दोनो का दुख मा ने अपने सिर पर क्यों उठा रखा है ?

हम सब आखिर उन्ही के व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न अग है, उन्ही की कृतियां हैं...फिर यह पक्षपात क्यों ?

महावन के पलाश की तरह मुझमें भी आग जलती है...

आज के युग का एक नमूना मै भी हू... मै अपनी तरह से जीना चाहता हूं...

फिर मेरे रास्ते मे इतने व्यवधान क्यों ?

अपना ही मन संवेदनाओ के द्वार पर दस्तक क्यों देने लगता हे ?

मेरी आखों के आगे संवेदनाओं की चादर झीनी क्यों होने लगती है ?

सस्कार मुझे जो मिले, सो मिले...अब, जब मै वयस्क हो गया हूं अपनी मान्यताओ, अपने मूल्यो के साथ क्षीर-नीर न्याय क्यों नहीं कर पाता ?

इस कुण्ठित माहौल से उबर पाने की शक्ति मुझमे क्यों पैदा नहीं होती... असमंजस्य की विवशताएं मेरे पैरों में बेड़ियां बन कर क्यो उलझ जाती हैं ?

मेरा दिल क्यो डूबने लगता है ?

रात बढ़ती जा रही है।

संध्या की गहन, उदास रोशनी में खड़े हैं वे लोग जिन्हें मां ने अभी-अभी प्रसाद दिया है...

विदा की प्रणाम-मुद्रा में 'आज' के कार्यक्रम की सफलता के लिए वे अनुगृहीत हो रहे हैं...

उनके लिए वह सारा वातावरण मंगलमय है। इस मंगलमयता से निकल कर

उन्हें अपनी-अपनी दुनिया में प्रवेश करना है जहां लक्षित रूप से स्वार्थ, ईर्ष्या, दम्भ, लोभ और मोह के हिंसक पशु मुंहबाए खड़े होंगे...

यहां जो कुछ है या हो रहा है उन्हें कभी दिखाई नहीं पड़ेगा। कैसी विडम्बना है ?

पुरानी संस्कृति और आज के संस्कारों की पूजा कठिन है लेकिन सत्य तो हर युग में ही सत्य ही रहता है... वह कल भी सत्य था, आज भी है और कल भी रहेगा।

स्नानादि से निवृत्त हो मधु नीचे उतरती है। मां अगर सामने हैं तो उनके पैर छूती है। वह झुकती नहीं। पैर एक हाथ से ही छूती है पर छूती तो है।

मां की मुद्रा कुटिल भावभंगिमा से आशीर्वाद का रूप ले इससे पहले उनके शुष्क उपदेशो के डर से खिसक कर वह नाश्ते की मेज पर आकर बैठ जाती है।

हमारे कुटुम्ब की सभी स्त्रियां तितर-वितर होते हुए भी वहीं आसपास रहती हैं...

मां के लिए यही मौका अच्छा रहता है। उनके भाषणो, व्यंग्योक्तियों की चपेट में उस समय सभी आ जाती हैं।

नाश्ते का मज़ा बेशक किरकिरा हो जाय। पर मां यह सुयोग कभी खोती नहीं। उनका संवाद शुरू हो जाता है और इस आवेग में उन स्त्रियों की आपसी बातें—वस्त्राभूषणों की खरीद-फरोख्त, फैशन के नए आयाम, जाने-पहचाने लोगों की चिमगोइयां, उनकी प्रेम कहानियां, किसकी सगाई टूटी, कौन किसके साथ भागा, दहेज में कौन मरा, किसका उद्धार हुआ,...तीव्रता से चल सकने वाले सभी चर्चे मंद पड़ जाते हैं...

भाभी अक्सर डाक्टरों के 'प्रिसक्रिप्शन' लिए खड़ी दिखाई पड़ती हैं...लगता है कहीं जाने तैयार खड़ी हैं।

मां की वाणी रुक जाती है।

'कहा जा रही हो ?' वह भाभी से पूछती हैं।

'डाक्टर ने कुछ दवाइयां बताई है, लेने जा रही हूं,' वह कहती है।

'ठहरो, मैं भी चलती हूं,' मां के वक्तव्यों का रुख बदल जाता है, 'जाना ही था तो इतनी देर क्यों कर दी, इतनी कड़ी गर्मी...जरा-सी धूपछांव में बेहाल हो जाती हो...दिन-दिन घुलती जा रही हो, चेहरे का नूर पता नहीं किस आग में जल कर स्वाहा हो गया है...यहां देखो, सबको अपनी-अपनी पड़ी है... अपनों का कितना ध्यान रखा जाता है...और एक तुम हो, सबकी चिंता अपने सिर लिए इस हवेली में डोलती रहती हो...घर के काम, जिम्मेदारियों से तुम्हें अपने लिए कभी फुर्सत ही नहीं मिलती

जिस्म में ज्वराक्रांति भर गए हैं लेकिन वह दहशत छाया-सी वहां भी रही है।

मुझे मां से क्या चाहिए, कई बार मैंने सोचा है, नीति, न्याय, चारों पुरुषार्थ या तात्विक विवेचन या केवल वात्सल्य...शुद्ध, निर्मल मां का प्यार...

पर शायद स्नेह का स्रोत मैंने अपने हाथों ही बंद-सा कर दिया है।

महाशून्य में कांपती हुई किसी बूढ़े द्वीप-सी मा के सामने कभी शिशु मैं बना ही नहीं। जब भी सामना हुआ मेरा 'मैं' उनके सामने खड़ा था।

वह 'मैं' बेशक पीड़ा का आकार लेकर उभरा लेकिन था एक 'पुरुष' जो स्त्री की किसी रूप में पूजा नहीं, उसकी सरपरस्ती कर सकता है...और मेरे 'मैं' का यह रूप मैं जानता था मेरी मा को कभी मान्य नहीं होगा। हमारे बीच की दूरियों का कारण भी शायद यही था...मैं अपनी मां को झंझले भाई विभूति की तरह समझा देना चाहता था—

कि मै अपनी पत्नी को हर क़दम पर दुनिया के आरोपों से बचाना चाहता हूं, कि जो वह नहीं करना चाहती उसके लिए उसे बाध्य नहीं कर सकता, कि उसके सभी दोष मैं अपने ऊपर ले लेना चाहता हूं, मैं नही चाहता उस पर कोई उगली उठाए...

कि मेरी पत्नी मेरी जिम्मेदारी है, मेरे लिए वह इस घर में आई है, मैं उसकी इज्ज़त करता हूं...

मैं मां को बता देना चाहता था कि मेरी पत्नी मुझ से कई गुना अधिक होशियार और समझदार है, कि ऐसी लडकी मिलना मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है... मैं इसके सुख, संस्कार, संकोच, शंका, आनंद के लिए कोई भी त्याग कर सकता हूं...

मैं उदास जड़ो की उपेक्षा करके प्रसन्न डालो को इसी तरह सींचता रहूंगा क्योंकि उनमे भी जान है, शायद इन्ही डालो का प्रत्यारोपण सभव हो जाय...शायद इन्हीं में से कोई नई कोपल फूटे...

क्योंकि मेरे आसपास जो कुछ था वह सड़ी-गली, जंग लगी शृंखलाओं से बंधा था, मुझे किसी शर्त पर मान्य नहीं था...

यहां नवीनता थी, एक ताज़गी थी, धुंधली ही सही पर आशा की एक किरण थी...

युग हमेशा परिवर्तन चाहता है। मैं भी उसी का प्रतीक रूप हूं, मुझे परिवर्तन चाहिए...

मैं स्वार्थवश अपने आप में ही सिमट रहा हूं, बदल गया हूं, पर इसमें बुराई क्या है, अपने लिए जीने का हक़ तो दुनिया में आने वाले हर प्राणी को है...

मैं अंतिम बार मां को समझा देना चाहता था—

मैं जैसा भी हूं, जितना हूं, वैसा या उतना जीने का अधिकार मुझे है...

कि मैं एक बेहद साधारण मनुष्य हूं...भीष्म पितामह या दानवीर कर्ण बनने की लालसा मेरे मन में कभी नही जागी, जो अपने आदर्शो के लिए दुख सहता रहे, अपमान का घूंट भरता रहे...

कि अपनी पहचान मैं स्वयं वनाऊंगा...

मैं मां से पूछना चाहता था कि क्या उन्हें दिखाई नहीं पड़ता कि अपने ही घर में कितना कुछ बदल गया था...कितनी तेजी से बदलता जा रहा था...

विचारों की क्रिया-प्रतिक्रिया, भयंकर ऊहापोह मैं खड़े-खड़े झेलता रहा और मां मेरी आंखों के सामने से ऐसे खिसक गईं जैसे हवा, बेमालूम सभी व्यवधानों को चीरती-फाड़ती निकल जाती हैं...

मां, मेरी आंखों से ओझल हो गईं...

लेकिन थोडी ही देर वाद अपने रात्रिपरिधान में कुर्ते का बटन बद करते हुए वह मेरे कमरे मे दाखिल हुईं...

मेरे मानसिक ऊहापोह उपेक्षा की आंच में जल कर लगभग राख हो चुके थे...

मैं उजडे हुए सोचों के वोझ से हल्का शायद ऊंवने लगा था। मधु अभी वीडियो रूम से ऊपर आई नहीं थी, कोई अंग्रेजी की फिल्म आ रही थी...

मेरे सोचहीन ऊंघ जाने पर मां ने आक्रोश जाहिर नही किया। मा बैठीं भी नही। केवल इधर-उधर कमरे में आंखें दौड़ाती टहलती रहीं।

मुझे लगा मां किन्हीं प्रश्नो के घेरे में बंधी हुई ही मेरे कमरे में आई हैं। अच्छा नही लगा।

उनके हाथ में शायद कोई बिल था।

हवाओं के विपरीत दिशा काटते हुए अपने आपको भरसक सभालती...उन्होंने बोलना शुरू किया...

'यह तुम्हारी बिजली का विल है नन्हे...पूरे तीन हजार तीस रुपए का...विजली क्या ओढ़ी-बिछाई जाती है ?

'हज़ारो रुपए इसी तरह चले जाते हैं...'

ग्रहण से स्याह पड़े चांद की तरह मेरा मुंह उल्टा लटक गया। एक सूखी अव्यक्त-सी आह मेरे मुंह से निकल गई। मन में प्रश्न उठा—उत्तर दूं या चुप रहूं।

कहना तो चाहता था...

मेरी हर चीज सूखी रेत की तरह आपकी आंखों में चुभती है...इस घर के दूसरे लोग क्या अंधेरे में सोते हैं, या बिजली का इस्तेमाल नहीं करते...उनके बिजली के बिलों तक आपकी नजर क्यों नहीं जाती...

लेकिन मेरे बोल नहीं फूटे। शब्द मेरे अधरों तक आकर रुक गए। मेर जबड़े कस गए...लगा मेरे मुंह के एक-एक दांत टूट कर गिर जाएंगे। मेरे पहलू से मेरे

दोनों बाजू कट कर नीचे गिर पड़ेंगे...

बिजली के कड़क की तरह मां की आवाज सुनाई पड़ी :

'मैं नहीं चाहती सब की निगाहों में तुम हकीर बन कर रहो नन्हे, यह बात समझने की कोशिश तुम क्यों नहीं करते ?'

उन्होंने एक थकी, शुष्क आह भरी जैसे भूख से अधिक भोजन करके किसी ने एक लम्बी डकार को दबा दिया हो...शायद हवा मे उछाला हुआ अपना वाक्य वह समेटने की कोशिश करने लगी...

मैं खामोश ही रहा...

'तुम अब भी बच्चे ही हो क्या, कि तुम पर कोई दायित्व न डाला जाय...बोलते क्यों नहीं... क्या मुझसे बात करके तुम्हारी ऊर्जा बर्बाद होती है ?'

मै कसमसाने लगा। क्या बोलूं...

हमेशा की तरह मेरी रक्षिका बन कर अम्मा कमरे में दाखिल हुई, उसे मा से चाबी लेनी थी खुला ताला बद करने के लिए।

मै बाल-बाल बच गया। मां को भी शायद उस अशांत स्थिति से छुटकारा चाहिए था।

मां ने मुट्ठी में भींची हुई चाबी अम्मा की ओर बढ़ा दी...

एक विपल्व का क्षण समाप्त हो गया...मेरी-उनकी सभा विसर्जित हो गई...

जलते हुए बल्वों के नीचे सिंहवाहिनी दुर्गा-सा उनका चेहरा उद्दीप्त हो गया था।

प्रकाण्ड वैष्णव से मेरे पिता देवीभक्त हो गए थे। उन्होंने जहा-तहां काले प्रस्तरों की देवी प्रतिमाएं, प्रतिष्ठित कराई थीं...मदिर बनवाए थे...

इनसे पहले कई पूजा स्थलो और हवन कुण्डों का निर्माण हमारे पुरखे करा चुके थे, यज्ञ-स्थल बनवाए थे। उसी धार्मिक भावना का विस्तार पीढ़ी दर पीढ़ी से होता चला आ रहा था...

लेकिन वह युग दूसरा था। आस्था और विश्वास पर टिक कर उनका काम चल जाता था। असफलता को सफलता मे बदलने के लिए, अस्वस्थता को स्वास्थ्य-लाभ की परिधि में लाने के लिए मंत्रपूतों को बुलाया जाता था। सिद्ध मंत्रों द्वारा उस युग की मनोकामनाएं-मनोरथ पूरे हो जाते थे...

दादाजी के स्वर्गस्थ होने के बाद हमारी दादी ने अपना शेष जीवन तीर्थस्थान में ही काटा...उनके वहां रहने से एक विशाल भवन बना। वह स्थान एक तीर्थ में बदल गया...

वह जमाना था जब बेटे, बड़ों की इच्छाओं का अविलम्ब पालन करते थे। मां के आदेश पर बेटों ने करोड़ों रुपए खर्च कर दिए...

घर-परिवार तथा अन्य तीर्थयात्रियों की सुख-सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनवाईं, बावड़ी-कुएं खुदवाए, मंदिरों का निर्माण किया, बाग-बगीचे लगवाए...

उस युग में स्त्रियां सड़कों पर दिखाई नहीं पड़ती थीं। पुरुष और स्त्रियों के काम पूरे सौहार्द्र भाव से बंटे हुए थे। आपसी कार्य क्षेत्रों को लेकर उनमें कोई वैमनस्यता नहीं थी।

मैंने बचपन में देखा था, दादी जौ के आटे की गोलियां बना कर मछलियों को खिलाया करती थीं अपनी मुक्ति के लिए। चौबारे में सभी बहू-बेटियो के बीच गुंधा हुआ आटा बांट दिया जाता था। शाम को गुमाश्ते उन गोलियों की गिनती करते थे और दादी को बता देते थे कि किसने, कितनी गोलियां बनाईं। फिर उन्हें मछलियो के आहारस्वरूप नदी-तालाबों में भेज दिया जाता था...

दादी आश्वस्त हो जाती थी कि सबके ग्रहदोष टल गए...सब अपनी-अपनी जगह सुखी-सतुष्ट...

लेकिन, अब तो 'धरम-करम' के वे पैमाने नहीं रहे...

तब, सब की बात सोचने का चलन था। अब, अपनी बात सोचने का रिवाज शुरू हो गया है।

मेरी मा यह बात समझती क्यों नहीं ?

अब, यह संभव तो नहीं कि मेरी पत्नी मधु घूंघट काढ़ कर मेरी मां की गोद में बैठी रहे...

उसका अपना एक अलग अस्तित्व है, उसकी अपनी मान्यताए हैं, उसका अपना अलग सोच है...इस घर की दीवारों से अलग, यहां की मान्यताओ से अलग, स्वयं मुझसे भी अलग...

वह अपने मूल्यों के हिसाब से जीना चाहती है, और मैंने तय कर लिया है कि जमाना चाहे उसकी जितनी भी आलोचना करे, मैं उससे कुछ कहूंगा नहीं।

मैं जानता हूं मधु, भाभी नहीं हो सकती। वह अपने-आपको घर-परिवार या अपनी सास के प्रति पूर्ण समर्पण में समाप्त नहीं कर सकती। मैं यह चाहता भी नहीं।

उसकी जिंदगी का मक़सद सिर्फ सास की सेवा करना नहीं बन सकता जैसा भाभी का बन गया था।

मधु की शादी किसी भी बड़े घर में हो सकती थी क्योंकि वह सीरतवान लड़की है।

लेकिन उसके पिता ने दामाद स्वरूप मुझे चुना था जो हर तरह से उनकी बेटी के लिए नाकारा था। मैं उनका यह एहसान जीवन भर भूलने वाला नहीं था।

मेरे पास स्वास्थ्य की पूंजी भी तो नहीं थी फिर भी मधु ने मुझे स्वीकार किया था।

मैं उस लड़की को किसी भी धर्म-संकट में नहीं डाल सकता था। न मैं इतना बड़ा जानवर बन सकता था कि उसकी आचार संहिताओं से उसे डिगाने का आग्रह करने लगूं।...

मंझली भाभी हम सब में अधिक सुखी हैं, संतुष्ट भी क्योंकि उसके ऊपर अनुशासन की अर्गलाएं कभी डाली ही नहीं गई...

उसके आने-जाने पर कोई रोक-टोक नही, न किसी को पता रहता है कि वह कब आई-गई...

पारदर्शी चोगा पहन कर जब वह पहली बार ऊपर से नीचे उतरी थी उस समय भी किसी ने कुछ नहीं कहा था...न किसी ने खारी निगाह उस पर डाली थी...

वह मज़े में घूमती है, बाजार जाती है, रंग-बिरंगे कपड़े सिलवाती है, गहने खरीदती है। हर मौसम में कश्मीरी महंगा पश्मीना खरीदती है...

उसके कमरे में छत छूती एक पूरी रैक जूते-चप्पलों से भरी पड़ी है...रेशम की कितनी 'वैरायटी' है उसके पास, कोई नही जानता...

और यह सब खरीदने के लिए धन कहां से आता है किसी को इसकी चिंता भी नहीं।

मैं जानता हूं कंजूसी के लिए मशहूर उसका बाप इतने पैसे उसे नहीं दे सकता। ननदें भी कितना उधार देंगी, वे इतनी उदार भी नहीं कि अपनी लाड़ली बिगडैल भाभी के लिए इतना पैसा खर्च करें...

तीसरा स्रोत क्या हो सकता है, हमें मालूम नहीं...इस विषय पर हमारे घर मे कोई बात करना भी नहीं चाहता...

इसीलिए मैं भी कुछ कहना नहीं चाहता। यह विषय हमारे परिवार के लिए एक राज़ है...

अतः मैं भी इसे उसी रूप में छोड़ता हूं।

हमारे पास खर्च करने के लिए कभी कुछ नहीं होता।

मेरी बीवी मधु साधारण कपड़े पहनती है...मामूली ढंग से रहती है।

हमारे यहां का खाना भी उसे पसंद नहीं आता लेकिन कुछ कहती नहीं, जितना संभव होता है खाकर उठ जाती है। कभी शिकायत उसने नहीं किया।

सोचता हूं, वह भी कितनी अजीब जंतु है...

इतने दिन हो गए इस घर में आए, आज तक किसी को अपना दोस्त नहीं बना पाई।

घर में एक अजीब तरह का अलगाव घर कर रहा है। सब लोग अपने ही में मस्त रहना सीख गए हैं।

मंझले भाई, मां के कमरे में ही दिखाई पड़ते हैं। और लोग भी वहीं जुटते हैं...

वहीं महफिलें सजती हैं, दरबार-कचहरी लगती हैं, गर्मजोशी से न्याय-अन्याय की चर्चाएं होती हैं और सभा विसर्जित हो जाती है।

अक्सर मैं उन सभाओं में शामिल नहीं होता। कभी चला भी गया तो टिकता नहीं।

मां पृथ्वी की तरह गोलाकार घूमती हुई सभी चर्चाओ से घूम-फिर कर अपनी बहू-बेटियों और जमाने की बढ़ती हुई रफ्तार पर आ जाती हैं...

हरदम आसू बहाने के लिए तैयार नजर आती है मेरी मां। उनके आंसुओं की थैली फट पड़ने को हमेशा तैयार रहती है...

मैं देख रहा हूं मेरी मां दिनोदिन दुर्बल होती जा रही हैं। लगता है शायद उनकी जिंदगी का आखिरी पड़ाव आ गया है। उनका सारा समय ढीली पड़ गई मुट्ठी से निकलता जा रहा है। अपने श्वासों की पकड़ शायद उनके हाथों से छूट गई है।

घर के पिछवाड़े, खड़े पीपल के पेड़ से भी अधिक पुरानी हो गई हैं मेरी मां...

मां की विचार-काया...खोखली जड़ें, एक उजड़ी हुई विकृत बस्ती की तरह उनकी कार्य प्रणालिया अधर मे झूलती जडों की तरह नजर आ रही हैं...

अपनी बेबसी में कभी किसी को बांधने का प्रयास करती हैं, किसी को बचा ले जाना चाहती हैं, किसी के लिए अपने मंत्रो की पुनर्स्थापना करती हैं...

और हम सब उनके सभी प्रयासों को विस्थापित कर देते हैं...अपने ही विचारों को मूर्तिमंत्त करने के प्रयासों में हम तटस्थ रह जाते हैं...

उनके चोट खाए, घिसे पिटे आदर्शो का कृत्रिम अनुवाद कोई करे, मैं कदापि नहीं करता...

महाकाल सभी प्राचीन आकृतियों, संस्कृतियों और धार्मिक मान्यताओं को उदरस्थ करता जा रहा था और उसी के साथ हमारे रूप, हमारा यौवन, हमारी चमक-दमक ढलती चली जा रही थी।

हम चोरों की तरह घर में घुसते और चोरों की तरह ही चौकन्ने होकर बाहर निकलते थे...जैसे हमने अपने मनों को तन की गुफा से निकाल कर उस मंदिर के

गर्भगृह में गिरवी रख दिया हो जो पृथ्वी की दरार में पड़ा लगातार धंसता ही जा रहा हो।

जिस कीमत पर मां अपने उसूलों, अपनी मान्यताओं को बचाना चाहती थीं वह बहुत बड़ी थी और उसमें हम सबका बलिदान समाहित होकर रह गया था...

मेरी एक बहन अपने मन का विवाह रचा नहीं पाई। क्योंकि अगर वह ऐसा करती तो महान महिमा को ठेस पहुंचता, खानदान की नाक कट जाती...

मां, उनके घर, कुल-खानदान की पसरी हुई प्रतिष्ठा–हम सबसे बड़ी, विस्तृत थी...हम सब उसी की छाया में जीवित रहने का एहसान ढो रहे थे। रुक-रुक कर हमारी सांसें घुट रही थी इसकी चिंता किसी को नहीं थी।

हम मे से किसी को भी फूल की तरह खिलने की आज्ञा नहीं थी। एक पैर बाहर और दूसरा भीतर रख कर हम स्वचालित प्रस्तर प्रतिमाएं बन गए थे।

जिस दिन पिता ने देह त्याग दिया और हम श्मशान की जलती हुई पसलियों पर पसरी हुई नदी में स्नान कर उन्हें जलांजलि देकर लौटे, उसी दिन से हमने यह जडता महसूस की थी...

वह वर्ष याद आता है जब भाभी के लड़का हुआ था।

तीसरी पीढ़ी की प्रथम प्रतिकृति लड़का...हमारे घर की जिंदगी मे यह बहुत बड़ी बात थी। सोचने की, जश्न मनाने की, खुशियों से ओतप्रोत नाचने-गाने की...

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। तीन रात, तीन दिन बड़े कष्ट मे कटे। कोई अस्पताल गया, कोई आया, किंतु मां की तरह मैं भी अडिग खड़ा रहा। मेरा लगभग नास्तिक मन मनौतियां मानता रहा कि हे भगवान, मेरी भाभी को प्रसव पीड़ा से मुक्ति दो।

लड़का हो या लड़की मेरे लिए इस बात की उतनी अहमियत नहीं थी लेकिन बेशक, मेरी मां को बेटा चाहिए था। उनकी मन्नतें थीं कि उनकी लाड़ली बहू की गोद चांद-से बेटे से भरे ताकि कुल को एक उत्तराधिकारी मिले, मां को एक पौत्र मिले ताकि उनके मोक्ष का मार्ग सुगम हो जाए।

मां के पास अक्सर आने वाली किसी रिश्तेदार को एक बार कहते सुना था :

'पौत्र का पुण्य भी गंगाजल जैसा ही होता है। दादी के लिए उसकी किलकारियां भी किसी वैष्णव मदिर की घण्टियों-सी सुरीली होती हैं...स्वर्ग के द्वार

इसी से खुलते हैं।'

पुत्रोत्पत्ति की शुभ सूचना ने पूरे घर में एक खलबली मचा दी। पहले तो किसी की समझ में ही नहीं आया कि अब क्या करें...

रिश्तेदारों-नातेदारों के यहां भी कुछ ऐसा ही माहौल था फिर धीरे-धीरे सम्पर्क साधे जाने लगे।

रास्ता चलते नौकरों को रोक-रोक कर पूछा जाने लगा :

'सचमुच तुम्हारे यहां लड़का हुआ है क्या बड़ी बहूरानी को ?

'कल तुम्हारे यहां लड़का देखने कौन-कौन आया था ?'

नौकर-चाकर भुनभुना रहे थे—

'अब यह भी कोई बात है पूछने की...'

कुछ दिनों तक आने-जाने वालों की भीड़ बढ़ गई थी घर में। तरह-तरह की बाते कही-सुनी जाने लगीं :

'मालिक अगर बीमार न होते तो अपनी बहूरानी को मोहरों से तौल देते...'

'पहला पोता है घर-परिवार में...'

'पण्डित लोग कह रहे हैं बच्चा बड़ा भाग्यशाली है...इस घर के सारे कल्मष धो देगा...'

मुझे भी पल भर को लगा था ऐसा ही होगा कुछ...लेकिन कई दिन, सप्ताह, महीने बीत गए पर ऐसा कुछ नहीं हुआ...

पिता को भी सूचना भेज दी गई थी। लेकिन मौत की मंडराती छाया ने शायद उन्हे किसी बात का बोध होने ही नहीं दिया क्योंकि उन्होने कोई प्रतिक्रिया जाहिर नही की...

और खुशी फूट पड़ने से पहले ही थमक कर रुक गई थी। मुझे इस तरह की मुर्दनी की उम्मीद नहीं थी इसलिए मन में खीझ पैदा हुई।

पिता किसी खुशी का इजहार करेंगे, मुझे ऐसी उम्मीद भी नहीं थी क्योंकि एक तो वह उस मानसिक स्थिति में नहीं थे. दूसरे मैंने उन्हें प्रिय-अप्रिय दोनो को स्वीकार करते देखा था।

वह सबको साथ लेकर चलने के आदी थे, उनके लिए सभी संयुक्त थे, खुशी, ग़म या और कुछ।

यह सच है कि किसी साधारण मनुष्य के जीवन में एक छोटी-सी घटना जुड़ कर भी बहुत बड़ा परिवर्तन ला देती है। लेकिन मेरे पिता अलग तरह के इंसान थे।

उनके लिए सुख-दुख एक ही सिक्के के दो पहलू थे। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों को ही वे साथ लेकर चलते रहे।

उन्होंने अभावों पर जरूरत से ज्यादा ध्यान कभी नहीं दिया और हमें भी यही

सिखाया था, हमने सीखा या नहीं यह एक अलग बात थी...

जहां तक मुझे याद आता है, उनके जीवनकाल में ही हमने अपने तौर-तरीके बदल लिए थे और कहीं वह इसलिए परेशान भी रहने लगे थे...

लेकिन हम क्या करते ?

मंझला भाई मज़े मे है क्योंकि विरासत में छूटी हुई सम्पत्ति की साज-संभाल वही कर रहा है।

बड़ा कुछ करने को तैयार नहीं और उसे पर भरोसा भी नहीं किसी का।

मैं छोटा हूं भाइयों में, हमसे कोई कुछ कहता नहीं...

वडप्पन नापने का जरिया उम्र ही तो नहीं होना चाहिए !

वैसे तो मैं भी नंदू से वर्षों मे वहुत छोटा नहीं हूं। हम दोनों जुड़वा की तरह लगते है लेकिन नदू ने बहुत कुछ कर लिया है जवकि मेरी जिंदगी अभी ठीक से शुरू भी नही हुई।

नंदू के दो बच्चे हैं जिनका संघर्ष भाभी के बच्चो से दिन-रात चलता रहता है।

भाभी का मनु बड़ा है, देखने मे अच्छा है, ठीक मां की अनुकृति-सा, पर स्वभाव मे कुछ संस्कार अपने पिता से भी लिए हैं। गुस्से के ज़लाल में हनुमान की तरह आखे लाल कर लेता है। शरीर का विस्तार तो नहीं कर पाता, पर बातें भूधराकार बन जाती है...

हो सकता है मझले भाई का बेटा शेखर उसे छेड़ देता हो लेकिन मनु को भी छिप कर मुंह चिढाते कई लोगों ने देखा है। वह प्रहार भी करता है।

शेखर शीघ्र ही अपने पिता को पुकार लेता है...

मंझले की देखने और सोचने की सीमा केवल उसका पुत्र है, बिना कुछ पूछे-ताछे वह मनु को झिड़क देते हैं।

मनु बहुत बार सह कर भी अपना आपा खो बैठता है...घर की मान-मर्यादा के विपरीत चाचा को जवाब देने लगता है...

भाभी कभी सुन लें तो बेटे पर सवार हो जाती हैं, इतना सुनाती हैं कि वह पानी से भी पतला हो जाय...कभी ऊंची आवाज में आत्म-भर्त्सना भी करती हैं, कभी देवर को ऊंच-नीच सुना कर अपने कोप-कुटीर में बैठी टेसुए गिराती हुई अपनी अस्वस्थता को भिगो-भिगो कर और भी भारी बना लेती हैं...छोटी-छोटी बातों का सिरा पकड़ कर पूरा का पूरा अतीत खुलने लगता है...

मां कभी चुपचाप सुनती रहती हैं, कभी उपदेशों और भर्त्सनाओं का सिलसिला शुरू कर देती हैं और घण्टों बाद पटाक्षेप स्वरूप कहती हैं :

'मैं तो तुम लोगों की बातें देख-सुन कर ही हलकान हुई जाती हूं, पता नहीं कैसे-कौन निभाएगा...'

महफिल की शोभा बढ़ाने में बाल फटकारती मंझली भाभी भी पीछे नहीं रहतीं। अपने बालों को झटका देते हुए वहीं आ पहुंचती हैं जैसे पका हुआ आम आवाज करता हुआ नीचे आकर गिर पड़े।

जुबान से तेज़ उनके कान हैं और घ्राणशक्ति का तो कोई जवाब भी नही...

जहा कहीं कोई विवाद या किसी प्रकार की चर्चा शुरू हो तो वह टपक जरूर पडती हैं...

जेठ जी अगर बम भोल शंकर की तरह न होते तो उन्हें तरजीह कौन देता।

मझली भाभी के पास वैसे किसी के लिए समय नहीं होता लेकिन अगर कहीं गप्प शुरू हो जाय वहां आकर चौकड़ी मार बैठ जाती हैं...उनके बेटे और मनु का मुकावला हो रहा हो तो सत्रह इमर्जेंसी पार कर जाती हैं। उन्हें इतना ध्यान भी नहीं रहता कि बड़ों के संदेश बच्चों द्वारा नहीं भेजा जाना चाहिए।

कहती हैं :

'अब इतनी राजशाही तो है नही कि तुम मेरे बेटे के खिलौने तोड़ते फिरो ...अब तुम इतने छोटे भी नहीं हो कि बराबरी के होकर इस तरह मार-पीट करो, इतने बुद्धिमान भी नही हो कि सौ बार झूठ बोलकर उसे सच का रूप दे दो...'

क्रोध से उनका चेहरा लाल और व्यंग्य से विकृत दिखाई पड़ने लगता है।

एक बार शुरू हो जायं तो उन्हें रुकना आता ही नहीं...

'रोज-रोज की खींचातानी से तो अच्छा है ऐसी जगह जाकर रहा जाय जहां एक-दूसरे को कोई नजर ही न आय।' अपनी बड़ी-बडी आंखें चारों ओर घुमाती हुई वह अपने बेटे की पीठ पर हाथ फेरती उसे उठाने की कोशिश करती हैं और वह कमबख्त डटा बैठा रहता है, कभी अपनी मां को चिढ़ाने की गरज से 'भैया-भैया' कहता हुआ मनु से लिपटने भी लगता है...

मझले भाई और उनकी धर्मपत्नी सपूत की करामात देख सिर झुका कर दूसरी ओर चले जाते हैं।

मेरी मां के लिए हर ओर से एक नाटकीय स्थिति बनती जा रही है। तनाव निरंतर बढ़ रहे हैं। देखना यह है कि इस स्थिति में कब तक सबके जीवन-सूत्रों को पकड़ कर वह कठपुतली की तरह उन्हें चला पाएंगी...

मेरी समझ में नही आता मा इस चकल्लस मे पडी रहना क्यों चाहती हैं ?

क्यों नहीं सबके चौके-चूल्हे अलग-अलग करके अपने-आपको इस असफल चौधराहट से मुक्त कर लेती, आपसी युद्ध के भड़कते हुए अगारो को अपने दामन से बुझा देती...

दो राष्ट्रों के बीच होने वाले महायुद्धो से भी गृहयुद्ध अधिक भयकर होता है क्या मेरी मा नही जानती ?

कौरव-पाण्डव के बीच हुए सर्वनाशी युद्ध को हमारी पीढी ऐसे याद करती है जैसे वह कल की बात हो

आम धारणा यही है कि कृष्ण चाहे न हो या कम हो पर आज के युग मे शकुनि, धृतराष्ट्र और मथराए हर घर मे मिल जाती हैं यानी रामायण-महाभारत दोना जीवत है हर परिवार के अदर

मा को तो ऐसे लोग कुछ ज्यादा ही मिलते थे। कोई न कोई किसी न किसी के खिलाफ उन्हे भडकाता ही रहता था।

मा यह बात मानेगी नही लेकिन वह दूसरो की आख से देखने और पराए कानो से सुनने की आदी हो गई हैं।

नतीजा यह निकलता है कि उन्हे कई प्रकार की उक्तियो से, यथार्थ से दूर ही रखा जाता है लेकिन हमारी श्रीवृद्धि की फिक्र मा को कम नही रही, न ही हमारी शर्तो पर कोई उन्हे बहका पाया।

इसका दायित्व मा की होशियारी पर नही, हमारे प्रति उनके प्यार की शिद्दत पर है। इतना ही नही, अभावो को झेलते हुए भी हमारे प्रति मा की निष्ठा मे कभी कमी नही आई।

सबके कहने समझाने के बावजूद मैंने पढाई छोड दी थी.

न छोडता तो क्या करता ? मैं अपने मन को अक्षरो मे बाट नही सकता था .

मेरा अतर अस्थिर हो चुका था। अपने अहेरी स्वभाव को मैं कोई रूप नही दे सकता था..

अजीब दौर था वह भी। न जाने कितने कुवारे नाम तूफान की तरह मेरे उठते हुए पौरुष को घेरे हुए थे..

एकात मे जब कभी मेरी आत्मा से मेरा साक्षात्कार होता तो अनेक जानी-अनजानी आवाजे मेरे श्रुतिपटो को फोड़कर अदर प्रवेश करना चाहती...

करवटें बदलते-बदलते ही मैं बिस्तर से उठ बैठता। उड़ कर किसी गुफ़ा में प्रवेश कर जाने को जी चाहता...

लेकिन तभी कई चेहरों का सौंदर्य मुझे बहेलियों की तरह फंसा लेता...

मैं लम्बे अरसे तक सोचता रहा—क्या काम ही मेरी अस्थिरता का कारण है ?

कई जाति-धर्म की लड़कियों से गुजरते हुए मैं उन दिनों डेज़ी पर आकर ठहर गया था...

डेज़ी का जन्म बेशक एक पारसी परिवार में हुआ है पर अपने व्यवहार में वह किसी सीता-सावित्री से कम नहीं। कभी-कभी गांधारी भी बनने लगती है...

उसकी हंसी एक लम्बे अरसे तक मेरे अंतरतम को आलोकित करती रही थी।

डेज़ी रूपवती नहीं थी किंतु उसका लावण्य, उसकी सहज भंगिमा मुझे शेली की साक्षात कविता लगती। मुझे लगता वह सिर्फ मेरी हो सकती है...

लेकिन बहन की तरह परिवार में अपने जीवनसाथी को लेकर मैं कोई तूफ़ान खड़ा करना नहीं चाहता था, इसलिए मैंने उसे मधु के कलेवर के भीतरी भाग में उतार लिया है।

कल्पना के 'सत्य' को जीवंत करना कठिन तो है पर असंभव नहीं।

और मुझे संतोष है कि मेरे इस स्थापना की भनक मेरे घर-परिवार में किसी को भी नहीं पडी।

डेज़ी एक साधारण घर की मामूली-सी लड़की थी। मां को उसके बारे में बताने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। भाभी को जरूर एक बार मिलवाया था लेकिन विवाह की चर्चा करने की हिम्मत वहा भी नहीं जुटा पाया...

कभी उससे बात हुई जिंदगी मे स्थापित होने पर तो मां की आड़ लेकर बचता रहा...

डेज़ी गरीब थी। उसके पिता मर चुके थे। मा गठिया-वात की मरीज़ थीं...कभी उसने मुझसे ज़िद नहीं की थी किसी बात के लिए। शायद वह शांति और धैर्य से मेरी स्वीकृति की प्रतीक्षा ही करती रही।

उसके मन में मेरे लिए श्रद्धा थी।

उसकी कौतूहली आंखों में खिंची प्रकाश की लकीरें सलज्ज सिर झुकाए मेरे सामने खड़ी रहतीं कि मैं कभी उसे कोई आदेश दूं। उससे कुछ करने को कहूं...

अपने व्यक्तित्व की सभी प्रशाखाओं पर उसने मेरा नाम अभिव्यंजित करवा रखा था...

पर मेरे सामने आकर व्यवधान वह कभी नहीं बनी।

मधु से विवाह कर परिस्थितियों के आयाम अगर रुचिकर न हो गए होते तो क्या इतने हल्के मन से यह कथा-बोध मैं अपने-आपको भी सुना सकता था...

मधुरूपी अमृत पीकर आज मैं हुमस उठा हूं।

मधु की दृष्टि मानता हूं उतनी उदार नहीं लेकिन मेरे वर्तमान को उसने एक अनिर्वचनीय बोध, आनंद, उत्साह से भर दिया है...मैं एक ख़ास तरह की पूर्णतया अपने अंदर अनुभव करता हूं लेकिन फिर भी डेज़ी की याद में कभी-कभी दिमाग़ की नसें फटने लगती हैं और मैं एकांत तलाश कर हिचकियां भर-भर कर रोता हूं। रात के स्वर में मेरे स्वर एकाकार हो जाते हैं...

डेज़ी अपने प्रेम के बदले मुझसे कुछ नहीं चाहती थी। उसने कभी मुझ पर संदेह भी नहीं किया। दर्शन के तत्त्वों की तरह वह मेरे सोचों में विलीन हो गई है।

मुझे उससे कहना भी नहीं पड़ा कि मैं तुमसे शादी नहीं कर पाऊंगा। उसने अपने आप मेरी द्विविधा को आंक, मेरी कमजोरी को महसूस कर मुझे सभी बधनों से मुक्त कर दिया...

निष्फल प्रेम की सभी सवेदनाओं का अंधकार खुद झेल कर उसने मुझे उजाले पथ पर फेंक दिया।

पर क्या आज भी मैं किसी उजाले मे हूं ?

मुझसे छुटकारा पाने का नाटक करते हुए उसने मुझसे पहले ही अपना विवाह कर लिया...

मैंने बड़े गर्व से अपने मन को समझाया—'मैंने उसे धोखा थोडे ही दिया है...'

लेकिन क्या अपराध-बोधो से छुटकारा पा लेना इतना आसान होता है ?

मेरी अस्थिरता के अनलिखे शब्दो की पीठ को तीर की तरह बेधते हुए ये अपराध-बोध मुझे भीष्म पितामह की शरशय्या के आसपास ले जाकर एक नए भाव का एहसास कराते रहते हैं, मुझे एक नए रूप में ढालते रहते हैं।

मेरे बड़े भाई केशव को जन्म से ही लड़कियों में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

युवा होने पर भी नारी देह के भूगोल से अनभिज्ञ ही रहे। न कालेज में, न समाज में, कभी किसी लड़की पर उन्होंने आंख चिपकाई हो ऐसा कोई दृष्टांत मुझे नहीं मालूम।

शुरू-शुरू में मुझे लगा कि मां-पिताजी के डर से ही यौवन राज्य में खिले

हुए पुष्पों की मधु गंध से वह दूर भागते हैं।

लेकिन बात भय की ही नहीं थी, वरना मधुशाला की ओर वह अपने पैर कभी न बढ़ाते। मां की आंखों में तो यह एक जघन्य पाप था।

मां कहती हैं दारू आदमी को 'हीन बल' बना देती है, उसकी सोचने की क्षमता समाप्त कर देती है, वह मानवता से हट कर हिंसक पशु बन जाता है।

ठोस भाषणों के कितने क़तरे हमारे कानों में प्रविष्ट हो चुके थे, शायद इसीलिए मंझले भैया और मैंने भी अपने पीने की भनक उनके कानों तक नहीं पहुंचने दी। अगर उन्हें पता चल जाता तो मां न जाने कैसा अनिष्ट कर बैठतीं।

मनुष्य का अपने ऊपर ही वश होता है और जोर भी...

मेरा मंझला भाई पियक्कड़ कभी नहीं बना पर पीता हमेशा रहा। अपने आपको बचाए रखने के लिए उसने बहुत श्रम किए।

कभी किसी पार्टी मे थोड़ी पी ली तो घर लौट कर सीधा अपने कमरे में चला गया।

मां को लगा लड़का काम करके थक गया है...जाकर कमरे में दूर से झांक आतीं कि उसकी नींद न टूटे। यह कल्पना तो वह कर ही नहीं सकती थी कि उनका लाड़ला दारू भी पी सकता है।

मंझले पर मां का प्यार उसी तरह था जैसे फूल का सूर्य से होता है या आग का घी से।

उसके बारे में कोई कुछ कहता तो खुल कर प्रतिवाद करतीं...उसका प्यार मां का छिपा हुआ सत्य था।

बचपन से ही मेरे अदर यह पुकार मची थी, जब भी मौक़ा मिलता दुगनी हांकर बाहर निकलती।

मन की अलगनी पर तौलिए की तरह टिके हुए इस भेद को मैं आज तक खींच कर बाहर नहीं क़र पाया हूं।

इस सृष्टि में आगमन के साथ ही यह द्वेष का भाव मेरे साथ ही पैदा हुआ होगा और पला-बढ़ा भी।

अच्छा होता मैं फटी हुई बनियाइन की तरह उसे देह से उतार फेंकता।

अपने भीतर की ऊष्मा-उमस की कुलबुलाहट मैं हमेशा से अनुभव करता रहा हूं क्योकि मेरे जीवन में आज तक जो कुछ भी घटित हुआ उसी का परिणाम है।

मां का व्यवहार-भेद-ईर्ष्या बन कर मेरे मन की गहराइयों में कहीं बैठ गया है और उसी से मेरा बाहरी जीवन भी अनुशासित होता रहा है।

अपनी बीमारियों का केंद्र भी मैं उसी को मानता हूं। ऊपर से बरस कर मेघ कितनी भी झड़ी लगा दे किंतु मैं निरंतर उसी भेदभाव की ज्वाला से जलता चला आया हूं।

मेरा गिरना या उठना, मेरी भावनाओं की उलट-फेर, दृष्टि निक्षेप के दायरे और आयाम उसी एक नन्हे से बिंदु से जुड़े हुए हैं।

मधु ने आकर उसी तीक्ष्ण जलन पर मरहम लगाया है। वह चिढ़ कर भी मेरी भर्त्सना कभी नहीं करती।

वह मां को भी प्यार करती है, मैं यह बात जानता हूं लेकिन मेरे सामने यह भी स्पष्ट है कि उसके और मां के बीच हमेशा भाभी चीन की दीवार बन कर हमेशा खड़ी रहती हैं।

और मां ?

भाभी की प्रशंसा के पुल के नीचे अपनी शेष दो बहुओं को ही नहीं, अपनी बेटियों को भी दबा देती हैं, पूरी ताक़त से।

चार लोग इकट्ठे हुए नहीं कि मां का रिकार्ड चालू हो जाता है :

'मेरी बड़ी बहू क्या...साक्षात लक्ष्मी का स्वरूप है। घर की चौखट पर पैर रखते ही उसने घर को विरल खुशियों से भर दिया...हमारी सारी आपदाएं उसने अपने ऊपर ओढ़ ली हैं...

'अन्नपूर्णा बनकर, इस घर मे आने वाले सभी लोगों को उसने संतुष्ट किया है, घर से कभी किसी को खाली हाथ नहीं लौटाया...

'अपनी उदार सेवावृत्ति से वह इस घर की 'जोन आफ़ आर्क' बन गई है...

'इस मंगलकरणी के आने से मैं धन्य हो गई हूं। इसके शील ने इसके रूप को चार चांद लगा दिए हैं।

'मिलने वाले कहते हैं, किस अप्सरा को बहू बनाकर लाई हो...उस दिन रामायणी पण्डित कह रहे थे— मालकिन, आपके घर में मेनका का अवतार हुआ है बड़ी बहू के रूप में...बहू पर नजर न लगे इसलिए तो अम्मा थुथकारने लगी और उनके जाते ही उसने बहू की नज़र उतारी थी।...'

इस तरह के प्रलाप सुन-सुन कर आप ही बताइए, किसका मन नही ऐंठेगा।

इन शब्दों की तीक्ष्णता किसी के मन को भी अपने स्पर्श से दाग सकती है, मुझे विश्वास है...

उस दिन मुंह खोल कर मैंने मां को आवाज दी और साथ ही यह महसूस किया कि मेरी आवाज की तीक्ष्णता ने उन्हें चौंका दिया है।

उन्होंने मुड़ कर देखा, आवाज की दूरी को पहचाना और बादलों के पंखों पर उड़ती हुई मां चौंक कर कर नीचे उतर आईं। उन्हें संगमरमरी फर्श पर सत्य को आत्मसात करना था...

ऐसे देखा जैसे पूछ रही हों, 'क्या बात है ?'

'दीवानखाने में छोटी बहू के माता-पिता बैठे हैं, आपसे मिलना चाहते हैं ! कल उन्हें विदेश लौट जाना है।'

'तो...मैं क्या करूं...' निःश्वास में शब्द खो गए।

मां को व्यावहारिक दुनिया में लौटने के लिए समय चाहिए था क्योंकि उनका अधिकांश समय अपने मनोराज्य में ही बीता करता था।

'कौन आया है ?' चेतना सम्पूर्ण होने पर उन्होंने पूछा।

'मधु के मां-वाप !' मैंने आंखें झुका कर बेपरवाही से जुमला थूक दिया। यह मैंने उनकी निस्तब्धता को तोड़ने के लिए ही किया था। मेरे मन में उनके प्रति उपेक्षा या अनादर का भाव नहीं था।

मां चकित होकर मेरी ओर देखने लगीं। फिर फुसफुसाईं :

'जब बहू ही मुझसे कोई प्रयोजन नहीं रखती तो मैं उसके माता-पिता से क्यों मिलूं।' मां की यह ज़िद मुझे बच्चों जैसी लगी।

'आपके दूसरे समधी होते तो आप आग की तरह लपक कर उनके पास पहुंच जाती, पर क्योंकि इनकी गिनती पैसे वालों में नहीं आती इसलिए आप इनसे व्यवहार भी नहीं रखना चाहतीं।' मेरे मुंह से पता नहीं कैसे निकल गया।

'इस तरह की बात कह कर तुम मेरा सरासर अपमान कर रहे हो...मेरे मन में गरीबी-अमीरी का कोई भेद नहीं है।' मां के ऊपर प्रलाप का भूत फिर सवार हो गया, 'इस तरह की बातें कह कर तुम मुझे नीचा दिखाते हो। नाते-रिश्तेदारों को मैंने हमेशा समान भाव से देखा है...तुम्हारे सास-ससुर ने झूठ बोल कर एक महा आजाद ख्याल लड़की मेरे मत्थे मढ़ दी है...यह मनस्वी मेरे घर के लायक नहीं थी...मैं तुम्हें या उसे तो कुछ नहीं कहती...तुम मिल रहे हो, तुम्हीं मिलो उनसे। वे ले जाना चाहते हों तो तुम भी उनके साथ विदेश जा सकते हो...'

मां पूरी तरह उत्तेजित हो गई थीं। उनकी दृष्टि निसर्ग पर केंद्रित हो गई थी। विचारों की पर्त-दर-पर्त उन पर जमती दिखाई पड़ी...

मैं समझ गया वह मधु के माता-पिता से मिलने नहीं जाएंगी।

मेरी मां सास वन गईं, एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन बहुओं की सास; फिर भी उनके मन में शांति की जगह एक अशांत आग भड़कती चली गई थी।

पति चले गए...

बेटे इतने योग्य नहीं निकले कि उनकी जलती हुई छाती और उलझे हुए दिमाग को चंद्रमा की किरणें बन कर ठण्डक पहुंचाते...

दो बेटियां बिनब्याही पड़ी हैं।

भगवान की कितनी पूजा, कितने अनुष्ठान वह करवा चुकी हैं...सब व्यर्थ लेकिन आशा आज भी छूटी नहीं।

अपने जीवन के एकाकीपन को समेट, पत्थर-सा चेहरा बनाए, मौत की उदासी लिए वह बहुओं के आचरण में मीनमेख निकालना ही अपना सद्व्यवहार समझने लगी हैं।

पुस्तक के पन्नों में उलझी उनकी चश्मा चढ़ी आंखों से ममता कभी नहीं बरसी। बहू-बेटियां पर जब भी उनकी नज़र टिकी है उन्हें किसी व्यर्थता का एहसास ही हुआ है।

कभी-कभी वह दयनीय लगती हैं लेकिन मैं उनकी कोई मदद चाहूं भी तो नहीं कर सकता।

उनके विश्वास की शीतल छांव तो मुझे कभी नहीं मिली।

पहले दूरियां बाहर की थीं, पर अब लगता है भीतरी दूरियां भी उन्हे अंदर ही अंदर तोड़ती जा रही हैं।

अपने ही अंतर्विरोधों के उलझाव ने उनके सारे सत्यों और तथ्यों को घृणित बदसूरती में रूपांतरित कर दिया है। मै जानता हू मां अपने इस नर्क से कभी उबर नही पाएंगी।

मां की आज्ञाओं का उल्लंघन कर कभी उनका दिल दुखाना मैंने नहीं चाहा ...लेकिन मैं भी इस घर का लड़का हूं, इस नाते मेरे भी कुछ अधिकार है, ऐसा मा ने कब सोचा ?

किसी मसले को हल करने वाली बैठकों में मेरी कभी पूछ नहीं हुई, मुझे बुलाया नहीं गया।

वह सारा दायित्व मेरे मंझले भाई निभाते रहे और मुझ पर दोषारोपण हुआ—

'मैं किसी काम में रुचि नहीं लेता...कि मैं हर बात पर अपनी मनमानी करना चाहता हूं...'

मधु को पसंद मेरी मां ने ही किया और जब मैंने अपनी स्वीकृति दे दी तो मुझे बेशर्म कहा गया, क्योंकि बात पक्की होने के बाद मैं उसे लेकर बाहर जाने लगा, मुझे वह अच्छी लगने लगी और शायद मुझे उससे प्रेम भी हो गया। मैने उसे अपनी पहचान दे दी थी। अपनी अच्छाइयों की सारी प्रतिच्छायाएं मैने उसके आंचल में उड़ेल दी थी।

मेरे पास कुछ नहीं था, फिर भी वह मुझसे खुश थी।

मेरे लिए इस उम्र में आकर यही सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

मेरा भयाक्रांत मन उसे पाकर ढहते-ढहते थम गया था और इसके लिए मैं नियंता का शुक्रगुजार हूं।

मुझे लगता है मधु के भीतर मानवीय संवेदनाओं को छूने वाला कोई यंत्र है

जो सामने वाले की पारदर्शिता के आवरण की गहराई में झांकता है। इससे उसके अंतर का सौंदर्य और करुणा एक साथ उभर कर सतह पर आ जाते हैं।

धन-दौलत, हीरे-जवाहरातो की बातें मधु की समझ में नहीं आतीं।

वह कहती है :

'जिसे जो चाहिए ले लेने दीजिए। जमीन-जायदाद का हमें करना क्या है। हमारा हिस्सा कुटुम्ब के प्यार में होना चाहिए।'

मैं स्तब्ध उसकी ओर देखता रह जाता हूं।

बहुत देर बाद मैं उसे समझाता हूं :

'मधु डियर, हमारे परिवार में प्यार जताने का तरीका किसी को नहीं आता।'

'प्यार देखने की नहीं, महसूस करने की चीज है और जिसके हिस्से में है वह महसूस भी करता है...'

'पता नहीं क्या कह रही हो तुम,' मैं जानबूझ कर अनजान बनता, 'तुम्हारी बाते मेरी समझ में नहीं आतीं।'

'क्यों...' उसकी आवाज सामान्य से ऊंची हो जाती, 'जो लोग अपना गुस्सा और उदासीनता जता सकते हैं उनके चेहरे पर कभी ममता भी तो छलक सकती है।' उसका इशारा मां की तरफ होता।

मैं चुप रह जाता।

मन ही मन तजवीज करता, मधु की बौद्धिकता को मेरी मां किस सीमा तक ढकेल सकती हैं...

मां को मैं जिस भाव से देखता हूं सारी दूरियों के बावजूद, जानता हूं मधु नहीं देख सकती।

मेरा मन भीग जाता है। अपनी धरणी का एक अज्ञात आकर्षण कभी-कभी मुझे खीचता भी है। लेकिन मैं इतना मुक्त नहीं हो पाता कि कुछ बोल सकूं।

मेरे जीवन के सारे तत्त्व शायद अंदर के अंधकार में विलीन हो गए हैं...

कैसी घुटन महससू करता हूं कभी-कभी, कि लगता है सारे परिवेश बदल जाएं और मैं भी कहीं अज्ञात हो जाऊं।

अपने आपको भीतर खींच कर मैं आश्वस्त होना चाहता हूं। बाहर से कट कर कोई कब तक रह सकता है ?

कब तक ?

मधु ने आते ही अपने कमरों के खिड़की-दरवाजे बंद कर दिए थे।

मैं उसकी व्यवस्था मे कोई दखल देने से डरता हूं। और अब तो मुझे उसी तरह रहने की आदत सी पड़ गई है।

हवा के ठण्डे झोंके मुझे सहलाते नहीं, भय की सिहरन पैदा करते हैं कि बाहर का कोई दृश्य मुझे अटका न दे, अपने भीतर उलझा न ले।

बुझी हुई सिगरेट को पुनः सुलगा कर मैं अपने कमरे में सुरक्षित अनुभव करता हूं।

मधु का इंतजार करता हूं कि वह कमरे में आती होगी। उसके बिना अब मेरा चल भी तो नहीं सकता।

वह मेरे लिए एक अतीन्द्रिय अनुभूति बन गई थी, जो प्रतिपल नए आनन्दातिरेक और उत्साह के नए रंगों में मुझे डुबोए रखती है।

समाज, घर के अन्य लोग एक भूली हुई कहानी की तरह मुझसे बहुत पीछे छूट गए है। पहले भी किसी अस्तित्व को मैंने स्वीकार नहीं किया था इसलिए उनसे टूटना मुझे पीड़ादायक भी नहीं लगा।

मधु हिंदुस्तान में पैदा हुई, इंग्लिस्तान मे पली-बढ़ी, शिक्षित हुई और अब वापस अपने जन्मस्थान पर आ गई थी।

सोचता हूं कच्ची नींद के सपनो की तरह जीवन के उसके सभी ख्याल लुढ़क गए होंगे। उसकी मनःस्थितियां कितने ऊहापोहों से गुजरी होंगी। अपने सभी निर्धारित मूल्यों का उसने अवमूल्यन किया होगा।

घर के हालात समझने के बाद उसकी आंखे विस्मयाधिबोधक चिन्ह बन गई होंगी।

फिर भी मुझे तसल्ली है कि उसके चुम्बकीय आकर्षण मे बंध कर भी कभी मैंने उससे झूठ नहीं बोला।

मैं कुछ काम नहीं करता यह दिन के उजाले की तरह स्पष्ट था।

इस विषय में उसने कभी मुझसे कुछ कहा भी नही। लेकिन घर की बाहरी अमीरी और भीतर की घोर गरीबी उसके लिए अकल्पनीय जरूर रहे होंगे।

मेरे अजाने ही मधु ने मंझली भाभी की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया था।

उसकी भाषा मधु के अधिक नजदीक थी।

लेकिन उसकी बातचीत का विषय मधु से दूर था। गहने-कपड़े, शाले-दुशाले मधु को बांध नहीं सकते थे।

मधु के लिए ये बातें एक दिलचस्प जानकारी थी।

वह कहती :

'उनकी दुनिया इस चकाचौंध में सिमट कर और छोटी हो गई है। मेरी दिलचस्पी मंझली भाभी के दोनों बच्चों में है...'

फिर उन बच्चों का कौतुक वह चुने हुए शब्दों में ऐसे बयान करती कि

कभी-कभी मैं भी मुग्ध होकर सुनता रह जाता।

बरामदे में बैठी मधु हैरत से उनकी बातें सुनती, उनकी ओर देखती, हवा उसके आंचल को उड़ाती रहती। जिस तरह उजले-खुले आसमान में पक्षियो के झुण्ड उड़ते रहते हैं उसी तरह उसके अंतर्मन में उसकी सोच के पक्षी कतारबद्ध होने लगते।

मैं उसकी सोचों का सामना करना नहीं चाहता था, पर, उन्हें समझ-समझ कर उसके बोले हुए शब्दों को अपनी मशाल बना नई दिशाओं के नए क्षितिजों की खोज में मैं कदम उठाना शुरू कर चुका था।

कभी-कभी मैं उसे चाट-पकौड़े खिलाने ले जाता। जाने से पहले अक्सर वह मां को बता दिया करती थी।

मा के भाव शून्य चेहरे पर 'हां-ना' का भाव उभरे इससे पहले वह अपना चेहरा किसी कडवाहट से भर कर कस लिया करती थीं।

देह के आवरण में दबा उनका हृदय भीतर के तूफानों के गर्जन-तर्जन से भर उठता।

अपनी छोटी-छोटी टांगों से लम्बे क़दम बढ़ा कर वह मेरे और उसके बीच के फासले को तेज़ी से घटाते हुए कभी-कभी साथ हो लेतीं। फाटक तक आतीं।

मै पीछे मुड़ कर कभी देख लेता और फाटक से बाहर आकर हम खिलखिला कर हंस पड़ते। सारी चिंताएं हमसे पीछे छूट जातीं। हमारे बीच तब तीसरा कोई न होता।

इसके बाद हम जा बैठते किसी छोटे-से ढाबे वाले ऊबड़-खाबड़ स्थान पर।

मधु को ग्रामीण जीवन, इन देसी दुकानों-ढाबो में पांचसितारा होटलों से अधिक आकर्षण दिखाई पड़ता। ये ही उसके लिए भारतीय परम्परा के नमूने थे।

उसके सिर पर सूर्य तपता रहता। माथे पर चुन्नी लपेटे वह किसी स्टूल-बेंच पर जा बैठती। पसीना पेशानी से उतर कर उसके गालों पर बहता रहता...

हम एक-दूसरे से प्रेम करने लगे थे, फिर भी मेरे मन में कोई अज्ञात समस्या एक दर्दनाक खलबली बन कर मेरा मन मसोसती रहती।

मुझे पता नहीं मधु उसे कितना जानती है, पर उसने कभी मुझसे कोई सवाल नहीं किया। मैं भी 'आ, बैल मुझे मार' की स्थिति मे पहुंचना नहीं चाहता।

मेरा क्या होगा, मैं नहीं जानता। लेकिन मधु की चौकसी पर मुझे विश्वास है। भविष्य में आने वाली किसी भी परिस्थिति को वह संभाल लेगी, और उसका दामन थाम कर मैं भी सुरक्षित बच जाऊंगा...

आत्मस्वीकृति के रूप में मुझे सिर्फ एक बात कहनी है। भाभी के प्रति मैंने अविश्वास किया है। उनका मुझ पर अटूट विश्वास हो गया था जो शायद मैंने तोड़ा है।

लेकिन जान-बूझ कर मैंने ऐसा नहीं किया। शायद मुझे शादी नहीं करनी थी। लेकिन वह भी तो मेरे हाथ में नहीं था।

होनहार को आज तक कोई रोक सका है ?

मेरे इस नए जीवन को अतीत की धुंधली छाया हमेशा ढके रहती है। मैं जानता हूं इस पर मेरा भी कोई वश नहीं। बढ़ते हुए घुंघरू बंधे जिंदगी के पैरों को मैं रोक नहीं सकता।

मैंने जान-बूझकर किसी को भी हानि नही पहुंचाई। बल्कि अपनी ही आस्थाओ को कलुषित किया है।

मै क्या प्राप्त करना चाहता था, नही जानता।

शायद मै निर्बल था। सहारे के लिए मुझे किसी ठोस दीवार की जरूरत थी। पानी की दीवार मुझे संभाल नही सकती थी।

मुझे चेतना की जरूरत थी, मुझे ज्ञान का प्रकाश चाहिए था, जो मुझे मधु से ही मिलना था।

मानवीय सभी दोष मुझमें हैं। क्योंकि मै मानव हू।

मेरा मन आज भी अतीत में भटकता है, पूरी तरह वर्तमान में रहने नही देता।

लगता है भविष्य मेरे लिए बना ही नहीं।

भाभी के उद्दात्त चरित्र की कुछ टेढ़ी-मेढी रेखाए और भाभी को लेकर उसका असगत तीखा मन...

मै अपने आपको इनसे कैसे मुक्त करू ?

मै फिर पूरी तरह अतीत में डूबने लगता हूं। पता नहीं मधु मुझे यहां से कभी उबार पाएगी या नहीं...

मां ने अचानक मुझसे बोलना फिर बद कर दिया है।

अपनी अभेद्य दुनिया में वह जी रही हैं। टूटी हुई प्रत्यंचा की तरह असहाय मैं उनकी छाया की परिधि में बार-बार चक्कर काटने लगता हूं।

मन करता है अपना शत्रु बन कर मैं अपना ही वध कर डालूं।

मेरा अपना ही अंतर्मन मुझ पर आक्रमण करता रहता है।

मैंने ऐसा क्या कर दिया...कौन-सा अपराध हो गया मुझसे कि सभी मुझसे बेज़ार हैं।

अपने अंदर एक भयंकर कसाव मैं महसूस करता हूं। मेरी वाणी छटपटाती है। मैं लस्तपस्त हो गया हूं।

मेरे पिता किसी सम्राट् की मानिंद थे।

जीवन मे उन्होने जो कुछ किया उससे हर जगह व्याप्त हो गए।

उनकी सम्पत्ति अमावस्या के अंधकार की तरह बढ़ती चली गई।

उनकी शक्ति से लोग थर्राया करते थे। सुनता आया हू कि ज्ञान की गरिमा से वह ओतप्रोत थे। ऋपि मुनियों को दीक्षा देने की क्षमता उनमें थी।

वह एक सघन वट-वृक्ष थे जिसकी छाया मे अनेक लोगों को शांति-विश्रांति मिल चुकी थी। ऐसे घर में पारिवारिक आत्मीयता की अनुभूति मुझे कभी नही मिल पाई।

मेरे पिता को हमारा ध्यान कभी आया हो, ऐसा एक प्रमाण भी मुझे कभी नहीं मिला। पर उनके संरक्षण मे हम सुखी और निश्चिंत थे।

उनका स्वास्थ्य कभी बलिष्ठ नहीं रहा। सदैव मैंने उन्हें फलाहार करते ही देखा था...

भौतिक सम्पदा कलह का कारण बनती है, लोग कहते हैं। पिता भी यही कहते थे, लेकिन सम्पत्ति उन्होने भी बेशुमार जोड़ी...इतनी कि आज हम सब निकम्मे हो गए है।

और आखिरी दिनो मे मेरे पिता स्वयं लोक से अधिक परलोक की चिता में व्यस्त हो गए थे।

आसन लगा कर गंगा तट पर बैठते तो लगता कोई तपस्वी अनत काल से उसी तरह बैठा आ रहा हो।

पिता की अधिकाश बातें मेरे अपने अनुभव की नही, सुनी-सुनाई है। और उन्हीं बातों के आधार पर मैं कह सकता हू कि मां मे उनकी आसक्ति नहीं रही होगी।

मेरी मां अपने व्यक्तित्व और परिवेश को संवारने मे ही लगी रही होंगी।

कभी-कभी मां हंसती दिखाई पड़ती हैं लेकिन उनकी हंसी में एक तीखी उद्विग्नता होती है। वही उनके स्वभाव का आभूषण बन गई है।

मेरे पिता पूर्णतः निर्लिप्त और मां पूरी तरह लिप्त। स्वभाव के इसी मौलिक अतर ने उन्हे एक-दूसरे से अलग रखा और यही मिश्रण हमारी रगो मे भी प्रवाहित हुआ।

ऊपर-ऊपर से मां निर्लिप्त दिखाई पड़ने की कोशिश करती हैं लेकिन उनके सामने जब उनका मंझला बेटा आ जाता है तब उनका मुखौटा टिक नहीं पाता।

मैं उनसे पूछना चाहता हूं :

'मां, तुम अनवरत उसी की चर्चा में लगी रहती हो, उसी का यशोगान तुम्हें भाता है। हमारी पीडाएं क्या तुमने नहीं सही हैं...हम क्या तुम्हारे जाए नहीं हैं...'

लेकिन यह बात मैं उनसे पूछ नहीं सकता।

मेरा अहं आदि से अंत तक अक्खड़ हो चुका है।

मधु मुझे कितना संभाल पाएगी नहीं जानता। अब शायद मुझे उसकी परवाह भी नहीं।

जिस बालक के मर्म से उसकी मां ही उदासीन रह जाए उसकी पीड़ाओं की कल्पना कौन कर सकता है।

मां की कृत्रिम पीड़ाओं की अनुकृतियां मैं इतनी बार देख चुका हूं कि अब उसे और देखना नहीं चाहता।

ऐसे में मेरी मां को कुछ हो भी जाय या वह हमेशा के लिए कहीं चली जायं जिसकी धमकी वह अक्सर देती रहती हैं तो मैं दावे से कह सकता हूं कि मुझे कुछ नहीं होगा।

मेरा मन कभी फूट-फूट कर रोने को करता है। लेकिन जितनी पीड़ा मैं मधु को दे चुका हूं उससे अधिक दे नहीं सकता। अतः मेरे मनोभावों के निकलने का यह मार्ग भी बंद है।

ऐसे में अनंत की कोई कृपा दृष्टि मुझे कभी छुएगी, नहीं जानता।

शायद जानना चाहता भी नहीं...

अर्पणा

मां चली गई हैं...

क्यो गईं मां, लोग पूछते है। मेरे पास उत्तर नहीं। लेकिन मैं जानती हू वह क्यों गई। अगर किसी को वजह बताऊं तो लोग हंसेंगे। मेरी बात का विश्वास भी उन्हें नही होगा...

आपकी बात और है इसीलिए मैं आपसे मुखातिब हूं।

मा गई हैं अपने-आपको पहचानने, अदृश्य के साथ आत्मिक संबंध स्थापित करने...

आज के संदर्भो में अतीत पर विचार करने..घर की युवा गहमागहमी से दूर...तारों की ठण्डी छांव मे...

स्थान है उत्तरकाशी का एक सुदूर हिस्सा ।

भाई, उन्हे पहुंचा कर कल ही लौटा है...

किसी भटकी हुई सुरभि की तरह मैं इस मा विहीन घर मे इधर-उधर निरुद्देश्य घूम रही हूं...एक कमरे से दूसरे कमरे मे फिर अंधेरे गलियारों से होते, बिना रोशनी की दालानों-बरामदों मे...

घर मे सन्नाटा बोल रहा है जो किसी को सुनाई नहीं पड़ता...

लोग सब चुप हैं...

एक से कतराता हुआ दूसरा बिना आंखे मिलाए ही आगे बढ़ जाता है।

मां के कमरे मे मैं अकेली बैठी हू...अंगारो की धीमी आच मेरा हृदय महसूस कर रहा है...

मां की गंध कमरे में चारों ओर व्याप्त है। लगता है अपने सोचो की पारम्परिक गंध सब जगह बिखेरती हुई मां चली गई हैं...

मेरी सुधियां पिघलती जा रही हैं...

इस समय यदि कोई अंदर कमरे में आ जाय तो मेरा भीतर उसी तरह बाहर आ जाएगा जैसे छोटी पतीली में उबलती हुई बेअंदाज दाल, आधन के उफान के साथ बाहर आने लगती है...

मेरा मन भर आया है...

मां ने मुझे कई बार टोका है कि मैं इस तरह छलक न पड़ा करूं...कि मैं इस स्वभाव के साथ कोई बड़ा काम कभी नहीं कर पाऊंगी...कि मेरी सारी योग्यताएं

इस छाया के नीचे दब कर द्विगुणित होने के बजाय भर जाएंगी, जैसे पौधे बिना धूप के जीवन छोड़ देते हैं...कि मेरा इस हद तक पारदर्शी होना ठीक नहीं...

लेकिन मैं क्या करूं ?

मेरा स्वभाव कभी संयत हो ही नहीं पाया।

मां की डायरियां कमरे में इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं जैसे उनके प्रति सारे मोह बंधन मां ने तोड़ दिए हैं...उन्हें लावारिस छोड़ कर चली गई हैं कि इनसे कभी उनका कोई रिश्ता ही नहीं था...

डायरी या उसमे अंकित तथ्य बड़े निजी माने जाते हैं...संकोच के बावजूद मैं उन्हें पढ़ रही हूं और खुद को समझा रही हूं कि मां के साथ क्या पर्दा, या अपने बच्चों से उसे क्या दुराव-छिपाव हो सकता है...उसकी समस्त गोपनीयताओं में हमीं लोग तो रचे-बसे हैं...एक-एक शब्द में हमारी ही गंध तो है...

कई ध्रुवो के बीच दब कर मां का व्यक्तित्व हमारी समस्याओं में ही तो निःसृत हो रहा था...

किसी के विवाह न होने की चिंता...

बातचीत चल के बीच में टूट जाने की दुखद स्तब्धता...

ऊंच-नीच के सामाजिक स्तरों की घटती दूरी...जात-परजात मे विवाह की जिद...

आर्थिक कठिनाइया...उभरती मुश्किले...

भाभियों के रूप मे आई सतरंगी छबियां...सबके अपने सवाल...अपनी आवृत्तियां...अपनी निराशाएं...

मिल-जुल कर ये ऐसी मुसीबत बन कर उनके सामने खड़ी हुई कि वह एकदम से घबरा गई...अपने आप को परदे के पीछे अधिक देर तक खड़ी नहीं रख पाई और जाकर कंटीले जंगल मे पनाह ले ली।

वहां जाकर क्या उनका मन अध्यात्म की एकलयता पर पहुँच कर सबसे चुक गया होगा ?

मातृत्व के अस्तित्व से उलझा बच्चो के साए, वर्षों से उनके साथ जिया दुख-सुख, स्मृति, विभ्रम, अनुभव...बचपन की चुहल-वात्सल्य और ममत्व क्या एकदम से चुक जाने की चीज है ?

मुट्ठियां भींच-भींच कर मन, देह को टटोल रहा है। मेरा मन व्यथित है मां के लिए, अपने लिए नहीं।

मैंने उनके उत्सर्ग को समझा था पर जिजीविषा ने मेरा गला दबोच दिया...

मैं मोहविष्ट क्षणों को उछालती-पटकती उनके एकाकी जीवन की यज्ञ-विधा पर ही खड़ी रह गई...

बेजुबान पीड़ा कांप रही है और बौनी पड़ी दिशाओं के अदृश्य पैरों पर बिखरने ही वाली है...

मेरी पसलियों और हृदय के संगमस्थल पर एक अपराध भाव आकर खड़ा हो गया है।

मां की दैनन्दिनी को मैं नई कोंपलों-सी हथेलियों पर उग आई अंगुलियो से उलट-पलट रही हूं...

उनके आड़े-तिरछे, कठिनाई से पढ़े जाने वाले हरफ़ो पर मेरी नजर ठहरती-फिसलती आगे बढ़ रही है...

मैं अपने आपको संभाले हुए हूं और कोशिश कर रही हूं कि यह संभाल बनी रहे और मेरे अंदर जो कुछ ऊब-डूब कर रहा है वह छलक कर बाहर न आए...

मां की लिखी हुई कुछ इबारतें मैं पढ़ रही थी, कुछ नही पढ़ पा रही थी, या शायद समझ नहीं पा रही थी...

दरअस्ल, वास्तविकता यह थी कि मां ने जो भी सत्य या तथ्य जिया और भोगा वह सामान्य नहीं, अति कटु था, रेतीला-सा ऊबड़-खावड़...

मैं समझती तो हूं पर उससे कोसो दूर रहना चाहती हूं, मैं अपने फैसलों के लिए किसी पर निर्भर नहीं कर सकती, न ही किसी को यह मौका देना पसंद करती हूं कि कोई मेरे लिए अपने आप, बिना मेरी मर्जी के फैसला लेता जाय।

मेरी मां ने अपनी मा को देखा था और उन्हीं के प्रभाव क्षेत्र से अपने लिए रास्ता निकाला था...

मैं किसी के प्रभाव में नहीं हूं न किसी से प्रभावित कोई रास्ता निकालने वाली हूं...

अपनी जिंदगी मैं अपने ढंग से जीना चाहती हूं; जो चाहूं, वही करना चाहती हूं।

मैं कह सकती हूं कि अपनी नियति मैं स्वयं हूं।

सफलता या असफलता, सजीव-निर्जीव या हंसने-रोने में मैं अंतर नहीं करती क्योकि मैं टूटे हुए प्रेम की संवेदनाओं के सिरों को तीव्रता से जोड़ने का प्रयास करती आई हूं।

मैं नींद के सपनों का सच नहीं गिनती जो आंख खुलते ही आधे मर जाते हैं और शेष विस्मृति के अंधे कुएं में हरकत होने से पहले ही कूद पड़ते हैं।

याद आ रहा है कि जाने के कुछ दिनों पहले तक वह जिसको जो कुछ कहना होता निःसंकोच कह दिया करती थीं...किसी बात पर आक्रोश जागा तो बरस भी पड़ीं...क्रोध संभाला न जाता तो झिड़क देतीं फिर एकदम से चुप हो जातीं। कई-कई

दिनों के लिए मौनी बाबा बन जातीं...

कभी एकदम उदास दिखाई पड़तीं...

लेकिन जाने के कुछ दिन पहले एकदम चुप हो गई थीं।

कुछ दिन तो एकदम गुमसुम रहीं...हो सकता है किसी बात पर मन ही मन कुढ़ रही हों, फिर कुछ सोच कर अपने विचारों को बांधना शुरू किया...

कुछ सोच-विचार कर ही उन्होंने अपनी डायरी के पृष्ठ भरे होंगे और इस तरह शायद जाने से पहले खुद को थोड़ा हल्का कर पाईं।

उनके लिखे हुए सारे अक्षर मेरे लिए स्पष्ट नहीं—कारण, उनका घसीटा लेखन, मेरे अंदर भाषा ज्ञान की कमी और उनकी उलझावों से लदी-फंदी, भारी भरकम विचार शृंखला...

शायद मैं कई घण्टे मां के कमरे में बैठी रह गई थी। मन एकदम से उचट गया।

डायरी समेट कर करीने से लगा दी, इधर-उधर के बिखरे पन्ने सहेज दिए और कमरे से बाहर आ गई।

मन की उद्विग्नता गई नहीं...

सोचती हूं, मा के अतीत के कुछ पहलू कदाचित ऐसे थे जो समय की धूल और विस्मृति के घूंघट में छिपे रह गए।

हममें से किसी के सामने उन्होंने उल्लेख नहीं किया। शायद मां के पास ऐसी सूचियों का महाकोश था जिसे उन्होंने यत्नपूर्वक राज ही बना रहने दिया।

बचपन से ही हर तरह की छूट मुझे मिली थी...

मां के मन में जाने कहां से एक विश्वास जड जमा गया था कि मेरे साथ कभी कोई ऐसी घटना नहीं घट सकती जिससे उन्हें शर्मसार होना पड़े। मुझ पर किसी समाजिक लांछन की बात आए, ऐसा सोचना भी उन्हें गवारा नहीं था...

मुझे जितनी आजादी मिली थी उससे मेरी दूसरी बहनों को ईर्ष्या न सही, आश्चर्य जरूर था...

मैंने लोगों को कहते सुना था :

'आपकी यह छोटी बेटी अपर्णा आपके सभी प्रारम्भिक क्रांतिकारी विचारो की प्रभावशाली अभिव्यक्ति स्वरूप अंतिम संतान बन कर आई है...'

मेरी मां अपने जीवन में तो कुछ कर नहीं पाई थीं पर समाज की शोषण व्यवस्था के खिलाफ जेहाद उनके मन से गया नहीं था। कुछ होना चाहिए ऐसा मूलतः उनके आंतरिक भाव थे।

मां के उसी जेहाद का मानवीय रूप में किया हुआ अनुवाद बन कर मैं अपनी

मां की कोख से पैदा हुई।

एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना में वह क्षण भर का भी श्रम लगा पातीं तो विवाह के लिए जीजी के विजातीय चुनाव को उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया होता। पर वह तो एक सदमें का रूप लेकर उनके सामने आया...

अब तक जितने भी रिश्ते बने या टूटे थे उनमें मां अधिक डूबीं ही नहीं, न उनकी रगों में इतनी दुखन हुई...एक संभावना यह भी बनती है कि रिश्तों के बनने-बिगड़ने में वह इतनी टूटीं, इतनी दुखीं कि दुखन और टूटन का एहसास ही खत्म हो गया।

मेरे मन की भीतरी तहों से कभी-कभी एकदम अलग आवाज उभरने लगती है। जिसे न चाहते हुए भी सुनने के लिए मैं विवश हू। वह आवाज कहती है मां किसी को ब्याहता देखना ही नहीं चाहती थीं..

छाया की तरह मैं, साथ रही हू मां के, इसीलिए उनकी अनुपस्थिति सबसे ज्यादा मुझे ही खल रही है...

महाशून्य की भरी हुई आत्मा मुट्ठियां बांध कर अभिशाप की मुद्रा में सामने आकर खडी हो रही है...

मुझे यह जान कर संतोष ही हुआ कि वह बेजान रिश्ता खत्म हो गया जिसे लेकर मा इतने तनाव झेलने लगी थीं...हालांकि कुछ बोध, कुछ अबोध अर्द्ध चेतना का अनुभव मैंने आरम्भ में किया था...आंखों के आगे धुंधलका भी उभर आया था।

समझ नही आता, मां ने इस तथ्य को इतना गोपन क्यों रखा कि अपने आप से ही छिपाती रही हों...

मैं डायरी के एक निश्चित पृष्ठ पर दुबारा दृष्टि डालती हूं। आंखों में आई हुई जीवन के विरुद्ध खड़ी होने वाली अपार्थिव तरी पोंछ कर अक्षरों पर दुबारा नज़र दौड़ाती हूं :

'...दोनो का विवाह एक साथ...बड़ी के लिए मुझे मजबूर किया जा रहा है कि मैं उसमें भी अपने अस्तित्व का चिरमौन तोड़ कर मुखरता से साथ दूं। ठीक ही तो कह रहे हैं सब...मैं अपनी बेटी के सुख-सुहाग को कब तक समाज के घुप्प् अंधेरे कुएं में बेरहमी से फेंक कर मर्यादाओं की खिसकती चादर समेट उसका तन ढक सकती हूं...

'कुछ लोग मुझे खोजते हुए इधर आ रहे हैं... मेरी अंगुलियां जल्दी-जल्दी पन्ने समेटने में लग गई है...'

· मन खिंचाओं से परे होकर सहज होना चाहता है, पर हर तागे में मां के विविध

चेहरे उल्टे लटके नजर आने लगते हैं...

मेरी मां का चेहरा भी एक नहीं था और समझ नहीं पा रही हूं कि यह राज़ हम सबसे अभी तक क्यों छिपा रहा...आधा-तिहाई या चौथाई ही सही, कभी किसी को दिखाई क्यों नहीं पड़ा...

मेरी एकाग्रता अब टूटने लगी है। अगर मैं मन के उधेड़बुन को अलगनी पर तटस्थता से टांग नहीं पाई तो आगे अनेक प्रश्न मुंह फाड़े आकर खड़े हो जाएंगे...

विशिष्ट समझे जाने वाले मां के व्यक्तित्व को आंचल पकड़ कर शायद मैं चिंदी-चिंदी कर देना चाहती हूं...

उनके चमचों या मित्रों द्वारा घोषित उनकी छवि पर उनकी ही आत्मजा प्रहार करे, उसे धूमिल करने को कटिबद्ध हो जाय तो उन्हें कैसा लगेगा, सोचती हूं...

पर क्या मैं यही कर रही हूं ?

क्या मैं ऐसा कर सकती हूं ?

कोई अगर मुझे गलत समझता है तो यह उसकी समस्या है...मैं तो जितना हो सके अंतर की झनकारें खत्म कर प्यार से उन्हें अपने में ही समेट लेना चाहती हूं...

लेकिन यह भी उतना ही सच है कि सीमांत तक उनके साथ जुड़ी रह कर भी उनका-सा जीवन मैं हर्गिज नहीं जिऊंगी...

मेरे उद्देश्य अलग हैं, मेरी उमंगे दूसरी हैं, मेरी आकांक्षाएं यद्यपि एकाग्र होकर तृषित, छटपटाती हुई विचारों की भीड़ के विच्छिन्न प्रांगण में खड़ी हो गई हैं...

शिव के तीसरे नेत्र से मैं इस दुनिया को देखना चाहती हूं...

मैं अपनी तरह, सिर्फ अपनी तरह जीना चाहती हूं...

मेरे राग-विराग, मेरे हास्य-अश्रु, मेरी बोल-चाल, मेरे मित्र-बांधव सब मेरी अपेक्षित जिंदगी से बहुत अलग हैं।

मेरी कार्यप्रणाली, मेरे सोचों की शृंखला में कहीं उनका मेल नहीं बैठता। उनके विविध चेहरों को पहचानना मुझे असंभव लगता है क्योंकि जीने के लिए किसी मुखौटे या मुखौटों का इस्तेमाल करना मैं नहीं चाहती...

मेरा विश्वास केवल एक चेहरे पर है जिसे लेकर मैं जीना चाहती हूं। मेरी बात किसी को अच्छी लगे या बुरी, मेरी सोच का मुद्दा यह नहीं है। मुझे जो कहना या करना हो सीधा कहती या करती हूं...सीधा सोचती हूं। इतनी निर्भीकता मुझ में है कि तमाम विरोधों के बावजूद अपनी बात कह सकूं और इसी निर्भीकता के साथ मैं जीना चाहती हूं।

मां के कमरे में पूरा घर सिमट आया है। हर मन में द्विविधा का ज्वराक्रांत क्षितिज सांस के साथ कांप-कांप जाता है...

लगता है सांध्य-सूर्य के रथ का पहिया रात के बिखराए हुए कागज के ढेर से लिपट गया है और उसे छोड़ना नहीं चाहता या शायद फंस गया है इसलिए छोड़ नहीं पा रहा है...

अभी तक किसी ने मेन स्विच ऑन नहीं किया है।

मौन संवाद और भीड़ के बीच मेरी सांस के साथ ही, कोई अन्य विकल्प न देख कर समय वहीं ठहर गया है।

चारों ओर धूप फिराकर चांदी का धूपदान हाथ में लिए अम्मा आ गई है कमरे में धूपदान रखने के लिए।

और दिनों की अपेक्षा उसकी कमर और भी झुकी हुई नजर आ रही है।

कमरे में उपस्थित जवानियों के बीच उसका झुका हुआ बुढ़ापा खिन्न और बुझा हुआ मालूम पड़ा।

पर उसके स्वर की दृढ़ता का मुकाबला शायद सभी जवानियों का सम्मिलित स्वर भी नहीं कर सकता था, जब उसने स्वर को साध कर किसी को भी लक्षित न करते हुए कहा :

'मेज पर खाना लग गया है...ठाकुर-नौकर सभी इंतजार में हैं। कोई कब तक राह देखता रहेगा कि आकर कोई खाना खाए...'

अम्मा ऐसे कभी नहीं बोली थी पहले। मुझे लगा घर के 'बड़े लोग' उसका विरोध करेंगे। पर किसी के कण्ठ में आवाज नहीं थी।

एक-दूसरे का मुंह जोहते हुए सब तितर-बितर होने लगे जैसे दानों पर बैठे कबूतर एक कंकड़ी की मार से भरभरा कर उड़ जाते हैं।

अम्मा की आवाज अगर कंकड़ी की तरह उन पर न गिरती तो वे सब के सब बैठे रहते और मैं शायद उन डायरियों की तरह ही मा के तखत पर पसर जाती।

लेकिन समय का सत्य घोषित हो चुका था कि खाना मेज पर लग गया है...

मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि मां की इबारतों में इस क़दर रच-बस जाऊंगी कि मुझे अपने अस्तित्व से ही हट जाना पड़ेगा।

गले की गांठ की तरह एक-एक शब्द मेरे गले में फंसता जा रहा था।

मेरे सामने मां का विश्वस्त शरीर और बदहवास चटखा हुआ मन मेरी आंखों के पोरों पर आकर ठहर गए हैं।

मैं उनका रेशा-रेशा कर उनकी चिकित्सा में एकदम लगी हूं...

अपराध भाव के बोझ ने मुझे अपने वजूद की जमीन से धक्का दे दिया है, पर मुझे परवाह नहीं। जो भी हो मैं असलियत तक पहुंचना चाहती हूं...

मां, ये डायरियां क्या इसीलिए बाहर छोड़ गई थीं कि उन्हें खोला और पढ़ा जा सके ?

या इनकी आत्मस्वीकृतियां हैं ये ?

जो भी हो, मैं एक बेटी की हैसियत से नहीं, एक दूसरी औरत की जिज्ञासा लेकर उनकी निजता को पढ़ना और समझना चाहती हूं।

हो सकता है मां इसके लिए मुझे कभी माफ़ न करें, हालांकि उनके आदर्शो में मां, हमेशा क्षमा की मूर्ति ही रही है।

यह कार्य संकटपूर्ण हो सकता है मेरे लिए। झूठ और सच का निर्णय करना, इसका ख्याल रखना कि कहीं कोई गलत अदाज न लग जाय...

मां का चिर उदासी से रंगा चेहरा मुझे एकदम बेपहचाना लग रहा है...

रिश्तो की सवारियों पर चढ़े हुए नाम कितने बेमानी, उलझाने वाले, संवर्षरत और दूर फैलने वाले होते हैं...

अनुभवों की कठोरता पर टिका हुआ यह यथार्थ झूट की कितनी अस्त-व्यस्तताएं ढकने मे समर्थ हो पाएगा...

तरह-तरह सवाल मेरे मन का मंथन कर रहे है...

अचानक मुझे लगता है, मैं इस छटपटाती त्रासदी को किसी यथार्थपरक रिश्ते से जोड़कर सोचने से पहले थोडा दम लेना चाहती हूं।...

झाड़-झंखाड़ों के नीचे दबी हुई एक और काठ की कामदार पेटी मिली है। अंदर का ताला टूटा हुआ है। ऊपर का कवर भी समय की धूल से ढका जर्जर ही लग रहा है...

इस पेटी में क्या था या क्या है ? इसके अंदर का ताला क्यो टूटा है ?

कौन पूछे और किससे ?

इस पागलखाने रूपी घर में यह जिम्मेदारी कौन लेगा...शायद कोई नहीं...

मैं भी तय करती हूं न कि किसी से कुछ पूछूंगी...न यह धूलभरी पेटी खोलूंगी, न देखूगी...

किसी भी तरह की अपराध-वृत्ति से मेरा अपना मन तो साफ रहेगा...

मन एक उबलता-खौलता दरिया-सा बनता जा रहा है।

मन का ताप बढ़ रहा है क्योंकि अपनी ही मां को हमने खारी निगाह से देखा है...

उनकी मिट्टी को इस तरह गूंधने का हक मुझे किसने दिया ?

मेरे सामने जिंदगी का एक लम्बा सफ़र है...इन मैली नजरों से मै उसे कैसे तय कर पाऊंगी।

सोचती हूं शायद मैंने विरासत में मिली अपनी जमीन पर गाजर-घास उगा ली है...सर्प गाजरों की खेती करूंगी क्या।

कभी लगता है कहीं कुछ नहीं बदला है...

मा आएंगी...मेरे देर तक सोए पड़े रहने पर कुढ़ेंगी, मुझे झिझोड़ कर जगाएंगी ...रात देर से मेरे लौटने पर उलहना देगी, भला-बुरा कहेंगी और मै उनकी उम्र की परवाह किए बगैर तमक पडूंगी।

करवट बदल कर अलसाऊंगी, फिर सो जाऊंगी।

खीझ अधिक पैदा हुई तो शायद यह भी कह पड़ूं :

'ऐसा कौन-सा कृत्य था जो इन्होने नहीं किया...अब हम पर पहरे लगा रही हैं...'

मैंने क्यो मां के लिखे हुए कागजो पर नजर गड़ाई...

जीने की मेरी कला कलुषित हो गई। मेर हौसले की चिदियां उड गई हैं ?

अपनी मां को मैं इतना प्यार क्यों करती हू ?

मैंने और किसी को प्यार क्यों नहीं किया ?

क्यो मैं जंगल के झील की तरह अनछुई रह गई ?

किसके आतक की जख़्मी धूप ने मुझे कही देखने तक नही दिया...

गंगा के पानी की तरह पवित्र रहने का उपदेश...झूठ बोलने पर भयंकर पाप...तेल की उबलती हुई कढ़ाई में तले जाने का भय...चारों ओर गहराते हुए अंधेरों की काली चादर...

हमने सूरज का चढ़ना कभी देखा ही नहीं...

शक और संशयों के बीच किसने फेक दिया मेरे उभरते यौवन को कि वह हमेशा के लिए मौन हो जाय...कभी मुंह न खोले...

दबा-भिंचा समुद्र के ज्वार की तरह चढ़े, फिर उतर जाय...

कौन जिम्मेदार है इन सबका...

और अगर मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिल भी जाय तो मेरे ऊपर क्या प्रतिक्रिया होगी ?

मैं जानना नहीं चाहती।

मेरा मन कहता है, मां एक बार आएंगी जरूर...

कामिनी

यह सही है कि मैं अब अपने आप में एक छोटा पेड बन चुकी हूं लेकिन शाख तो मैं उसी पुरातन वृक्ष की हूं जो त्रिशंकु की तरह आसमान में लटका हुआ है और दूर से उल्टा दिखाई पड़ता है। सारी जड़ें आसमान में फैली हुईं और ऊपरी फुनगी नीचे धरती को छूती हुई। टहनियां, कुछ फूटी, कुछ अफूटी जिन्हें पनपने नहीं दिया गया। उस पुरातन वृक्ष से कलमे इस तरह निकलीं कि आधे-अधूरे पेड ही बन पाए और मूल वृक्ष का विकास जैसा होना चाहिए कभी नहीं हुआ।

कलमों की पद्धति अनाड़ियों की देख-रेख में कहां पनप सकती है। शायद इसीलिए आजकल पुराने जमाने की तरह भरे-पूरे छायादार या धूपग्राही वृक्ष अब देखने को नहीं मिलते और कहीं-कहीं तो गमलों में उगाए जाते हैं जिन पर सुबह-सवेरे चिड़ियां कभी नहीं चहचहाती, हवा के झोकों से उनकी डालियां कभी नहीं झूलतीं।

बचपन से सुनती आ रही हूं कि जब मा के पेट में मैं आई तभी से मां और पिता विचारों में एक-दूसरे से दूर चले गए। कारण मैं थी, आज तक यह बात किसी ने कही नहीं लेकिन मेरा अपना ही मन आगे की बात अपने आप से जोड़ लिया करता था। क्या किसी का कहना-सुनना ही पर्याप्त होता है।

हमारे जैसे घरों में कभी 'तू-तू-मैं मै' नही करता कोई, न रूबरू लड़ाई होती है किसी की किसी से। शुरू में मनमुटाव बढ़ता है, आपसी दूरी फैलने लगती है और अलगाव होता है मानसिक स्तर पर। यह अलगाव किसी को दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन सम्बद्ध व्यक्ति के लिए क्रमशः स्पष्ट होता चला जाता है। इसे पाटने की कोशिश की जाए तो दरारें और बढ़ती हैं। एक विचित्र-सा ऊहापोह चलने लगता है, उथल-पुथल-सी मच जाती है। ऊपर से मान्यता कहती है, कोई झूठ नहीं बोलेगा लेकिन आपसी बातें झूठ के पुलिंदा के अलावा कुछ नहीं होतीं।

जहां तक मैं सोचती-समझती हूं बात, व्यवसाय और मुदकमों आदि की नींव अगर सच की बुनियाद पर रखी जाय तो बेहतर होता है फिर उसका अंजाम चाहे कितना ही बुरा हो। वरना एक झूठ को छिपाने के लिए हजार झूठ सामने आते हैं और फिर झूटों की अमरबेल इस तरह फैल जाती है कि सच का अस्तित्व ही हमेशा-हमेशा के लिए ओझल हो जाता है।

जिस भविष्य का निर्माण हमारे लिए हुआ उसके लिए एक सीमा तक मैं अपनी मां को ही उत्तरदायी मानती हूं। पिता को लेकर अपने संबंधों में जो दरार उन्होंने

महसूस की उसके लिए भी मैं उन्हें ही जिम्मेदार मानूंगी।

पहली बात जो मुझे अब ठीक नहीं लगती, वह थी कि हमारी कमजोरियों, हमारी कमियो को मां ने हमेशा पिता से छिपा कर रखा और अच्छाइयों को जरूरत से कहीं ज्यादा बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया। हालांकि यह बात वह मानतीं नहीं। मैं यह मान सकती हूं कि मेरी मां ने शायद ऐसा जान-बूझ कर नहीं किया क्योंकि वह इतनी चतुर-चुस्त, लगाने-बुझाने वाली कभी नहीं रहीं। उनका कथन भी दूसरों को दोष मुक्त नहीं लगता हालांकि मां के मन में कोई छल-छिद्र नहीं रहता...

मां के इस आचरण का खामियाज़ा सबसे ज्यादा मेरे बड़े भाई ने भोगा और सारी जिंदगी भोगता रहेगा। अगर मां ने उसके विकास की सही तस्वीर पिता के सामने रखी होती तो शायद उस समय कुछ किया जा सकता था। बहरहाल, भाई को छोड़िए, आपसे सिर्फ अपनी बात कहूंगी जो मेरे सिवाय कोई और नहीं कर सकता।

मेरा नाम रखा गया कामिनी जो नए-पुराने के बीच का सूत्र माना जा सकता है। यह शब्द अधिक पुरातन होते हुए भी नवीन है क्योकि मेरा यह नाम मेरे पिता ने मुझे नहीं दिया था। आज मैं बेशक, उस उल्टे लटके हुए पुराने वृक्ष पर एक रंगीन वृत्त हूं, अंतिम से दो अदद पहले...

मुझे बार-बार समझाया गया है कि मैं कोई साधारण लड़की नहीं हूं। पहली असाधारणता तो यही थी कि मैं नौ की बजाय ग्यारह महीने में पैदा हुई।

विश्वास नहीं हुआ न ? आप सोचेंगे मैं गप्पें मार रही हूं। जी नही, वैसे गप्प मै मार सकती हूं ऐसी गप्प कि सच-झूठ का अंतर आप भूल जायं...लेकिन यह बात मेरी नहीं, मुझे बार-बार बताई गई है बड़े-बुजुर्गों द्वारा और भला वे गप्प क्यों मारेंगे।

इस बात के बावजूद कि मेरी मां को दिन-महीनो का ख्याल नहीं रहा होगा मैं यह मान कर चलती हूं कि मै ग्यारह महीने मे ही पैदा हुई। ग्यारह लम्बे महीनो तक मैं मां की अंधेरी कोख मे रही हूं, उनकी अनंत ऊर्जाओं को आत्मसात करती रही हूं।

मां के मोटे, उधड़े, फूले हुए विशाल पेट को देख कर पिता कहते :

'तेरे पेट में कोई साधारण बच्चा नहीं साक्षात शनिचर है इस बार।

लेकिन अदिति के गर्भ की तरह मैं अनंत काल तक मां के गर्भ में ही नहीं रही। पैदा तो मैं हुई वरना यहां आपसे इस तरह बातें कैसे करती ! लेकिन अपनी बात अभी नहीं। आइए, पहले मै अपने पिता की बानगी दे दूं ताकि मुझे या मेरे परिवार को समझने में आपके लिए आसानी रहे।

मेरे पिता एक असाधारण व्यक्तित्व के श्रीपुरुष थे। पुराने रईस, श्रीमंत और घोर संस्कारी सनातनी।

सोचती हूं, आज जो दंगे-फसाद हो रहे हैं, साम्प्रदायिक मार-धाड़, धर्म के नाम पर धरती-विभाजन की मांग...यह सब देखने के लिए पिता जीवित न रहे वरना उनके जिगर के टुकड़े-टुकड़े हो गए होते। साम्प्रदायिक दंगो के खिलाफ़ उनकी एक कठोर आवाज उठती। धार्मिक एकीकरण का प्रश्न नहीं था उनके सामने। वह तो हिंदू धर्म के कट्टर समर्थक थे...जैसा सोचते वैसा ही करते। निर्भय-निर्द्वन्द्व थे।

कांग्रेस की नीतियां मेरे पिता को पसंद नहीं आई तो उन्होंने उसका खुल कर विरोध किया। निर्भय होकर अपने विचारों का प्रचार-प्रसार करते रहे।

जिस पार्टी को लाखों रुपयों का अनुदान दिया, स्वराज्य हासिल करने के लिए जो भी प्रयत्न कांग्रेस ने किए उन सबमें पिता का सहयोग रहा लेकिन जब देश का संविधान बन गया। देश का पहला प्रधानमंत्री जब चुन लिया गया तब मेरे पिता के हृदय में विरोध के बीज अंकुरित होने लगे।

रामराज्य की मेरे पिता की कल्पना उन्हीं को भाप बन कर पिघलाने लगी। एक ओर सियासत के उसूलों से वह उलझते-टकराते रहे। दूसरी ओर उनकी अपनी सियासत खत्म होती चली गई।

जुनून ऐसा था कि चिराग मंदिर मे तो जलते रहे पर घर मे क्रमशः अंधेरा बढ़ता गया, इस सीमा तक कि विरासत में हमें कुछ भी नहीं मिल पाया जिसका संबंध भौतिक जीवन से जोड़ा जा सकता था।

वैसे तो पिता की ओर से हम सबको बहुत कुछ मिला था मसलन स्वभाव की विकृतियां, शारीरिक समानताएं। किसी की आंखों से पिता की आंखें झांकती, किसी की नाक उनका प्रतिबिम्ब बनकर खड़ी थी, माथा, होंठ, लम्बी-लम्बी बांहें, कहने का तात्पर्य यह है कि अपना पूरा शारीरिक-मानसिक वजूद उन्होंने हम भाई-बहनों में टुकड़े-टुकड़े बांट दिया था।

हम टुकड़ों में बंटी शख्सीयतें बन कर रह गए। उनकी तरह रूप, धन, जय, कीर्ति के अधिकारी नहीं बन पाए। एक मैं थी जो काफी हद तक उस लक्ष्मण रेखा को नाप गई थी।

मेरी दिमागी ताक़त पिता से कम नहीं, धनवान भी हूं। अगर पुरुष वेश धारण करके खड़ी हो जाऊं तो पिता का युवा रूप ही दिखाई पडूंगी।

यह बात कई बार मेरे मन में आई है कि अगर मैं लड़की के बजाय लड़का होती तो पिता के डूबे हुए कारोबार की संभाल कर फिर से वही ठाट-बाट वापस लाती। वही ऐश्वर्य, वर्दीधारी नौकर-चाकरों की जमात, देशी-विदेशी गाड़ियों की कतार, राजे-महाराजाओं का घर में आना-जाना, रात की पार्टियों में सौ सूर्यो के प्रकाश जितनी रोशनी कि रात का अंधेरा दोपहर की रोशनी में बदल जाय।

मन मसोस कर रह जाता है...क्या नहीं था हमारे पास। घोड़े, बग्घियां, साइस...पिता किसी बड़ी इस्टेट के राजा से कम नहीं थे। सोने की थालियां, चांदी के घड़े, किमखाब के तकिए-गद्दे, संगमरमरी फर्श पर पर्शियन कालीनें, छतों के बीच लटकती कड़ियों से झूलते झाड़-फानूस। नए जन्मे बच्चे की पगथलि जैसी नरम, चमकीली दीवारों पर लगे कीमती चित्र और प्राचीन काल का नक्काशीदार फर्नीचर...

पिता के परलोक सिधारने से पहले ही दुर्दिन हाथ-पांव फैला चुका था जो लगातार पसरता ही गया और उनके बाद हम सब सिर्फ नाम के तमगों से बोझिल अपना-अपना अस्थि-पंजर ढोते रहे।

हम कहीं भी जायं, पहचान लिए जाते हैं क्योंकि किसी के चेहरे पर उनकी चौड़ी-उभरी हुई नाक है। किसी के चेहरे पर उनकी दो गुरूड़ की छोटी-छोटी चमकीली आंखें हैं। किसी का सिर लम्बे कानों के अनुपात में खिंचा-बधा है, किसी का असाधारण रूप से चौड़ा माथा उसकी प्रतिभा का प्रतीक बन कर दिखाई पड़ता है, किसी का कद उन्हीं की तरह ऊंचा, दुबली-पतली तनी हुई देहयष्टि...

शायद इसीलिए मेरी मा हमेशा रोक-टोक लगाती हैं कि हम चुन-चुन कर वही करें जो हमारे पिता किया करते थे...

मां के लटके-खटके मुझे फूटी आंखों कभी नही सुहाए, उनके उपदेशों पर मैंने कभी कान नहीं दिए...

मां शायद ठीक ही कहती थी कि विद्रोह की बूटी मै अपने ज़ेहन में रोप कर इस दुनिया में आई थी। सबको पारिवारिक रूढ़ियों के कारा से मुक्त कराने का बीड़ा मैंने ही उठाया था।

किसी भाई से अचानक झगड़ पड़ने का कारण एक ही था कि मां की नेह-छाया के नीचे हरदम उसका दबा रहना मुझे अच्छा नही लगता था। हर आपत्ति पर मां का आंचल ओढ़ कर असलियत से उसका जी चुराना मुझे फूटी आंखों भी नहीं सुहाता था।

हम सबसे अधिक मां उस भाई को प्यार करती थी क्योंकि वह उनकी हर बात ऊपर-ऊपर से मान लेता था। उनका अहं संतुष्ट कर देता था। अंदर से महसूस करते हुए भी अपनी जबान नहीं खोलता था। उनके सुझाए रास्तों पर चलता था, उनके हर निर्देश को अमली जामा पहना दिया करता था इसलिए वह मां का लाड़ला था। हम सबसे अधिक मां उसे चाहती थीं।

वह है मेरा बड़ा भाई। केशव की जिंदगी में जितनी भी असफलताएं आई उनके लिए मां ने उसे दोषी नही माना, बल्कि सारा अपराध उन दोस्तों के सिर डाला जिनके साथ उन दिनों वह अपना समय बिताता था।

मां जानती थीं कि कुसंग में पड़ कर उसने पढ़ाई-लिखाई सब गोल कर दी थी।

मैं निश्चित रूप से कह सकती हूं कि मुझमें वह कुव्वत थी कि मैं सबकी जिंदगियां बदल दूं।

पिता के बाद घर में घुप्प अंधेरा तो हो ही गया था।

हमारे लिए पिता रोशनी के पुंज थे और उनके जाते ही सबसे बड़ी ठेस हमारे परिवार को ही लगी। हमारी जिंदगिया वदल गई। सब कुछ जैसे गड्ड-मड्ड हो गया। चारों ओर जैसे मौत की आंधी आ गई और हम थपेड़े खाने को विवश हो गए। और समय ? वह अपनी रफ्तार से खिसकता चला जा रहा था।

मेरी मां, पिता के नाम की नकली छाया के नीचे बैठ कर खानदान की नाक को सुरक्षित रखने वाले सपूत की खोज मे नीली छतरी वाले की ओर अपलक निहारती रहती हैं...

उन दिनों मेरे श्वसुर जव भी उनसे मिलने आए, उसके बाद भी जव आते, उन्हें समझाते। मा के नए समधी मेरे श्वसुर का, कायदे से उनकी बात का सही प्रभाव पड़ना चाहिए था। वह हमेशा नाम और नाक के घेरे मे वंद पारिवारिक परिवेश को तोड़ कर वाहर निकलने की वात करते। मानव और भगवान का अंतर उन्हें समझाते।

लेकिन अपने जमाने की सुशिक्षित मेरी मां ने जिस मानव को अपना भगवान मान लिया था, वर्षों उसी अपने काल्पनिक सत्य के सहारे जिंदगी का तीन-तेरह करती रही थीं, उसी काल्पनिक सत्य के सहारे एक झूठी जमीन पर जीवित रह कर अपने मनसूबों के महल चुने थे, उसका एकदम से इस तरह भरभरा कर गिर पड़ना उन्हे चेतना शून्य-सा कर गया था। एक सामान्य प्राणी की तरह किसी सामान्य प्रतिक्रिया की आशा उनसे नहीं की जा सकती थी...

मेरे श्वसुर हार-थक कर उल्टे पैरो अपनी दुनिया मे वापस लौट जाते थे।

पिता कहा करते :

'मेरे बेटों के लिए पढ़ना-लिखना उतना आवश्यक नहीं है...मुझे ही देखो, पढ़े-लिखे कितने विद्वानों को खीसे में रखता हू...और लड़कियां ? पढ़-लिख कर क्या करेंगी...'

मा सुन लेतीं। सुनने के लिए मेरी मां को पुरस्कार-सम्मान मिलना चाहिए था। इतनी रंग-बिरंगी बातें सुन कर भी अपनी प्रतिक्रिया छिपा लेना जरूर उन्होंने बचपन की अल्हड़ उम्र से सीखा होगा और पिता की बातें सुन-सुन कर उनका सीखना-गुनना उस परिपक्वता मे बदल गया होगा जो देखने में तो बचकाना दिखाई

पड़ता है लेकिन महसूस करने या प्रतिक्रिया जताने की घड़ी आ जाए तो बड़े-बड़े बगले झांकते फिरें।

इस मुद्दे पर आप यह मान सकते हैं कि मेरी मां व्यावहारिक रही हैं, वैसे दुनिया निभाने में चाहे जितनी अधकचरी साबित हुई हों।

उजड़ती हुई सामंतशाही और कपूर की तरह बिला जाने वाली या पारे की तरह ढुलकने वाली लक्ष्मी के स्वभाव का उन्हें अच्छी तरह पता था। असंख्य टुकड़ों में बंटा, आने वाला समय भी अपने दांत उन्हें जरूर दिखा चुका होगा, इसीलिए मां ने जितने भी कांटों की चुभन महसूस की हो, अपने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई को उन्होंने सबसे ज्यादा महत्त्व दिया। फिर चाहे क़िसी अच्छे स्कूल में हमारे दाखिलों का सवाल हो या घर पर बुला कर कोई विद्वान-चुस्त मास्टर रखने की बात हो, हमेशा कोई न कोई व्यवस्था मां फौरन कर लिया करती थीं। इतना ही नहीं, पढ़ाई में हमारी तरफ़ से जरा भी कोताही उन्हें बर्दाश्त नहीं थी, मोम की तरह पिघल जाने वाला उनका दिल पत्थर की तरह सख़्त भी हो सकता था।

हम बहनें तो मां की इस सख़्ती का फायदा उठा ले गईं। रह गए मेरे भाई। किसी का दीदा ही नहीं लगा, पढ़ने-पढ़ाने में। शायद पिता के वक्तव्य को वे ही चरितार्थ करना चाहते थे...

एक-एक पोर उनका रईसी के लहू में सराबोर था। उनके लिए पढ़ाई-लिखाई वक्त की बरबादी थी और भविष्य की चिंता सबसे बड़ा मज़ाक।

दो तो हाथ से निकल गए। तीसरे को मां अपने शिकंजे में जकड़े रहीं। अपनी नजरों के सामने से उसे हटने ही नहीं दिया उन्होंने। अलबत्ता उसने उनकी आंखों में सफेद फूल झोक कर पगडण्डिया बदल दीं और अपने लिए पथ का निर्माण स्वयं कर लिया...

भाई इस क़ाबिल भी नहीं थे कि कहीं उन्हें छोटी-छोटी ऑनरेरी नौकरी भी मिल जाती और थोड़ी देर के लिए मान लीजिए मिल भी जाती तो वह नौकरी करता कौन...किसी की 'गुलामी' करना उनकी सफेदपोशी में धब्बा न साबित होता ?

यह सच है कि मेरे पिता अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। फिर भी अनेक भाषाएं जानते थे। अंग्रेजी ऐसी फर्राटे से बोलते कि हार्वड-आक्सफोर्ड के शिक्षित विद्यार्थी भी मात खा जायं। कई क्षेत्रीय भाषाओं में पारंगत थे।

कुछ लोगों को नई-नई भाषाएं सीखने का शौक होता है, मेरे पिता को भी था। उनकी ग्रहणशीलता तगड़ी थी। बच्चों की तरह उनका जेहन प्रौढ़ावस्था में भी भाषाओं की ओर भागता था और कोई भी भाषा हो, पलक झपकते वह पकड़ लेते थे।...

मुल्क के बड़े-बड़े अमीर-उमराव, राजे-महाराजे, चोटी के अंग्रेज अधिकारी...सबके साथ उनका उठना-बैठना था। दोस्ती के स्तर पर उनके सबके साथ संबंध थे। देश-विदेश में चारों तरफ़ उनका आना-जाना था।

लेकिन मेरे पिता किसी के यहां खाते-पीते नहीं थे। और यह बात सभी लोग जानते थे। जब भी कहीं जाना होता तो हरिद्वार के गंगा का जल उनके पीने के लिए जाता। उनका भोजन उच्च कोटि के ब्राह्मण तैयार करते, उनके साथ जाते।

घर पर होते तो उनका आहार मां के निरीक्षण में होता। कभी-कभी मां खुद अपने हाथ से उनके लिए भोजन तैयार करतीं। अल्पाहारी थे मेरे पिता, पर छप्पन भोग अगर थाली में न परसा गया तो खाना उनके लिए बेमानी हो जाता।

फिलहाल, बात मुझे अपनी करनी थी और पिता को लेकर बैठ गई मैं। क्या करूं पिता का जो अंश लेकर मैं इस दुनिया में आई हूं उसे रोक देना मेरे वश में तो नहीं है। यह बात भी है कि अपनी बात आपके सामने प्रस्तुत करने से पहले मैं वह सब बता देना चाहती हूं जो मेरी पृष्ठभूमि तैयार करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

यदि पिता की पृष्ठभूमि मै निकाल दूं तो मेरी अहमियत क्या रह जाती है...बहरहाल...

हममें से हर एक के लिए घर में ही पढ़ाई का प्रबंध था। कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा के लिए मैं यह बात कह सकती हू।

सबके अलग-अलग मास्टर थे, नियत समय पर आते और कम से कम समय में अधिक से अधिक ज्ञान हममें भरने की कोशिश करते।

हम बच्चे ज्ञान के बोझ से दब-दब कर भी अपना सिर ऊपर उठाए रखने की कोशिश करते।

जब हम कुछ बड़े हुए तो हमारे लिए ईसाई गवर्नेस रखी गई। उसे हम लोग मैडम कहा करते थे। पढ़ाई-लिखाई के अलावा वह हमे तौर-तहज़ीब भी सिखाती थी कि बातचीत कैसे करनी चाहिए, छोटे-बडे मे भेद कैसे होता है। बड़ों को आप, छोटों को तुम क्यो कहा जाता है। नाश्ते में हमें क्या खाना है, लंच, दोपहर बाद का नाश्ता और रात का भोजन...इन सबमें हमे क्या और कितना खाना है...

कुर्सी पर कैसे बैठना है, चलना कैसे है, भागने-दौड़ने की स्थितियां कब पैदा होती हैं। सुबह उठने से रात को सोने तक हमे क्या करना चाहिए। सबक़ याद करने का सही समय कौन-सा है ?

कपड़ों का चुनाव करते समय रंगों का चयन कैसे किया जाता है। किस तरह के जिस्म पर कौन-से रंग और किस तरह के वस्त्र शोभित हो सकते हैं...किस चेहरे पर बालों की क्या स्टाइल सूट करेगी...

कहने का मतलब यह कि हमारी शिक्षा में वे सब बातें शामिल हो गईं जिनकी

ज़रूरत हमें आने वाली जिंदगी में पड़नी थी या मेरे संरक्षक यह सोचते थे, कि वे ज़रूरतें हमें पड़ेंगी।

हम लोग उन दिनों कठपुतलियों से अधिक कुछ नहीं थे, जिन्हें दूसरों के इशारों पर चलना था...और बखुदा, हम अपनी भूमिका निभा रहे थे...

काफ़ी अरसे तक यही सिलसिला चलता रहा, फिर हमारी मैडम ने पिता से बात करके पता नहीं क्या पट्टी पढ़ाई कि वह हमें स्कूल भेजने के लिए राजी हो गए।

दाखिला हमारी मैडम ने ही कराया और एक ऐसा समा हमारे लिए बांध दिया कि एक नॉर्मल बच्चे का जीवन हमें वहां भी नहीं मिल पाया। शायद वह हमारे लिए सम्भव भी नहीं था।

कुछ दिनों नियमित रूप से स्कूल जाने के बाद हमें यह पता चल गया कि हमारे पिता का दबदबा वहां खासा था।

अन्य बच्चों से अलग-थलग हम दिखाई पड़ते थे। और हमारी मैडम ने इस बात का ख़ासा ख्याल रखा था।

मेरे पिता सरल स्वभाव के थे। सबसे मिलने-जुलने में विश्वास रखते थे। बेशक, यह सब ऊपर-ऊपर से था। हमे यह मालूम था कि उनका अहम् कितना उद्दाम है और हम यह भी देखते थे कि विनम्रता के परदे मे कितनी दृढ़ता से वह उसे छिपा भी लेते थे। हमे भी मौक़ा मिलता तो उनके पदचिन्हो पर चल सकते थे लेकिन हमें तो जान-बूझ कर असाधारण बना दिया गया क्योंकि हम असाधारण पिता की संतानें थीं।

बड़ों को अपने बारे में कहते सुना था :

'इस लड़की का अहं तो आसमान छूता है।' और शायद यह सच भी था।

मैं शैतान भी थी। 'आफत की परकाला' की उपाधि मिली थी मुझे।

कक्षा की लड़कियों को अपनी लीडरी मे लेते मुझे देर नहीं लगी। जल्दी ही स्कूल की अन्य हमउम्र लड़कियां भी मेरे दल में शामिल हो गईं।

आए दिन अपनी अध्यापिकाओं को तंग करने के नए-नए साधन जुटाना हमारा प्रिय खेल बन गया। इस खेल में जीत-हार भी थी, दण्ड भी था। लेकिन मुझे दण्ड देने से पहले सोचा जाता। बहुत हुआ तो मेज पर मुझे खड़ा कर दिया गया...अध्यापिका की नजर बचा कर, हंसना, तरह-तरह की शक्लें बनाना जैसे 'रिफ्लेक्स ऐक्शन' की तरह चलता रहता। मैं जानती थी मेरी शिकायत आसानी से मेरे घर तक नही भेजी जाएगी। स्कूल की मजबूरियां जो भी रही हों, मैं इन मजबूरियों का पूरा फायदा उठाने में बहुत जल्दी माहिर हो गई थी और मेरे पीछे मेरी मण्डली पूरी तरह सुरक्षित थी।

मेरी सभी सहेलियां बड़े घरों की बेटियां थीं। हमारा एक पूरा गुट बन गया था।

ज्यादा मनमानी की गुंजाइश नहीं थी क्योंकि हम मिशन स्कूल में पढ़ते थे। लेकिन हमारा दबदबा तो था ही। यह बात और है कि उस समय दबदबे का सही अर्थ हमारी समझ से परे था।

कुल मिला कर स्कूल के दिन बुरे नहीं थे।...

उन दिनों घर में मेहमानों का तांता लगा रहता, पता नहीं क्या मौक़ा था...ठीक से याद नहीं।

वैसे तांता लगा रहना मेरे घर के लिए कोई नई बात नहीं थी। अपना घर-बार, डेरा-डण्डा छोड़ कर लोग आते और महीनों हमारे घर में जमे रहते। इन आने वालों में मां के दूर-दराज के रिश्तेदार ही अधिक होते...

मेरी मां एक साधारण परिवार से इतने वैभवशाली घर मे आ गई थीं कि उनका सुख-सुकून देखने आने वालों की ही कमी नहीं थी और उनके स्वागत-सत्कार में मा दस क़दम आगे ही रहतीं। वक्त-बेवक्त कोई भी आ जाय, चौका उठ गया तो, महाराज रसोई बंद करके चला गया हो, आने वालों को खिलाने-पिलाने के लिए रसोई खुलती, चौका सक्रिय होता, नींद से उठा कर महाराज बुला लिया जाता...

कभी किसी वजह से यह भी नहीं हो पाया तो मां खुद रसोई मे घुस जातीं, हम बड़े हुए तो यह जिम्मेदारी हमारे सिर आ गई और अब भाभी निभाती हैं सारी मेज़बानी। लेकिन मा के रवैये में कोई अंतर नही आया।

अब तो दिखावे जैसी कोई बात भी नहीं लेकिन पुरानी आदत कहां छूटती है। इस आदत के अलावा एक बात और मुझे लगती है, मेरी मा को इस तरह खिला-पिला कर एक खास तरह का आनंद मिलता है।

शायद वही आनंद भाभी को भी मिलता है क्योकि इस तरह मौक़े-बेमौक़े लोगों के आ धमकने के प्रति कभी उन्होंने कोई आक्रोश जाहिर नहीं किया। बल्कि बड़ी तत्परता से स्वागत-सत्कार मे जुटी रहती हैं।

हमारी भाभी एक बड़े सयुक्त परिवार से आई है। शायद उनके घर में भी यही सब होता हो...

भाभी का वक्त-बेवक्त इस तरह मेहमानों के स्वागत-सत्कार मे लगना हमें अच्छा तो न लगता लेकिन हमने कभी दखल नहीं दिया, न ही कभी उन्हें भड़काने की कोशिश की। 'करती हैं तो करें' सोच कर हम अपनी-अपनी व्यस्तताओं में खो गए थे। और व्यस्तताएं भी क्या ?

स्कूल या बड़े होने के बाद कॉलेज। दोनों ही बहाना रहे हमारे लिए। मौज-मस्ती के अलावा हमने कभी कुछ नहीं किया। दूसरों को छेड़ना, चिढ़ा देना, खिंचाई करना

हमारे मनोरंजन का मुख्य मुद्दा था।

कभी किसी को बहन जी कह कर पुकार लिया। कभी किसी की चुन्नी पकड़ कर हवा में उछाल दी, पतंग की तरह उड़ाते रहे। पढ़ाई के समय किसी एक की गाड़ी में लद कर चाट खाने निकल पड़ना, मौसम अच्छा हो तो लम्बी ड्राइव के लिए निकल पड़ना, कभी किसी सहेली के साथ उसके प्रेमी के घर जाना। लोगों को अपनी ओर आकर्षित करना और इस आकर्षण को लम्बा खींच कर मज़े लेना।

मेरी हुलिया कुछ इस प्रकार की थी...

एक दुबली-पतली, गौरवर्णा छरहरी लड़की जिसे सुंदर कहा जाता था लेकिन मेरे चेहरे का प्रमुख आकर्षण था दाड़िम की तरह एक सहन चमकते हुए मेरे दांत जिनके बीच मेरी हंसी खिल पड़ती थी। और हंसने-हंसाने की लत ऐसी कि मेरे साथ घड़ी भर भी कोई चुप नहीं रह सकता था।

हमारी मैडम भी इसकी अपवाद नही थीं। हमें कुछ कहने वाला वहां कोई नही था। एक आध बार शुरू-शुरू मे मैडम ने मां के पास शिकायतनामा भेजा जरूर था, लेकिन उनको वश में करना क्या मुश्किल था। मैडम यह बात जल्दी ही समझ गई थीं और हमारे लिए मैदान साफ हो गया था।

और मां ? उन्हें बहला-फुसला कर बात को ऐसा मोड़ देती कि मैडम की जगह मां मेरी बात पर ही भरोसा करतीं और शिकायत आई-गई हो जाती।

लड़कियों में मां की लाड़ली मैं ही थी।

वर्षो तक मां के साथ सोने का सौभाग्य मुझे ही मिला था। उनके साथ हर जगह जाना हमेशा मेरे ही हिस्से में आया।

बहुत दिनों तक मैं यही सोचती रही कि मेरे प्रति मां के आकर्षण का प्रमुख कारण क्या हो सकता है। तब एक विचार कौंधा, मेरी आकृति, शारीरिक बनावट, देहयष्टि शायद मेरे पिता से बहुत मिलती थी, वरना लड़कियों के लिए इतना कद साधारण नहीं कहा जा सकता।

'पितृमुखी लड़की बड़ी भाग्यवान होती है।' मां अक्सर कहा करतीं।

पहले उनके कथन का सही अर्थ मैं नहीं समझ पाई और जब समझी तो कहीं अपने पर गर्व भी हुआ।

मैं किसी भी दृष्टि से भाग्यशाली नहीं मानी जा सकती। यह भी सच है कि मेरे जन्म के बाद से घर की लक्ष्मी रूठने लगी थी...

शायद उनका विस्तार मेरे पिता के जीवन में इतना हो गया था कि लक्ष्मी के रूठने की खबर उन तक पहुंचे इसमें भी काफी समय लगा। क्योंकि पिता मेरे लिए कहा करते :

'यह लड़की भाग्य का भी भाग्य बन कर मेरे घर में आई है।'

मैं जानती हूं कि अगर लक्ष्मी के रूठने का एहसास उन्हें होता-तो शायद यह

बात वह न कहते।

ऐसे थे मेरे पिताश्री। छोटे-मोटे नफा-नुक़सान उनके लिए कोई मायने नहीं रखते थे।

जहां तक मेरा सवाल है, मुझे अच्छा खाने और अच्छा पहनने का शौक था और मेरे लिए हमेशा से अच्छी चीजों का ढेर लगा रहता था।

मेरे भाग्य में भी शायद कोई विशेष लकीर थी। जहां जाती, वहीं मेरी पूछ होती।

किसी सहेली के यहां पहुंचती तो मेरा बड़ा मान-सम्मान होता...एक बड़े बाप की बेटी जो थी।

ऐसा कोई नियम तो नहीं है। लेकिन मेरी चौकड़ी की सारी लड़कियां चूंकि धनवान थीं इसलिए शैतान भी थी।

चोरी-चोरी हम दूसरों का लंच बॉक्स खोल कर माल उड़ा ले जाते। किसी की किताब उठा कर कहीं छिपा दी और इसी तरह की अन्य-अनेक हरकतें।

एक मैडम मेरे पड़ोस में रहती थी। अक्सर मुझे पास बुला कर भाषण पिलाने लगतीं :

'क्यों ऐसा करती हो बेटे, इतने ऊंचे घर की लड़की हो, इस तरह की ओछी हरकतें क्या तुम्हें शोभा देती हैं...यही आदतें पड़ी रह गईं तो आगे की जिंदगी में क्या कर्म ढोओगी...'

हम सिर नीचा करके भाषण सुन लेते और जैसे ही क्लास से जाने के लिए मैडम पीठ फेरतीं हमारी हंसी का फव्वारा छूट पड़ता...

कभी पकडे जाते तो नाटक भी खासा कर लेते...आंखों से आंसू बहाना, औरों को लारे-लक्मे देना, सफेद आंख में धूल झोकना, एक-दूसरे को बचाने के लिए झूठ बोलना हमारे बाएं हाथ का खेल था।

अगर किसी के लिए जरा-बहुत इज्ज़त मेरे मन में थी तो वह हमारे पिता थे। जरा-बहुत इसलिए कि उनसे साबका ही बहुत कम पड़ता था..

दिन जो बीत गए अच्छे ही थे, कुछ देकर गए, हल्की-फुल्की स्मृतियां, खट्टे-मीठे अनुभव, आने वाली जिंदगी के कुछ अच्छे-बुरे संकेत...

हम बहनो का हिसाब-किताब कमोबेश ठीक ही था। समस्या थी भाइयों की और उनमें भी बड़े भाई केशव की...

मेरा भाई केशव पढ़ने-लिखने में रत्ती भर भी रुचि नहीं ले पाया, न अपने आपको बुरी संगति से बचा पाया।

पिता का नाम था और मां ने तिजोरी खोल दी थी इसलिए एक के बाद एक

कक्षाएं तो उसे मिलती गईं। मास्टर डट कर माल उड़ाते और पैसा लूटते रहे। भाई अगर सीख-पढ़ नहीं पाया तो इसमें उनका क्या नुक़सान हुआ।

अमीर बाप का बेवकूफ बेटा अगर हाथ लग जाय तो बदमाशों की बन आती है। वह जमाना आज की तरह हिंसात्मक न सही लेकिन समाज जब से बना उसमें बुरे लोगों की कमी तो कभी नहीं रही।

मेरा भाई बदमाशों से घिरा रहने लगा। दोस्त बन कर फाटक के अंदर दाखिल होते, हंसते-मुस्कुराते उसके कमरे तक जाते और चाकू दिखा कर उससे पैसे ऐंठते, उल्टे-सीधे काम कराते। ना-नुकर करता तो खून करने की धमकी देते, बाथरूम में उसे नंगा करके उसके साथ उल्टे-सीधे सलूक करते, पैसे-पुस्तकें उससे छीन लेते। और वह, चुपचाप सब कुछ सह लेता...उससे उसके साथियों को और प्रोत्साहन मिलता। उनका उत्पीड़न बढ़ता और मेरा भाई अपनी ही नजर में लघु से लघुतर, डरपोक और एक सीमा तक विक्षिप्त होता गया।

ऐसा नहीं था कि मां के पास ये बातें पहुंचती नहीं थीं लेकिन पता नहीं क्यों वे सारी बातें पोशीदा रख लेतीं, पिता कुछ पूछते तो टाल-मटोल जातीं...

भाई को कोई कुछ कहे, यह मां किसी भी तरह बर्दाश्त नहीं कर पातीं। और इसीलिए मेरा भाई बिगड़ता भी चला गया।

मां का पल्लू मेरे भाई का सुरक्षा-गृह बन गया।

मां काफी कुछ समझती थीं लेकिन अपने को झुठला ले जातीं। उन्हें यह ग़वारा नहीं था कि कोई कहे कि उनका लाड़ला बेटा नार्मल नहीं है।

असलियत से आंखें चुराने की उनकी अपनी मजबूरियां रही होंगी। शायद मान लेतीं तो दो पाटों के बीच उनका अपना ही दम घुटने लगता या और कुछ होता...इसलिए असलियत को नकारना उन्हें अपने हक़ में लगा और वह सारी जिंदगी उसे नकारती रहीं। सही स्थितियों से अनजान बने रहने की कला उन्होंने विकसित कर ली और इसी तरह शायद अपने जीवन में आने वाली कठिनाइयों से थोड़ा-बहुत नजात पाती रहीं।

ऐसा नहीं था कि भाई बड़ा सुर्खरू था, उनकी तई। कभी-कभी ऐसा झटका देता कि सब सकते में आ जाते, घराने का नाम, कुल की इज्जत-मर्यादा किस पक्षी के नाम हैं वह नहीं जानता था। ऐसे कई वाक़या हैं जो इस रवैये की पुष्टि करते हैं।

उन्हीं में से एक आपसे मुखातिब है।

एक दिन मां पूजा से उठ कर मुख्य दालान की ओर आ रही थीं कि दीवान सिंह ने उन्हें सूचना दी :

'बड़े बाबू किसी दुर्घटना में फंस गए हैं। कुछ लोग उन्हें मारने की धमकी दे रहे हैं...'

मां की आंखें फट कर बाहर निकलने लगीं। किसी तरह अपने आपको संभालती हुई वह व्यग्र हुईं :

'क्या हुआ, वह ठीक तो है न, तुम्हें कैसे पता चला। किसने दी यह सूचना तुम्हें ?'

दीवान सिंह क्या जवाब देता है इस तरफ मां का ध्यान नहीं था। शायद वह अंदर ही अंदर धरती से प्रार्थना कर रही थीं कि वह फट जाय और सीता की तरह उन्हें अपनी गोद में छिपा ले।

दीवान सिंह कुछ कह रहा था, कहते-कहते अचानक रुक गया। मैं मां के पीछे वाले दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई।

दीवान सिंह की खोई हुई हिम्मत जैसे वापस आ गई। किसी तरह उसे मां को जवाब तो देना ही था :

'बाबू ने किसी को मोटर से टक्कर मार दी है, बड़ी चोटें आई हैं उसे...लोगों ने घेर लिया है...मुनीम जी मामले को रफा-दफा करने की कोशिश कर रहे हैं...एक मोटी रकम देनी पड़ेगी, मुनीम जी कह रहे थे...'

'तो यहां मेरे पास क्यों आए हो, लड़के को छुड़ा कर लाना तो है, जाकर कहो मुनीम जी से...' क्रोध मां को आता नहीं लेकिन जब आ जाता है तो उनके हाथ-पांव फूलने लगते हैं...उस दिन भी यही हुआ।

मुझे वहां देख कर मां सहम गई। गुस्सा मुखर हो जाता तो इतना नुकसान-देह न होता लेकिन मै क्या करती।

मां को तसल्लिया देने का मूड नही बना। मैं जानती थी कि अभी थोड़ी देर में खेल में हारे हुए बच्चे की तरह छोटा-सा मुंह बना कर मेरा भाई आएगा। अपनी सफाई में हजार झूठ बोलेगा और मां बाहें पसार कर अपने बेगुनाह बेटे को स्वीकार कर लेंगी और सबसे कहती फिरेंगी उनका बेटा दोषी नहीं था, गलती तो उसकी थी जो गाड़ी के नीचे आ गया।

और हुआ भी यही। पता नहीं कितनी रकम दे-दिवा कर मामला रफ़ा-दफ़ा कराया और बेटे को बांहों में समेट कर हिदायत देने लगीं कि कुछ दिनों तक वह घर में ही रहे, बाहर वालों से मिले-जुले भी नहीं।

लेकिन केशव बाबू कहां मानने वाले थे। जैसे-तैसे वह शाम बिताई। दूसरे दिन निर्भयता से हठधर्मी का मुखौटा मुंह पर लगा कर वह बिना किसी को बताए, कुछ कहे सुने गाड़ी लेकर निकल गया अपनी धमाचौकड़ी पर...

पिता की सम्पत्ति और उनके नाम का जैसा दुरुपयोग मेरे इस भाई ने किया वैसा किसी ने नहीं किया। मेरी मां को जितनी व्यथा इस भाई ने दी उतनी किसी और ने नहीं दी, केवल मेरी मां उस असलियत को स्वीकार कभी नहीं कर पाईं।

गनीमत थी कि उस मामले में पुलिस केस नहीं बन पाया। मुनीम जी अक्सर

अपनी सूझ-बूझ से मामला निबट लेते, बातों को तोड़-मरोड़ कर, काट-जोड़ कर इतना फैलाते कि उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते आप।

बहरहाल...जैसे-तैसे तनाव कुछ कम हुआ। फिर बात आई-गई भी हो गई।

मेरे घर में बात आई-गई होकर खत्म हो जाय ऐसा कभी नहीं होता। मुझे कुछ नया होने का आभास रहने लगा था और जब वह प्रत्यक्ष हुआ तो सारे घर में खुशी की एक लहर दौड़ गई।

बात थी मेरे उसी नालायक भाई की शादी की।

जैसा भी था, भाई था। उसकी जिंदगी में इतने बड़े परिवर्तन की खुशी तो हमें होनी ही थी।

लेकिन जिस कारण विवाह की बात सोची गई वह ठीक नहीं लगी मुझे।

मां को कहते सुना :

'सुधार का यही एक रास्ता बचा है। मुझे पूरी उम्मीद है ब्याह के बाद वह बदल जाएगा।'

बस, उसी उम्मीद के सहारे उनकी दुनिया आगे बढ़ी थी।

भाई को कई लड़कियां दिखाई गई थीं जिनके लिए वह मना करता रहा था। अब नए सिरे से उसे समझाने का दौर चला। पहले बाहर वाले फिर घर वाले और अंत में मां।

उसे पास बिठा कर कहने लगीं :

'क्यों मना कर रहे हो, तुम्हें चिंता किस बात की है, मैं हूं न, मेरे रहते तुम्हें चिंता किस बात की है ?...'

उस भाई को चिंता पहले भी कहां थी, आगे भी क्या होने वाली थी। हम लोग तो उसे जानते-समझते ही थे।

जानती तो मेरी मां भी थीं लेकिन उस जानकारी के प्रति अनजान रह कर वह अपने को ज्यादा सुरक्षित महसूस करतीं, मैं तो कम से कम यह बात जानती ही थी।

बहरहाल, भाई की शादी हुई और जैसा कि मैं जानती थी मां की परेशानियां बहुमुखी होकर बढ़ने लगीं।

नई भाभी के आते ही मंझला और छोटा भाई, उसी के गिर्द चक्कर काटने लगे और वह है भी ऐसी 'चीज'। देवरों के लिए तो वह जादू की छड़ी बन गई जिसे छूने से ही सारे काम सिद्ध हो सकते थे।

भाभी के परोसे हुए खीर-खांड के व्यंजनों में उन्हें अमृत का स्वाद मिलता और वे मस्त-अलमस्त पड़े रहते। उन्होंने तो धीरे-धीरे कहीं बाहर आना-जाना भी छोड़ दिया। उनकी शक्ल देखने के लिए तरसने वाले लोगों के लिए घर गुलजार रहने लगा था और जिस बहू की वजह से यह परिवर्तन हुआ वह तो घर का चिराग़ बन कर सारे अंधेरों को रोशन करने लगी थी...

मां की जिम्मेदारियों का लबादा बहू ने बड़ी होशियारी से ओढ़ लिया था।

कहने का मतलब यह, कि देखते ही देखते सारा घर बहू के कदमों पर आ गया।

परिवार के पुरोहित, पुजारी, कर्मचारी...सबके सब प्रसन्न...क्या बहू मिली थी मेरी मां को, जिधर से गुजरती हवा का एक ताजा झोका लहक जाता। अच्छाइयां इस सीमा तक फैलने लगीं कि उन्हें नार्मल नहीं कहा जा सकता था।

भाई की शादी, भाभी का आना, सारे घर में आनंद की लहर। ताजी हवा के झोंके की तरह भाभी का लहकते फिरना...कहीं कुछ था जो चाबुक की तरह लगता कि सब दिखावा है, कुछ है जो नहीं है...

और जल्दी ही इस बात का पता भी चल गया।

क्योंकि जो व्यक्ति मेरी भाभी को ब्याह कर लाया था उसने अपनी बीवी से खास सरोकार रखा ही नहीं।

किसी ने कुछ कहा तो झट जवाब मिला :

'मां ब्याह कर लाई है, निभाएं अपनी जिम्मेदारियां...'

पहले तो भाभी को इन बातो का खास पता ही नहीं चला। सारे घर का प्रेम पाकर वह विह्वल हो गई।

अपनी रातों की उदासी, आत्मग्लानि, वैवाहिक बंधन का न जुड़ना...यह सब उसे बहुत दिनों तक दिखाई ही नहीं पड़ा। और जब धीरे-धीरे एहसास जागा तो दिन के प्रकाश में मन का अंधेरा छिपाने के लिए वह क़तरा-क़तरा जगह की तलाश करती फिरती।

बहुत दिनों तक मेरी भाभी मन की वीरानी किसी से कहने का साहस नहीं जुटा पाई।

सती अनुसूया ने किसी जमाने में रात को सतीत्व की सान पर चढा कर सूर्य को उगने से रोक दिया था। मेरी भाभी दिन को सुरसा के बदन या हनुमान की पूंछ की तरह बढ़ा देना चाहती थी कि रात आए ही न, जिसके काटने की दहशत से उसका रौशन चेहरा स्याह पड़ जाता, उसकी खिली हुई हंसी मरघट की तरह सूनी हो जाती थी।

बहुत दिनों बाद जब उसके दुखों का पता चला तो हमारे कलेजे मुंह को आए लेकिन मेरी मां हमेशा की तरह अनजान बनने की भूमिका निभा ले गईं। हालांकि

भाभी उनकी आंखों का तारा, जिगर का टुकड़ा थी लेकिन अपना जाया बेटा तो कोई नहीं हो सकता।

पाषाण प्रतिमा-सी भाभी बैठी रहती।

भाई मन ठीक रहता तो थोड़ा बोल बतिया लेता। यह एहसास करा देता कि ब्याह कर उसे मां लाई हैं, इसलिए सारी जिम्मेदारियां वही उठाएंगी...फिर सो जाता।

मन ठीक न रहता तो जूते-कपड़े उतार कर इधर-उधर फेंकता फिर नशे में डूबे भैंसे की तरह जाकर सो जाता।

भाभी किसी जंगल की इकलौती झील की तरह जागती रहती। कभी बैठती, कभी टहलती, कभी औंधे मुंह पलंग के किनारे लगे सोफे पर गिर जाती।

उसका खिला हुआ चेहरा धीरे-धीरे कुम्हलाने लगा और मैंने एक गहरा लगाव अनुभव किया उसके प्रति। अच्छी वह मुझे पहले भी लगती थी लेकिन वह अच्छा लगना स्पर्द्धात्मक अधिक था। अब उसके लिए मन में दर्द जागने लगा। उसके दुख से मेरी आत्मा पीडित हुई। हम बड़े वेग से एक-दूसरे के क़रीब आ गए। भाभी का विश्वास मुझ पर बढ़ी और मेरी शादी के बाद तो हमारे बीच की रही-सही दूरियां भी मिट गई...

भाभी के परिवार से मेरे पति के परिवार का परिचय पहले से ही था...

मेरे विवाह में भाभी ने बड़ा उत्साह दिखाया। अपने सारे कपड़े-जेवर उसने लाकर मां को दे दिए, मुझे देने के लिए...

पिता बीमार चल रहे थे उन दिनों, मां का हाथ तंग था...

पिता अपनी वसीयत लिखवाने में जरूरत से ज्यादा ही उलझे नजर आ रहे थे उन दिनो।

सारी उम्र जिसने दहकती हुई चिंता की चिनगारियों के बीच काट दी थी वह अब भी कतरब्योंत का बंदरबांट चला रहा था। उन्हे चिंता थी किसी के साथ कोई ज्यादती न हो जाय।

व्यापार में नफ़ा-नुकसान, तत्कालीन राजनीतिज्ञो से सीधा टकराव, आग से खेलते रहने की विवशता।

इतना समय बीत जाने पर भी मैं उनके चिंतातुर शक्ल भूल नहीं पाई हूं।

पिता से मैं सर्वाधिक खुली हुई थी।

देर तक बातें करने का मेरा शौक और कहीं संतुष्ट हो ही नहीं पाता था।

पिता अच्छे मूड मे होते तो कहानियां सुनाते, भाषण देते, हमें यह समझाते कि धार्मिक पुस्तकों में चर्चित उज्ज्वल चरित्र वाली स्त्रियां, पति और परिवार के

प्रति कितनी समर्पित होती हैं, कितनी तपस्या, कितना त्याग होता है उनकी जिंदगियों में और यह कि हमें भी वैसा ही बनना चाहिए।

'नारी की पहचान उसका पति ही होता है।' वह कहा करते।

आजकल की लड़कियों की वेश-भूषा और उनके खुलेपन के कट्टर विरोधी थे मेरे पिता। एक बार आलोचना शुरू करते तो घण्टों सिलसिला चलता रहता था।

पता नहीं कितनी वर्जनाओं को झेलते हुए हमें अपना रास्ता निकालना पड़ता था।

मैं जानती हूं प्रतिबंध। अनुशासन की घुट्टियां जितनी पिलाई गईं स्वतंत्रता नाम की चीज हमारी परिकल्पना में सबसे मुख्य बन गई और उसे हासिल करने के लिए हम नित्य-नए रास्ते सोचा करते थे।

भाभी जब घर के प्रबंध में व्यस्त रहतीं, मैं आसपास खड़ी उन्हें कॉलेज के किस्से सुनाया करती। जितनी तत्परता से वह अपनी व्यवस्था सभालतीं, उतनी ही तत्परता से मेरे किस्से सुनतीं, अपनी राय देतीं। अगर मैं ज़िद करती तो गाना भी सुनाती थीं, धीरे-धीरे, जो हम दोनों के कान तक ही पहुंच सके।

हमारे दिलों में एक लगाव-सा पैदा हो गया जो हमारे रिश्ते से नितांत अलग था और दोनों ओर से बराबर था।

वैसे तो भाभी की दोस्ती मेरी सभी बहनों से थी, बड़ी बहन से भी जो कभी-कभी आती-जाती रहतीं, लेकिन मां की बनाई हुई मर्यादाओं की जितनी हम आलोचना करते भाभी उतने ही प्यार से उसे संजो लेती थीं।

भाई ने भी कई बार हमारे सामने ही उनसे कहा था :

'मैंने अपनी मां की वजह से तुमसे शादी की है। उन्हीं की सेवा में मेवा कमाती रहो।'

बेशक, यह बात सबके सामने हंसते-हंसते कही गई थी लेकिन भाभी ने इस एक वाक्य को महावाक्य समझा और अपने सहने की सीमा तक इसे निभाती भी रहीं।

भाभी का दुख बांटने की कोशिश हम अपने-अपने ढंग से करते रहते, एक बड़े भाई को छोड़ कर क्योंकि भाभी हम सबकी प्यारी थीं। उनके लिए हम किसी से भी झगड़ा मोल लेने के लिए कभी भी तैयार हो जाते।

भाई से हमारा संवाद नहीं था। एक तो वह हमारे सामने पड़ता नहीं था और पड़ भी गया तो आंखें बचा कर निकल जाता। हम भी उसे घोर उपेक्षा के भाव से देखते।

हमारे इस आचरण का मां पर यह प्रभाव पड़ता कि वह सोचतीं हम भाई-भाभी

के बीच दीवार बनते जा रहे हैं, या भाभी को भाई के खिलाफ भड़का रहे हैं। भाभी को उसकी पिछली करतूतों का लेखा-जोखा दे रहे हैं जो उनके हिसाब से नितांत गलत था। कि हम उसका घर तोड़ कर अपना मतलब साध रहे हैं।

भाभी से हम क्या मतलब साध सकते हैं यह पूछने का साहस किसी में नहीं था। मैं मां से यह सवाल पूछ सकती थी लेकिन उनका दिल यूं ही दुखाने का मेरा मन भी नहीं करता था। आखिर मां के हम दुश्मन नहीं थे, उनकी परेशानियां भी समझते थे...

अजीब कशमकश का आलम था लेकिन वक्त तो फिर भी गुजरता ही रहता है।

भाभी के विवाह के ठीक एक वर्ष बाद मेरा विवाह हो गया था। मेरे ससुराल वाले उस समय बड़े घर के न सही, पर लड़का मुझे पसंद था।

मां ने बड़े-बड़े घरों के कई रिश्ते मेरे सामने रखे। अपने ढंग से दबाव डालने की कोशिश भी करती रही लेकिन मैं अपनी बात और अपनी पसंद पर अटल रही क्योंकि अरुणाभ मुझे अच्छा ही नहीं लगता था, मैं उससे प्यार भी करने लगी थी।

अरुणाभ का पूरा बाहरी व्यक्तित्व मेरे घर के सभी पुरुषों में बेजोड़ था–उसकी छः फुटी काया, गठित-कसरती देहयष्टि आजानु बांहें, ऊंचे ललाट पर झुके-झुके घने, काले केशों के रेशमी गुच्छे, चकमक-सी आंखें...कुल मिला कर किसी जगे हुए भाग्य की तरह का उसका आकर्षण मुझे उससे पूरी तरह बांध चुका था।

धन-सम्पत्ति में जड़े हुए मां द्वारा प्रस्तुत सभी प्रस्तावों को ठुकरा देने का मुझे कोई अफसोस नहीं था। घर के दूसरे लोग भी मेरी जिद पर कुछ नहीं कह पाए, क्योंकि एक बार जिसकी नजर अरुणाभ पर पड़ी, वही उसका दीवाना होकर रह गया।

थक-हार कर अंत में मां ने भी उसका लम्बा इण्टरव्यू ले डाला। मुझसे तो कुछ नहीं बोलीं लेकिन पिता से उन्होंने कह दिया, 'कामिनी अपनी जगह कृत संकल्प है, विवाह इसी लड़के से करना पड़ेगा...'

पिता ने कुछ समय तक आपत्ति का सिलसिला जारी रखा क्योंकि अरुणाभ का परिवार साधारण था। खानदानी पैसा या रुतबा कुछ नहीं था। हमारे परिवार के जोड़ का तो था ही नहीं। उसके घर का रहन-सहन भी हमारे घर के मुकाबले बहुत साधारण था और उसकी माली हालत वर्तमान में क्या थी, यह जानने का कोई सूत्र मेरे अलावा किसी के पास नहीं था। लेकिन अंततः पिता को सभी आपत्तियों को एक तरफ रख कर मेरी बात स्वीकारनी पड़ी। शायद नियति यही थी, और पिता के सामने इसे स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं था।

मेरे श्वसुर ने बेटे के विवाह को लेकर कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की कि रिश्ता उन्हें पसंद है या नहीं। चुपचाप शादी का माहौल बनाए बिना ही उन्होंने हमारी शादी हो जाने दी।

दान-दहेज के खिलाफ मेरे श्वसुर अपनी गैर रजामंदी जाहिर कर चुके थे। साफ शब्दों में कह दिया, 'हमे दहेज नही चाहिए।' यहां तक कि मां ने शगुन मे जो कुछ भेजा वह भी उन्होंने लौटा दिया था।

कुछ लोग कह रहे थे मै उनके पसद की वहू नही हू। शायद वह किसी अज्ञात कुलशीला को अपनी वहू बना कर अधिक प्रसन्न होते लेकिन नियति ने उनकी एक नहीं चलने दी। जिस तरह मेरे घर-परिवार वालों को मेरी जिद के सामने झुकना पड़ा उसी तरह उन्हें भी अपने पुत्र की चाहत के आगे झुकना पड़ गया।

यह बात एक दिन या किसी एक मौके की नही थी। मेरे श्वसुर जब तक जीवित रहे मुझसे उखड़े-उखड़े ही रहे। उन्होंने कभी प्यार से मेरा अभिवादन स्वीकार नहीं किया।

लोग कहते, वह बहुत विद्वान है लेकिन उनकी विद्वत्ता को परखने का एक मौका भी मुझे नहीं मिला।

इतना जरूर मैं जान गई कि वह आदर्श के तौर पर माओ के दर्शन से प्रभावित थे और व्यवहार के तौर पर अपनी ही हाकते रहते थे। वही साम्यवादी सोच और उसी सोच की पुस्तकों का अध्ययन-मनन।

एक बात जरूर मैंने देखी जो अपने घर में मुझे देखने को नहीं मिला था। वह पढ़ते बहुत थे। वण्डल भर दैनिक अखबार, जिन्हे आधे दिन की उनकी मानसिक खुराक कहा जा सकता है।

एक अजीब पर खास शख्सीयत थी उनकी। मोटरो के अजहद शौकीन थे। तरह-तरह की गाड़ियो की क़तार उनके वगले पर खड़ी रहे तो उन्हें बहुत अच्छा लगता था।

हजारों एकड़ जमीन के स्वामी थे मेरे श्वसुर पर गाड़ी खुद चलाते थे। कपड़े एकदम साधारण और उनसे भी साधारण भोजन।

कभी-कभी विरोधी मान्यताओं से जूझते रहना उन्हें अच्छा लगता था।

मेरी मान्यताओं में उनके लिए एक ही शब्द था—'हिपोक्रैट'...लेकिन यह बात मैं किसी से कह नहीं सकती थी, इसलिए नहीं कि मुझे किसी तरह का डर था उनसे। बल्कि इसलिए कि वह उस व्यक्ति के पिता थे जो मेरा पति था और उससे मैं प्यार करती थी।

मुझे याद है, मेरे पिता के स्वर्गवास के बाद अचानक वह मेरे मायके वालों के प्रति

बहुत संवदेनशील हो गए थे।

मां के पास अक्सर आकर बैठ जाते। मां को हमेशा बड़े घर का मुखौटा उतार फेंक कर यथार्थ से जूझने की सलाह देते। हमारी आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिए अपनी संवदेनाएं ही नहीं, प्रयास भी उन्होंने बहुत किए। अपना कीमती समय भी हमें दिया। पर मुझसे कभी खुश नहीं हो पाए, न ही उन्होंने कभी अपनी पुत्रवधु को प्यार की नजर से देखा।

मैं उनकी आंखों की किरकिरी हमेशा बनी रही और एक दिन तो सारी सीमाएं उन्होंने तोड़ दी...

सुबह-सुबह उस दिन मां के पास पहुंच गए। कुछ उत्तेजित भी थे। बात करते-करते अचानक आवाज ऊंची हो जाती। उनकी सारी बात तो हम तक पहुंच नहीं पाई लेकिन किसी बात से चिंतातुर मालूम पड़े। कुछ विक्षिप्त भी।

बेवक़्त उनके आगमन की बात सुन कर मां जल्दी-जल्दी गोल कमरे में आकर बैठीं।

दहके हुए अंगारे की तरह उनका क्रोध या नफ़रत से तपा हुआ चेहरा देख कर मां सहम भी गई होंगी।

मां को देखते ही एकदम से चालू हो गए। आव देखा न ताव, औपचारिकता भी भूल गए कि किससे बात कर रहे हैं। बस, बोलना शुरू किया तो बोलते चले गए।

किसी अनिष्ट की कल्पना से मां भयभीत हो गई। उनके मुंह पर हमेशा की तरह ताला लग गया। आंखें किसी सम्भावित भय से विस्फारित हो गईं।

किसी तरह अपने भय-आतंक पर काबू पाकर मां ने औपचारिकताओं पर ध्यान दिया। उन्हें बैठने के लिए कहा...उनके लिए चाय-पानी का आदेश दिया।

ऐसे मौक़ो पर मेरी मां, बंधे हुए पानी की तरह स्थिर होने में माहिर थीं।

मां के आदेश पर बैठे हुए मेरे श्वसुर की भारी-भरकम आवाज सुनाई पड़ी :

'आपने सुना कुछ ?'

मां का स्वर सुनाई नहीं पड़ा, पर उन्होंने अपनी प्रश्नसूचक निगाहें जरूर मेरे श्वसुर के चेहरे पर ले जाकर टिका दी होंगी...

गला साफ करते हुए उन्हीं की आवाज सुनाई पड़ी :

'आपकी बेटी ने मेरी इज्जत पर उस्तरा चला दिया है..."

मेरे खून में एकदम से उबाल आया। खानदानी संस्कार न मिले होते तो गोल कमरे में दाखिल होकर मैंने उनकी जबान थाम ली होती। लेकिन मेरी मां का लहू

बर्फ की तरह ठण्डा हो गया होगा, मैं जानती थी।

बहुत देर तक कमरे में सन्नाटा रहा, फिर मां की उखड़ी आवाज सुनाई पड़ी :

'क्या किया है मेरी बेटी ने ?'

'क्या नहीं किया !' वह बोले, 'उसी को बुला कर पूछिए उसने क्या किया है...' उनकी आवाज आवेश से कांप रही थी।

ऐसे मौक़ों पर उनके होंठ के बाहर का हिस्सा सफेद हो जाया करता था, आंखों से आतिश की बरसात झरने लगती।

मैं जानती थी कि मेरी मां के धैर्य की धज्जियां बिखरने लगी होंगी। उनके शिष्ट व्यक्तित्व का हर अणु किसी जड़ता में जकड़ गया होगा। दिल मेरा भी अपनी गति से थोड़ा तेज था लेकिन मुझे दहशत नहीं हुई, उत्सुकता वेशक थी ?

मां की भरसक संयमित आवाज मेरे कानों में पड़ी :

'मुझे तथ्य वताइए। इस तरह पहेलियां वुझा कर आप मेरे धैर्य की परीक्षा ले रहे हैं और अपनी व्यग्रता का प्रमाण भी दे रहे हैं।'

श्वसुर जी शुरू हुए :

'पहेलियां बुझाने की आदत मेरी नहीं है। मैं तो आपका लिहाज कर रहा था। लेकिन आप जब सीधी ही वात पर आना चाहती है तो सुनिए...मैं इतना तो जानता था कि आपकी बेटी में धनवानों के दुर्गुण होंगे, वह फिजूलखर्च और अय्याश होगी लेकिन उसकी कुलीनता पर मैंने कभी शक नहीं किया था। आपकी वेटी ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा।'

मां ने बात का अंतिम छोर पकड लिया :

'क्या नहीं छोड़ा उसने ? आप अब भी सीधी बात नहीं वता रहे हैं। आखिर उसने ऐसा क्या कर दिया। भाई साहब, मेरी संतानें संस्कारों की पुरातन जंजीरों से बंधी हुई हैं। ऊपर से चाहे वे कितनी भी आधुनिक दिखाई पड़ें। मै उनके चरित्र पर किसी तरह का लांछन वर्दाश्त नहीं कर पाऊंगी। मुझे लगता है आप किसी भारी गलतफहमी का शिकार हो गए हैं, या उसके खिलाफ आपके घर में कोई षड्यंत्र कर रहा है और आप उसकी लपेट मे बुरी तरह फंस गए है।'

उस दिन से पहले मैं इस वात की कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि वह निम्न वर्ग की घरेलू औरतों की तरह छल-छिद्र कर सकते हैं, हाथ-पांव मार कर अपना आक्रोश जाहिर कर सकते हैं, अबला, असहाय औरत की तरह रो भी सकते हैं।

वह मां के सामने रो रहे थे। पता नहीं उनके आंसू अपमान के थे या मानसिक यंत्रणा के, या फिर मेरे प्रति उनकी नफ़रत के।

मां ने उन्हें इस तरह बिफरते देख कर क्या किया मैं नहीं जानती लेकिन मुझे

उस गोल कमरे से किसी मरे हुए चूहे की सड़ांध आने लगी।

माहौल से मरदानी सिसकियां देर तक आती रहीं, उसके बाद मां का तेज-सशक्त स्वर सुनाई पड़ा :

'आप जो कुछ कह रहे हैं उसका कोई प्रमाण भी है आपके पास ?'

'प्रमाण ? मैं स्वयं प्रमाण हूं। कोई सुनी-सुनाई बात लेकर मैं आपके पास नहीं आया। अपने घर में होता हुआ अनर्थ मैंने स्वयं अपनी आंखों से देखा है। किसी ने कुछ कहा होता तो उसे गलत साबित करने की गुंजाइश होती लेकिन अपने आप को मैं कैसे झुठला सकता हूं ?'

इसके बाद देर तक खुसर-फुसर होता रहा। मैं सुन नहीं पाई लेकिन परदे के पीछे मेरी पूरी चेतना मेरे कानों में समाहित हो गई थी।

इस तरह की अनर्गल बात पर मां का कान देना मुझे बिलकुल अच्छा नही लगा। अंदर प्रवेश करने का भी मन नहीं हुआ लेकिन वहां खड़ा रहना भी मेरे लिए दुर्गम होता जा रहा था।

कुछ समय तक मै हां-नहीं के चक्कर में यूं ही खड़ी रही। फिर मेरे जमीर ने मुझे एक जोर का धक्का दिया। मैं परदा हटा कर कमरे में दाखिल हो गई।

आसपास की उबलती हवाओं और उमस भरे माहौल को मैने एक खारी नजर से देखा। मुझे लगा बड़े-बुजुर्गों के सामने मैं उद्दण्ड होती जा रही हूं। लेकिन उस समय खुद को संभालना या सब्र से काम लेना मेरे हाथ मे नहीं रह गया था।

मैं कुछ कहूं या पूछूं, इससे पहले ही मेरे श्वसुर धोती का छोर थाम खड़े हुए और लम्बे-लम्बे डग भरते हुए कमरे से बाहर हो गए।

मां को जिस हाल में बैठे देखा उससे ममता एकदम उमड़ आई। लपक कर मैं उनके गले से लिपट गई।

मैं उन्हें तसल्ली देना चाहती थी कि मैं बुरी नहीं हूं, कि मैने ऐसा कोई काम नहीं किया जिससे उन्हें नजर नीची करनी पड़े, लेकिन मां बड़े अजीब ढंग से मुझसे छिटक कर अलग हो गईं।

अचानक मैं अपनी नजर में बहुत छोटी हो गई।

मां को इस तरह पेश आने का क्या अधिकार था। इसका मतलब सुनी-सुनाई बात उनके लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गई और अपनी जाई मैं पराई, झूठी। मुझ पर उनका विश्वास नहीं। जो सुना वह ज्यादा सच हो गया था उनके लिए।

मेरी मां ब्रह्महत्या के पापी की तरह विरल-सी दिखाई पड़ीं। जैसे अपने होने का उनका विश्वास एकदम से डगमगा गया हो।

मैं अड़ियल टट्टू की तरह उनके सामने खड़ी की खड़ी रह गई।

मैं जानती थी मेरा वहां पर रुके रहना बिलकुल आवश्यक नहीं था लेकिन उस हाल में मां को अकेले छोड़ देना भी किसी तरह की अक्लमंदी नहीं हो

सकती थी।

ईश्वर पर विश्वास मुझे न सही पर अपने पर पूरा था।

मैंने सुना था मेरे श्वसुर शंकालु प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं, स्वयं अरुणाभ ने ही बताया था। उस दिन विश्वास हो गया कि उनकी शंका का जहर कितनी दूर तक, कितनी गहराई में उतर सकता था।

मेरे श्वसुर जैसा विद्वान, योग्य व्यक्ति इस सीमा तक पहुंच सकता है, मैं सोच भी नहीं सकती थी। लेकिन यह विश्वास उस दिन करना पड़ा कि वह कान के बेहद कच्चे हैं। और ऐसे हर मौके पर अपने कान की विशिष्टता से निकल कर दूर खड़े हो जाना उनकी विवशता थी।

किसी भी दृश्य-परिदृश्य के मर्म तक पहुंचने की जरूरत वह नहीं महसूस कर सकते थे। झूठी कहानियों के प्रति आकृष्ट हो जाने का रोग था उन्हें और पक्षपात रहित सीधी-सादी मेरी सास ताजिंदगी उनके गलत आरोपों को खोखला साबित करने की यंत्रणाओं से गुजरती रही थीं। पति के तेज गुस्से का शिकार होती रहीं।

इनकी संतानें जलते हुए अलाव की तरह इनसे दूर ही रहते आए थे, यह बात मैं कई-कई बार अलग-अलग व्यक्तियों से सुन चुकी थी।

आपकी उत्सुकता भी सिरमाथे पर...आइए, इस कहानी से आपको भी अवगत कराती चलूं...

मुझसे आधी उम्र का मेरा एक सौतेला देवर था।

अपनी मां के साथ वह अलग घर मे रहता था।

मेरी शादी के बाद परिवारो मे आना-जाना हुआ तो उससे मेरा परिचय हुआ। मुझे वह ठीक ठाक बालक जैसा ही लगा और मेरा व्यवहार भी उसके साथ वैसा ही रहा।

मेरी वह बहुत इज्जत करने लगा और मै उसकी प्रिय भाभी हो गई।

मेरे प्रति उसका इतना लगाव शायद मेरे श्वसुर को पसंद नहीं आया। कुछ संकेत भी मुझे उनकी ओर से मिले। लेकिन मैंने उस तरफ ध्यान नही दिया। मेरे हिसाब से वह बात ध्यान देने लायक थी भी नहीं।

कन्नू अबोध था। उसके लिए कोई ऐसी-वैसी बात मन मे आना किसी विकृत मस्तिष्क के लिए ही सम्भव हो सकता था। मेरा दिमाग विकृत नहीं था।

मैं यह स्पष्ट देख चुकी थी कि कन्नू अपने पिता से दहशत खाता है। उनकी आहट से भी वह भागा-भागा फिरता।

मैंने उससे कई बार पूछा भी लेकिन वह कुछ बता नहीं पाया। शायद अपनी दहशत का कारण उसे खुद भी पता नहीं था।

मैंने भी इस बात को ज्यादा तूल नहीं दिया। मेरे लिए तूल देने का कोई मतलब भी नहीं था।

हमारा मिलना-जुलना चलता रहा। वह घण्टों आकर मेरे कमरे में बैठा रहता। हम गप्प करते, गाने सुनते, वीडीओ देखते, कुछ नहीं तो अपनी-अपनी किताब-मैग्जीन लेकर पढ़ने में मशगूल हो जाते।

मेरे लिए इसमें छिपाने जैसी कोई बात ही नहीं थी। मेरे पति को कोई आपत्ति नहीं थी, कन्नू को मेरे पास देख कर उन्हें अच्छा ही लगता कि उनका भाई एक अच्छी सोहबत में है।

यही बात मेरे श्वसुर के मन में ईर्ष्या पैदा कर गई और एक छोटी-सी बात का उन्होंने इतना बड़ा बतंगड़ बना लिया। और मैं जानती हूं, इस बतंगड़वाद में मेरी सौतेली सास का पूरा हाथ था।

अपने जवान हो रहे बेटे का किसी से प्रभावित होना उनसे बर्दाश्त नहीं हुआ और कन्नू इतना भोला कि उन्ही से बता आया कि 'भाभी तो मेरे लिए खुदा के समान हैं, मैं उनकी बहुत इज्जत करता हूं।'

मेरे सामने जब यह बात रखी गई तो मै हस पड़ी।

'बच्चा है कन्नू, बड़ा होकर समझ जाएगा।' मैंने बात रखने वाले को समझा दिया।

बात आई-गई हो गई। मैं इसे भूल भी गई। मुझे इस बात का भान भी नही हुआ कि हम पर चौकस पहरे बिठा दिए गए हैं।

एक दिन कन्नू आकर मेरे पास बैठा। उदास था।

उसके सिर के बाल अपनी अंगुलियों से उलझाते हुए मैंने पूछा :

'क्या बात है कन्नू मियां, उदास लग रहे हो।'

'मैं जीना नहीं चाहता भाभी !' उसकी आंखों में आंसू तैर आए।

'क्यों भला...' मैं सहज बनी रही।

'यह भी कोई जिन्दगी है। अपने मन से करना चाहूं तो कुछ कर नहीं सकता, कहीं जाना चाहूं तो जा नहीं सकता। अब मै बड़ा हो रहा हूं, मुझे कुछ आजादी तो मिलनी चाहिए।'

'क्यों नहीं...मैं तुम्हारे भैया से बात करूंगी।'

'भैया कुछ नहीं कर सकते..'

'तो तुम्हीं कर लो...'

'इसीलिए तो कह रहा हूं मैं जीना नहीं चाहता...'

मैंने आगे बढ़ कर उसका माथा चूम लिया। ठीक इसी समय चौखट पर मेरे श्वसुर जी नमूदार हुए। घड़ी भर रुके और उल्टे पैरों वापस चले गए।

मैं समझ गई, इस बात का बतगंड़ जरूर बनेगा...

लेकिन वह बतंगड़ मेरी मां तक पहुंचेगा यह मैं नहीं सोच पाई थी।

मेरी और कन्नू की निकटता ऐसी कतई नहीं थी कि किसी की नाक कटे, या मर्यादा के परखचे उड़े। उसके लिए मेरे मन में ममता थी क्योंकि वह निरीह था। पिता से तो वह भागता ही फिरता था, मां के पास उसे समझने वाला दिमाग नहीं था। मैं नहीं चाहती थी कि एक अच्छा-खासा प्रतिभाशाली लड़का भटक जाय।

इसीलिए संवेदनशील सम्भावनाओं को नज़रअंदाज करते हुए मैंने उसे अपने पास आने दिया था और थोड़ा-बहुत समय मैं उसके साथ बिता लेती थी।

कभी-कभी वह छोटे बच्चे की तरह आकर मेरी आंखों के पपोटे छू लेता जिसका मैं बुरा नहीं मानती थी।

मैं इन हरकतों में कोई गंदगी नहीं देख पाती थी। मेरा व्यावहारिक ज्ञान इतना तीव्र नहीं था कि चिंदी की बिंदी निकाल कर उसमें किसी प्रकार का लोकोपवाद ढूंढ़ती।

कन्नू दुनिया के लिए किशोरावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश कर रहा था लेकिन मेरे लिए तो वह बच्चा मेरे भतीजे-भांजों की तरह था।

मेरे श्वसुर यह संबंध स्वीकार नहीं कर पाए। क्या बात उन्हें अखरी यह तो वही जानें, कि मेरी सौतेली सास ने उन्हें भड़काया, मुझे नहीं मालूम...इतना तय था कि मैं किसी को इतनी बड़ी गलतफहमी पालने का अधिकार नहीं दे सकती थी और अगर कोई छीन कर यह अधिकार लेने लगे तो मुझे उनका विरोध भी करना था।

मैं अपने श्वसुर को स्वयं ही सब कुछ सिलसिलेवार बता देना चाहती थी। क्योंकि मै इसका महत्त्व समझ गई थी और मैं अपने परिवार मे किसी तरह की विशृंखलता नहीं चाहती थी। लेकिन मैं तो सोचती ही रह गई और मेरे श्वसुर जी मेरी मां तक शिकायतनामा लेकर पहुंच गए।

मैं जानती थी कन्नू के घर सब कुछ सामान्य नहीं था और घर की असामान्यता बनाए रखने में मेरी सौतेली सास का सबसे बड़ा हाथ था। हालांकि मेरे ससुर भी उनके स्वभाव से परिचित थे फिर एक ही बात तरह-तरह से बार-बार सुनने के बाद किसी का दिमाग विषाक्त हो ही जा सकता है। और जब वह असहज हो जाते तो मेरी मृदुभाषिणी सौतेली सासुजी अपने पति को असहजता की जकड़न से मुक्त करने के असफल प्रयास में लग जातीं। इसमें उन्हें सफलता बहुत हद कम मिलती थी लेकिन वह अपनी आदत से मजबूर थी। अतः किसी असफलता से सबक़ लेकर आगे उसकी आवृत्ति न करना उनके स्वभाव में था ही नहीं।

इस प्रक्रिया में उनकी उत्तेजना किसी भी समझ के परे पहुंच जाया करती। छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर उनके दिमाग पर कीलें ठुकने लगती थीं।

मेरी सास उनसे एक तरह से भयभीत ही रहतीं कि पता नहीं कब कौन-सा बबाल वह खड़ा कर दें और घर का सुख-संसार मिट्टी में मिलने लगे। उन्हें अपने

घर की सुख-शांति प्रिय थी इसलिए बड़े परहेज से पारिवारिक मसलों में आगे बढ़तीं...उधर मेरी सौतेली सास प्रलय की सीमा तक उछल कर मेरा सारा संसार नष्ट कर देना चाहती थीं।

कन्नू उनका एकमात्र बेटा था। अपने पिता से इतनी दूर था कि पिता उसे बहुत कम जान पाते और यह श्रेय मेरी सौतेली सास को ही था।

मेरे श्वसुर कन्नू से कटे-कटे बेशक रहते थे पर उसे प्यार कम नहीं करते थे। अपने दोनों घरों के बीच उन्होंने कमाल का संतुलन बना कर रखा था।

मैं जब ब्याह कर नई-नई आई तो मेरी सौतेली सास ने बड़ा प्यार जताया। ऊपर-ऊपर से ऐसी दिखाई पड़ीं कि सही-गलत की पहचान बिगड़ गई। लेकिन थोड़े ही दिनों में हमारे परिवार की सुख-सम्पन्नता देख कर जहर के बीज उनमें फूटने लगे...शायद इसीलिए उन्होंने इस अजीब, घिनौनी, अनहोनी कथा का बचकाना निर्माण कर लिया और अपने ही फैलाए हुए जाल में फंसती चली गईं।

कन्नू के मामले में मेरे श्वसुर जी किसी सत्य से आश्वस्त होने के लिए तैयार नहीं थे।

मेरे पति को बुला कर न जाने कैसी उल्टी-सीधी, खरी-खोटी बातें उन्होंने कहीं। दिखाने के लिए मेरे पति उदास-उद्विग्न भी हुए लेकिन अपने पिता की बेहतर पहचान उन्हें थी इसलिए विवेक साथ रहा। अपना संतुलन संभाले रहे, पिता की बेहूदी बातें भी शांति-स्थिरता से सहते रहे।

एक तरफ संशय सर्पों से बिद्ध अंधकार के सर्पगुंजल्कों से लिपटे हुए पिता और दूसरी ओर दर्दीले जमीर और प्रेम से जख्मी पर नारियल के आंतरिक भाग की तरह पवित्र, उज्ज्वल उसका हृदय।

वह भी बिना अपराध के यातना की सलीब पर टांक दिया गया।

और मैं, सदा से ही निर्भय...बेलाग। अपने अहं की कीलियों पर मजबूती से जड़ी हुई लकड़ी थी।

अरुणाभ ने संशय का एक शब्द भी कहा होता तो मैं अपने घर जाने वाले चौराहे पर खड़ी थी। मेरी सास, ननद-ननदोई मेरे साथ थे। वैसे मैं किसी के साथ या सहारे की मोहताज नहीं थी, यह एक नितांत अलग बात है।

ससुर जी के अंदर ठहराव होना चाहिए था, लेकिन वह भागे-भागे फिर रहे थे।

अपने संशयों के कुलबुलाते सत्यों के नीचे उनकी आत्मा दब गई थी...

मेरे श्वसुर ने कितनी खिसियानी बवालें पाल रखी थीं। एक लड़की भी उन्होंने बचपन से पाली थी जो सिर चढ़ी कही जाती थी, पर किसी जमाने में वह उनके कंधों पर ही सवार रहा करती थी।

श्वसुर जी कन्नू से उसका ब्याह करने की योजना बना रहे थे और कन्नू को इस बात का आभास हो गया था। शायद इसीलिए वह अपना घर छोड़ कर भागा-भागा फिरने लगा था, और मेरे घर की पनाह में उसने राहत महसूस किया था।

पिता के लिए आदर-सम्मान की जगह एक घिनौनी चिढ़ उसमें पैदा होती जा रही थी :

'अगर वह लड़की उन्हें इतनी पंसद है तो खुद अपना एक और ब्याह क्यों नही कर लेते कि मुझ पर उसे थोपने का चक्कर चला रहे हैं। मुझे वह बिलकुल अच्छी नहीं लगती।' एक दिन कन्नू ने मेरे सामने अपना विरोध जाहिर कर दिया था।

मैंने कन्नू को बहुत समझाया-बुझाया। नसीहतें दे डालीं कि बड़ों के लिए ऐसा नहीं कहते। उसके साथ कैरम खेलती रही और जैसे-तैसे वह नॉर्मल हो भी गया।

लेकिन यह कोई स्थायी समाधान तो नहीं हो सकता था। फिर भी दिन तो बीतते ही रहे।

कन्नू के पिताश्री यानी मेरे श्वसुर के कान में यह भर दिया गया कि इस शादी से कन्नू के इनकार का कारण मैं ही हूं। मैं नहीं चाहती थी कि उस लड़की की शादी कन्नू से हो। जबकि मैंने उस लड़की को ठीक से देखा भी नहीं था और वैसे भी मुझे कुछ लेना-देना नहीं था उससे।

लेकिन पिताश्री तो जल्लाद बन ही गए थे। उनकी लम्बी देहयष्टि सदैव किसी तनाव से ग्रस्त रहने लगी थी।

खाना-पीना, अपना दैनन्दिन जीवन छोड़ कर अपने सत्य को साबित करने के लिए सबूतें इकट्ठी करने में षड्यंत्रों की रचना करते ही चले गए। चेहरा धधकते अंगारों की तरह सुलगने लगा था।

दोस्तों के यहां आना-जाना, नाते-रिश्तेदारों से आचार-व्यवहार सारे ही बंद हो गए थे। भगवान से जुड़ पाना भी उन्हें मुश्किल लगने लगा था।

चारों ओर एक खास तरह की दहशत फैला कर खुद भी उसी में दग्ध रहने लगे थे।

लेकिन उस बेहूदी घटना के बाद मैंने अपना कोई क्रिया-कलाप बंद नहीं किया। मेरा मायके आना-जाना पहले की तरह ही चलता रहा। जब मन करता मां के घर

हो आती, जितनी देर रुकना होता रुकती, फिर चली आती।

बेशक, कन्नू के साथ बाहर जाने पर रोक लग गई और हमने इस बात का बुरा भी नहीं माना क्योंकि जाती मैं उसी की जिद पर थी और कभी-कभी उतना वक्त ज़ाया होने का मुझे अफसोस भी होता।

कन्नू जरूर मारा गया। मां की बनाई हुई कैद में सजा काटने के लिए विवश था बिना किसी क़सूर। और उसकी मां? मनोद्वेगों की जलन ने धीरे-धीरे उन्हें पागलपन की सीमा तक ले जाकर छोड़ दिया था। धीरे-धीरे उन्माद, उद्वेग, पागलपन उनका अपना एक हिस्सा बनता जा रहा था। और उन्हें इस भुतहे, काले, विकराल सायों की दहशत से कोई बचा नहीं सकता था।

वह समझती थीं, मैंने उनके एकमात्र पुत्र को उनसे छीन लिया है। उसका ब्रह्मचर्य नष्ट कर दिया है। उसे ऐसे दोजख में डाल दिया है कि वहां से उसका उबरना असफल है।

मुझे उनकी परवाह तो नहीं थी, क्योंकि मुझ पर उनके सारे आरोप वेबुनियाद थे। लेकिन अपनी मां की चिंता मुझे थी, क्योंकि मुझ पर पूरा भरोसा होने के बावजूद इस मसले को ठीक से न समझ सकने के कारण वह परेशान थीं।

मेरी मां ने इस विषय में मुझसे न कुछ पूछा न अपनी ओर से ही कुछ कहा।

अपने बेटों के प्रति उनके पक्षपाती स्वभाव के कारण मेरी बहस अक्सर उनसे हो जाती थी और यह सिलसिला शादी के बाद भी चलता ही रहा। कभी-कभी यह बहस वाकयुद्ध का रूप धारण कर लेती।

इन्हीं बहसों, वाकयुद्धों में प्रकारांतर से कन्नू का जिक्र दो-चार बार आया लेकिन मैंने ध्यान नहीं दिया। मैं चाहती थी जो भी कहना या पूछना हो मां स्पष्ट रूप में कहें या पूछें। लेकिन मैं जानती थी मां ऐसा कभी नहीं करेंगी क्योंकि बातें सिर्फ ऊपर-ऊपर थीं, निराधर। और किसी बात की तह तक पहुंच कर आधार ढूंढ़ने का स्वभाव मेरी मां का नहीं था। फिर यह बात तो चाकचौबंद निराधार थी।

मेरी मां तो किसी का मुकाबला करने से भी इतना डरती थीं। कभी कोई ऐसा मौका आता तो हमीं लोग उनकी ढाल-तलवार बन कर उन्हें पीछे ढकेल सामने का मोर्चा संभालते थे।

मेरी मां आज की दुनिया के लिए बहुत कच्ची हैं इसीलिए तमाम जिंदगी असफलताओं से घिरी रहीं और अपना प्राप्य भी हासिल नहीं कर पाईं।

खुले आंगन में आकर आसमान को निहारने की जगह आसमानी सपने देखना उन्हें कहीं अधिक पसंद था। कठोर सत्य का सामना करने से हमेशा वह कतराती रहीं और इसीलिए हमारा घर अनेक उल्टी-सीधी धाराओं में बंट कर घर की जगह एक मुसाफिरखाना बन गया या सराय भी कह सकते हैं उसे।

अपनी आंखों के सामने ही बहकती हुई परम्पराओं को हम देख रहे थे। न

बड़ों की इज्जत, न बराबर वालों से सद्भाव, न छोटों के लिए प्यार...हमारे घर की बहुएं मां की कोई गिनती ही न कर पाती थीं और मां ने भी ऊपरी सम्पर्क उनसे तोड़ कर कुछ अच्छा नहीं किया था। रणछोड़ रीति धीरे-धीरे आपके पैरों के नीचे की जमीन भी निकाल लेती है। हालांकि बेटों से उन्हें अजहद प्यार रहा...बहुएं हमेशा पराई रहीं।

मेरी मां दरअस्ल अपनी सोच के साथ आधुनिक सोचों का समन्वय करने में नितात असफल रहीं।

शुरू-शुरू में बड़ी भाभी से उनका लगाव था। वह भी अब क्षत-विक्षत होने लगा था...

बड़ी भाभी अक्सर बीमार रहने लगी थीं। मेरे भाई से उनके संबंध 'ना' के बराबर ही था। एक बार इस तरह की स्थिति में तलाक हो जाय तो आदमी मुक्ति महसूस करता है लेकिन तलाक न होकर भी तलाक की स्थिति में रहना कठिन ही नहीं असम्भव जैसा ही रहता है।

मां के कारण ही पहले भाभी ने घर नहीं छोड़ा वरना मायके रवाना हो गई होती। बाद में बच्चा हुआ, फिर वह बड़ा भी होने लगा। उसके हक़ से उसे वंचित करना कोई समझदारी की बात तो न होती। और अगर बेटे को लेकर चली जातीं तो उनके अपने खानदान के लिए भी बात, बदनामी का बायस बनती। लोगों को चिमगोइयां करने का मसाला मिलता।

भाभी के टिके रहने का एक कारण हम सबका उनसे आपसी प्यार भी था...

अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद मेरे स्नेहपाश में वह ऐसी बंधीं कि हम दो सगी बहनों से भी अधिक हो गईं।

भाभी का आदर अरुणाभ भी बहुत करते थे और मेरे दोनों बच्चों की तो वह प्राण ही थीं।

मुझे नहीं मालूम मेरे घर के दूसरे सदस्य हमारे लगाव के बारे में क्या सोचते थे, या घर से इतर प्राणियों में हमारे बारे में क्या चर्चा होती थी, मुझे इसकी परवाह भी नहीं थी।

बेशक, मैं जानती थी कि मेरी मां हमारे आपसी लगाव से संतुष्ट थीं क्योंकि उनकी लाड़ली बहू को एक सशक्त भावात्मक आश्रय हममें मिल गया था।

भाभी की शारीरिक-मानसिक पीड़ाओं को कम करने का मैं भरसक प्रयत्न करती। उन पीड़ाओं की कहानी बड़ी लम्बी है। यहां उनके बारे में कुछ कहना या अपनी राय जाहिर करना उचित भी नहीं और यहां स्थान भी नहीं।

घर में तीसरी बहू के आते ही बहुत कुछ खल्त-मल्त हुआ। मां के अपने अस्तित्व को ऐसा धक्का लगा कि उनके भीतर सोच की एक लम्बी सुरंग बनती चली गई। अनेक नए रोगों ने जन्म लिया। पहले से पलती आ रही रुग्णता उचित खाद्य पाकर पनपी, समृद्ध हुई।

और इस प्रक्रिया में मां के साथ जिए हुए प्यार के पल भी अपना अर्थ बदल बैठे। व्यक्तियों की आपसी दूरियां बढ़ती चली गईं।

सूखी धरती पर बरसी पीयूष की बूंदें सूखती चली गईं। धरती की सोंधी खुशबू की अनुभूति जहर के अर्णव में डुबकी लगा आत्महत्या कर गई।

कल्पना से निःसृत वास्तविकता की कड़वाहट से उनकी देह के सभी जायके बिगड़ गए।

नियति के नियमों को तोड़ कर चंद सवाल उनके सामने आकर खड़े हो गए।

सोची हुई, सुनी हुई बातों का सामना करने की ताक़त मां में पहले ही नहीं थी। अब, यात्रा पर जाने के मां के विचार ने भी उन्हें निर्विचार ही रखा।

मन, शरीर से छिटकता ही चला गया। मां के नारी सुलभ सारे गुण, मां की ममता, घर-परिवार की जिम्मेदारियो के बोझ तले दब कर चूर-चूर होती दीखने लगी।

मां अपनी जगह से पूरी तरह उखड़ती चली गईं। कहने के लिए मैं मां से रोज मिलती थी, लेकिन उस मुलाक़ात का मतलब उनके लिए कुछ था, ऐसा मै नहीं समझती।

हमारा घर, एक नई, पर सड़ी-गली राजनीति का अखाड़ा बन गया था। किसी का किसी से कोई सरोकार नहीं रह गया था। नियति की मुट्ठी मे सभी के धागे दबे थे, कठपुतलियों की तरह और सभी उसीके इशारे पर नाच रहे थे।

मेरे जीवन का एक एपिसोड समाप्त हो गया। मेरे श्वसुरजी का देहांत हो गया।

अरुणाभ एक बहुत बड़ी सम्पत्ति के स्वामी बन गए। हालांकि मुझे उस धन से कोई लगाव नहीं था क्योंकि मेरे पति अपने परिश्रम से ही सड़क पर चलते-चलते ऊपर आसमान में बहुत ऊंचाई तक पहुंच गए थे।

अरुणाभ ने एक नया मकान बनवाया।

मेरा मन निरावेग था शांत झील की तरह। मेरी चंचल वृत्तियां किसी कुंआरे जंगल की ओट में जाकर ठहर गई थीं।

जिंदगी की धूप-छांव हम दोनों ने बांट कर झेला था।

मेरे मन में किसी प्रकार की घबराहट, अनिश्चय या ऊहापोह नहीं रह गया था। एक संजीदगी ने आकर मुझ पर अपना आधिपत्य जमा लिया था और मैं हर क्षण की अनुभूति को आत्मसात करने की कला में पारंगत होती जा रही थी।

मुझे सबसे अधिक संतोषप्रद लगता है अपने संगमरमरी टेरेस पर बैठ कर गत-विगत की परछाइयों को देखना, उन्हें ग्रहण करना...

अरुणाभ के आने-जाने के समय पर मैंने कभी कोई टिप्पणी नहीं की। समय पर आ गए तो ठीक, नहीं आ सके तो मैं उनका इंतजार करती। इस इतजार का भी अपना एक सुख था।

मैं से अब दो बच्चों की मां होने के बावजूद मां उतनी ही जुडी हू जितना पंछी के हृदय से उसका पंख। मा आखिर मां होती है। उससे न जुड़ने की बात कोई सोच भी कैसे सकता है। और भाई, वो भी मां जाए हैं इसलिए कट कर अलग हो नहीं सकते।

अप्रत्याशित रूप से मैं वहां चली जाती हूं। भरे हुए घर का उजाड़ होता माहौल देखती-परखती हू। कभी उद्विग्न भी हो जाती हूं लेकिन किसी की सलाह से खुद को प्रभावित नही होने देती।

मां के अनेक रूप मैने देखे है। कई अच्छे लगे हैं कई नापसंद भी रहे हैं लेकिन उनका अंत की ओर जाने वाला रूप मुझे बहुत पीडा पहुंचाता है।

घर की समस्याए अधेरे की तरह सघन हो गई हैं...

दीदी अपने ससुराल से वापस आ गई हैं। उनके पति ने अपनी वसीयत से उन्हे काई की तरह छाट कर अलग कर दिया है। अपने दो बच्चों में से एक को ही सारी सम्पत्ति का वारिस बना कर उन्होने कोई न्यायोचित काम नहीं किया।

मैं आज भी यह बात पचा नहीं सकती कि कोई बाप इतना पक्षपात कर सकता है। मा कैसी भी हो, उसकी सजा उसके संतान को तो नहीं दी जा सकती। स्त्री के मन की नींव पर आग लगा कर अपने ओछेपन की उजागरी करने वाला पुरुष...क्या कहूं मै उसके लिए...

सोचती हूं, दीदी को चाहिए था आमने-सामने बैठ अपने पति कहलाने वाले पुरुष से खुल कर बात करलीं। अपने लिए नही तो अपने उपेक्षित दूसरे बच्चे के लिए जिसे पिता ने नकार दिया था। पर उनकी हिम्मत तो देखती हूं पहले ही मर चुकी है...

सोच के इस जगह पहुचते ही सारे वातावरण पर ताले लग जाते हैं। प्यार के सारे अस्वाभाविक हवालो पर कयामत बरस जाती है।

दुनिया-समाज के सारे रिश्ते कैसे बदरग होते जा रहे हैं। जीवन के साथ रिश्तों का पोस्टमार्टम करने बैठती हूं तो तरह-तरह की छवियां आंखों में झूल जाती हैं, कभी मौसी की, कभी भाभी की...कभी पड़ोसिनें आकर खड़ी हो जाती हैं...अपनी सलाह और सहानुभूति को हथेलियों पर रखे, एक न सुहाने वाली उष्णता छोड़ जाती हैं घर में...

जब भी मौका मिले, दीदी को समझाती हूं। चिंता छोड़ने को कहती हूं। उनके

बेटे को ममता के आवेग में अपनी बांहों में ऐसे छिपा लेती हूं जैसे कृपण अपनी सम्पत्ति को छिपा लेता है।

भाई भी कहते हैं :

'बहन और उसके बच्चे के लिए मैं करूंगा सब कुछ जिन पर उनका हक़ है। सम्भव-असम्भव सभी स्थितियों को संभाल लूंगा...

लेकिन इस तरह का समाधान हो जाना, उठते हुए प्रश्नों के उत्तर तो नही हो सकते।

और इस तरह के उद्गारों का संबंध भावुकता से होता है। भाई कौन तीसमार खां थे। बड़े की तो बात करना ही बेकार था। दूसरा कुछ कर सकता था लेकिन उसकी भी अपनी जिम्मेदारियां थीं—बीवी-बच्चे थे।

स्त्रियों में ममता का आधिक्य जितना होता है उदारता उतनी ही कम हो जाती है। पत्नी चाहती है, उसका उस पर और उसके माध्यम से अपने बच्चों पर ही ध्यान केंद्रित रखे। दूसरे भाई की पत्नी भी कोई अपवाद नहीं थी...उसके आगे भाई का प्रभाव निस्तेज होते अक्सर मैंने देखा था।

तीसरा भाई अपना पूरा अस्तित्व ही पत्नी को समर्पित कर चुका था। उसकी सोच-संकल्पों, उसके दृष्टिकोण और दैनन्दिन व्यवहार की मलिका भी वही उसकी पत्नी थी। मां-बहन, भाई और दूसरे सभी रिश्तों को उसी की भ्रमित आंखों से देखना भाई ने शुरू कर दिया था। किसी की हिम्मत ही नहीं थी कि कोई उसकी ओर अगुली भी उठाए।

यह मेरा तीसरा भाई धीरे-धीरे हमारे घर परिवार, समाज और अन्य नाते-रिश्ते से भी दूर पड़ता जा रहा था।

अपना गम गलत करने या दर्दों को जीतने के लिए अकेले ही पीना सीख गया था। उसके घर को बचाने के लिए यही एकमात्र उपाय था कि उसकी सारी उपेक्षाएं झेल ली जाएं। उसकी बीवी कई बार घर छोड़ कर जाने की धमकियां दे चुकी थी। भाई के मन में घर-परिवार वालों के लिए अगर कुछ नर्मी बची थी तो वह अंदर ही घुट जाने वाली थी क्योंकि मेरा भाई अपनी पत्नी से मुक्त होना नहीं चाहता था।

उसके बाद मां के लिए एक ही विकल्प बचा था, कि वह औपचारिक रूप से सबको अलग कर दें, जो शायद उनके वश में था ही नहीं। और इसके भी कारण थे।

हमारे परिवार की चल-अचल सम्पत्ति में इतनी उलझनें थीं कि उन्हें सुलटाते हुए जाने कितनी पीढ़ियां बीत जानी थीं।

और मां का कमजोर मन इस मुद्दे को हाथ में लेने के योग्य ही नहीं था।

सभी जानते थे हमारी मां संयुक्त परिवार की कट्टर पक्षधर हैं। सब तरफ से

अपने आपको समेटने के बावजूद अलग होने की बात उन्हें इतना उद्वेलित करती है कि बात सीधे उनके स्वास्थ्य पर आ जाती है।

दर्द मेरी मां का दुराग्रह है। अपने ममत्व की कमजोरी के कारण ही वह चुप होकर इतने दिन ठहरी रहीं फिर तीर्थ यात्रा पर निकल गईं।

जितने दिन भी घर से बाहर रहें, वापस तो उन्हें आना ही है। शायद हम सभी यह बात जानते हैं इसलिए उनके जाने से कोई अधीर नहीं हुआ।

बेशक, उनकी कमी सभी महसूस कर रहे हैं लेकिन सबको पता है वह वापस आएंगी।

मैं भी जानती हूं कि वह आएंगी क्योंकि स्वतत्र सोच की धनी होने के बावजूद वह उम्र भर किसी न किसी पर आश्रित रही है, भले ही अपने तीन बेटों को तीन राहों पर खड़ा देखना उनके लिए हृदय विदारक है। तीनों को एक नज़र से देखना भी उनके लिए कितना कठिन है।

मां सबको एक ही झण्डे में समाहित करना चाहती हैं जो असम्भव है। कितना अंधेरा है मेरी मां की आंखों के सामने, यह सोच कर मेरा कलेजा फटने लगता है लेकिन मेरी मां उसी को समेट कर अपने अंदर धारण करने का प्रयास करती हैं और यह भी जानती हैं कि उनसे कुछ हो नहीं पाएगा।

अकेलापन मेरी मां को खाने दौडता है क्योंकि वहां अपने आपसे मिलती हैं वह और चौंक-चौंक जाती हैं। कितनी कही-अनकही कहानियां वहां कुलबुलाती हैं, सच पछाड़ें खाता है और वह सहारे के लिए इधर-उधर हाथ फैलाती हैं, अंधकार में स्मृतियों से टकराती हैं, लहूलुहान होती हैं।

इस कारागार से उन्हें मुक्त कराने के लिए किसी कृष्ण को ही अवतरित्त होना पड़ेगा...लेकिन अब, शायद उसके लिए भी देर हो चुकी है...

कैसे करें वह फैसला...कैसे चिनवा दें हवेली में अलग-अलग ऊंची दीवारें...कैसे अलग कर द अपने जिस्म से काट-काट कर अपने अलग-अलग अंग...

कितना समय तो यही सोच-सोच कर गुजार दिया कि भाई से अलग होने की बात एक भाई कैसे सोच सकता है। यह मामला इतना खिंचा कि उनकी इच्छा-अनिच्छा के बीच एक लम्बा रेगिस्तान उग आया।

कहने वाले बार-बार आकर कहते रहे :

'सबको अलग करो...अपना-अपना प्राप्य उन्हें खुदा को हाज़िर-नाज़िर जान कर बांट दो...अड़ियल घोड़े की तरह अपनी बात पर अड़ी रहीं तो लाभ की बजाय हानि होने की सम्भावना बढ़ती जाएगी...'

ऐसे हर मौक़ों पर भाभी को सम्बोधित करते हुए वह एक ही बात कहतीं :

• ‘मेरे मरने के बाद सब कुछ ऐसा ही हो जाएगा।’

उनकी इस बात का जवाब आज तक किसी ने नहीं दिया लेकिन यह सच है कि अपने-अपने ढंग से हम सभी भाई-बहन मां को सुखी देखना चाहते हैं और वह सुखों से दूर भागती हैं जैसे उनकी जन्म-जन्म की दुश्मनी हो सुखों से...

और उसी सुख की खोज में शायद तीर्थ यात्रा पर निकल पड़ी हैं...

आप ही सोचिए सुख क्या पहाड की कंदराओं में है। सारा सुख-दुख तो आदमी के अपने दिमाग की परतों में छिपा है और उन परतों को हटाने के लिए आत्म-साक्षात्कार जरूरी है जो यहां, इस हवेली के अंधकार में बेहतर हो सकता है।